छठवाँ दशक

लेखक

विजयदेवनारायण साही

प्रथम संस्करण : १९८७

मूल्य : रु० ८०/-

आवरण-सज्जा :

डॉ० जगदीश गुप्त

श्री शिवगोविन्द पाण्डेय

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

मुद्रक : सरयूप्रसाद पाण्डेय

नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद

लार्डशिप

आपके तेजस्वी जामाता

सौरभ

और लाड़ली बिटिया

सुस्मिता

को दे रही हूँ

आपका यह "छठवाँ दशक"

और

आपके ये आशीर्वचन

केजी

एक और चमन आबाद हुआ इक [illegible] पर आबाद हुआ

एक और खुले आकाश तले हम सबको दुआ मंडरायेगी

इस मोड़ पे हम क्या दें तुमको अलफ़ाज़े खुलूस इसके सिवा

ले जाओ हमारी वुसअते दिल दौलत न इसे छू पायेगी

हम होंगे न होंगे मंज़िल तक पर वुसअते दिल हमराह रहे

जाओगे जहाँ तक उड़के [illegible] आवाज़ हमारी जायेगी

आशीर्वाद के साथ

[illegible]
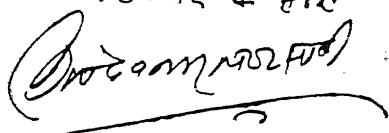
प्रकाशकीय

श्री विजयदेवनारायण साही कवि के अतिरिक्त समीक्षक रूप में भी पर्याप्त यश प्राप्त कर चुके हैं। 'जायसी' नामक उनकी कृति को प्रकाशित करने का सौभाग्य हिन्दुस्तानी एकेडेमी को मिला है, इसे व्यापक ख्याति प्राप्त हुई है। किसी एक कवि पर केन्द्रित आलोचना के क्षेत्र में उनकी मौलिक दृष्टि का परिचय जैसे हमें मिला है, वैसे ही इस दूसरी कृति से भी मिलेगा—–ऐसा हमें विश्वास है। उनकी चिन्तनधारा सामान्य समीक्षकों से भिन्न किसी दृष्टि की परिचायक रही है। नई कविता के संपादन-क्रम में लघुमानव के बहाने आज की हिन्दी कविता पर की बहस पर उन्होंने जो मुद्दे उठाये, वे आज भी नये चिन्तन की प्रेरणा देते हैं। साहित्य और राजनीति, साहित्य में गतिरोध, साहित्यकार और उसका परिवेश जैसे निबन्ध उनकी साहित्य-सम्बन्धी वैचारिकता का स्पष्ट द्योतन करते हैं। 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति' के साथ 'जनवादी साहित्य' सम्बन्धी दोनों लेख उस समय के वैचारिक संघर्ष का परिचय देते हैं जब परिमल का विद्रोह प्रगतिशीलता को प्रश्नांकित कर रहा था। एक गंभीर चिन्तक के रूप में साही जी न केवल अपने समर्थकों को प्रभावित करते थे, वरन् विरोधी भी लोहा मानते थे। जो प्रश्न उन्होंने उठाये हैं, वे आज भी हमें नये समाधान की प्रेरणा देते हैं। 'नितान्त समसामयिकता का नैतिक दायित्व' जैसे लेख 'समकालीन दायित्व' के नैतिक पक्ष को सामने रखते हैं। इन लेखों में **'काव्यधारा : एक युयुत्सु समीक्षा'** तथा **'हाथों में टूटी तलवारों की मूठ'** जिन सन्दर्भ में लिखे गये हैं, उनकी यथार्थता संदर्भों से जोड़कर प्रकट होती है। जिन्हें उन संदर्भों का प्रत्यक्ष ज्ञान है, वे तो उन्हें निजी दृष्टि से देखेंगे ही, पर जिन्हें वे सन्दर्भ ज्ञात नहीं हैं, वे भी उनकी महत्ता स्वीकार करेंगे।

साही जी सिद्धान्तों के अनुसरण में आस्था रखने से अधिक सिद्धान्तों की खोज में विश्वास रखते थे। क्योंकि नये सिद्धान्त नई वैचारिक भूमिका से ही उपजते हैं। पुराने सिद्धान्तों का विश्लेषण उन्हें ग्राह्य नहीं था, पर वे उनकी सही समझ के क़ायल थे।

साही जी मेरे साथ नई कविता का सम्पादन करते रहे, यह उनका एक पक्ष है। वे धर्मवीर भारती, डॉ० रघुवंश, डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के साथ '**आलोचना**' का भी सम्पादन करते रहे, यह वर्तमान पुस्तक के लिए और अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पुस्तक कविता ही नहीं, समस्त साहित्यिक विधाओं और आधुनिक साहित्य-चिन्तन को एक दिशा देती है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य में समुचित स्थान पायेगी।

जगदीश गुप्त
सचिव

भूमिका

'छठवाँ दशक' १९६६ में प्रकाशनार्थ तैयार था और भूमिका भी साही जी लिख रहे थे। नवम्बर ५, १९८२ तक साही जी अपने पार्थिव शरीर में थे। फिर इन सोलह वर्षों तक 'छठवाँ दशक' अप्रकाशित क्यों रहा, इसे समझने के लिए साही जी का स्वभाव जानना ज़रूरी है। अपनी प्रथम और जीवनकाल में प्रकाशित एकमात्र पुस्तक 'मछली घर' (१९६५) की भूमिका में साही जी ने कहा था—

'पुस्तक प्रकाशित करने में मैं अब तक बड़ा संकोची रहा हूँ। मनोविज्ञान की भाषा में शायद यह भी कोई मनोग्रंथि हो। मेरे लिए तो इसके पीछे कुछ तो काहिली और कुछ साहित्य के प्रति अतिरिक्त आदर-भावना ही थी। इस संग्रह की मुद्रण-प्रति तैयार करने में मुझे कई बार अपने स्वभाव से संघर्ष करना पड़ा है।'

'मछली घर' का प्रकाशन अगर सम्भव हुआ तो उसके पीछे एक कथा थी। इलाहाबाद में विवेचना की गोष्ठी में साही जी की स्पष्टवादिता से नाराज़ होकर पंतजी ने भारती-भण्डार से अपना काव्यसंग्रह वापस ले लिया था। तब साही जी के बुज़ुर्ग मित्र श्री वाचस्पति पाठक ने उनसे कहा कि अब उनका धर्म है कि उनके कर्म से भारती भण्डार की जो क्षति हुई है, उसे वह अपना एक काव्यसंग्रह देकर पूरा करें। साही जी की निर्द्वन्द्व 'काहिली' को यह गले पड़ रहा ढोल बिल्कुल पसन्द नहीं आ रहा था। लेकिन पाठक जी ने जिस तरह से बात रखी, उसमें बहुत ढूँढ़ने पर भी निकल भागने के लिए कोई चोर दरवाज़ा नहीं मिला और 'तीसरा-सप्तक' के बाद की अपनी कुछ कविताएँ उन्होंने भारती-भण्डार को प्रकाशनार्थ दे दीं। फिर अगस्त की पहली, दूसरी तारीख़ों को क्रमशः 'वसुधारा' और 'नतीजे ख़रीते लुब्बेलुबाब' तथा ७ अगस्त को सात सूक्ष्मकलेवर कविताएँ, 'बन्द इमारत की आवाज़', 'सिर्फ़ आलोक नहीं', 'अभी कुछ होगा', 'समुद्र', 'शायद अनगिनत किरनें' 'चौकन्ना जंगल', 'सुनसान शहर' लिखकर दीं। डॉ० जगदीश गुप्त के एक चित्र में से चिड़िया हटाकर मछली डालकर आवरण-पृष्ठ का चित्र बना। तो 'मछली घर' १९६५ में ऐसे प्रकाशित हुई।

'छठवाँ दशक' के प्रकाशन में साही जी का स्वभाव विजयी हो गया और चक्का चलते-चलते रुक गया। 'मछली घर' की तरह की कोई 'वारदात' घटित नहीं हुई जो रुके हुए चक्के को गति प्रदान करती। मित्रों का कोंचना नाकाफ़ी सिद्ध हुआ। क्यों नहीं छपवाते—यह पूछने पर वे कहते—क्यों छपवाऊँ? किसके लिए छपवाऊँ?' साही जी के सवाल अब भी गूँज रहे हैं। क्या कहूँ कि कौन अनिवार्यता मुझे प्रकाशन के लिए बाध्य कर रही है। शायद यही भाव है कि जैसे उनके पार्थिव शरीर के बच्चों को उनके जीवन-साथियों को सौंप दिया, उसी तरह से उनके सूक्ष्म शरीर के बच्चे हैं ये निबंध; इन्हें भी इनके साथियों को सौंप दूँ, ताकि इन्हें पूर्णता मिले। बस।

इलाहाबाद
८ सितम्बर, १९८७

कंचन लता साही

इन लेखों के बारे में

इन लेखों को लिखे हुए काफ़ी अर्सा गुज़र गया। इनमें से पहला लेख तो १६५० में लिखा गया और सबसे बाद वाला १६६४ में। कुल मिला कर इन लेखों में हिन्दी के छठवें दशक की ही आत्मा है : आज इतने दिनों बाद इन्हें पुस्तकाकार इकट्ठा करते समय कुछ-कुछ गुज़रे हुए इतिहास का धूसर स्वाद ज़रूर आ रहा है। यों यह ख़्याल करता हूँ कि आज के लेखकों और पाठकों के लिए इनमें कुछ दिलचस्पी की चीज़ें होंगी।

साहित्यिक वाद-विवाद औरों को चाहे जितना फ़िज़ूल लगे, लेखक के लिए तो हमेशा आकर्षक, और कभी-कभी तो ज़िन्दगी और मौत के सवाल की तरह लगता है। साहित्य की गति और दिशाओं में परिवर्तन किन-किन बहावों की बाढ़ लेकर आता है और किन-किन घुमावों से रास्ता निकालता है, इसकी जानकारी अक्सर 'उपलब्धियों' के माध्यम से ही साहित्यिक इतिहास को क़रीने से सजाने वालों के हाथ से निकल जाती है। अब लोगों की दिलचस्पी उन कुहराम वाली भट्ठियों में ज़्यादा हो गयी है जिसमें साहित्य का कच्चा माल साँचों में ढालने के पहले पिघलाया जाता है। चूँकि 'छठवें दशक' के पिघलाने वाले ताप में ये लेख लिखे गये थे, इसलिए इनमें उस वक्त की गर्मी मौजूद है। आज जब दिमाग़ का बुख़ार कुछ-कुछ थम गया है, या उन विषयों पर ठीक उसी तरह का बुख़ार नहीं रह गया है, तो इन लेखों में कई जगह तबदीली की गुंजायश दिखती है। लेकिन संशोधन-परिवर्तन करने से इन लेखों का एकापन समाप्त हो जायगा। इसी ख़याल से इन्हें उसी तरह दे रहा हूँ जिस तरह वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पहली बार छपे थे। इस इतिहास-सम्मत तर्क को देने का मतलब यह नहीं है कि आज मैं इनमें निहित विचारों या भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की ज़िम्मेदारी से बचना चाहता हूँ। कुल मिलाकर, इनमें कही हुई बातें अब भी मेरी हैं और आज भी मुझे मूलतः सही मालूम पड़ती हैं। एक हद तक मुझे यह भी लगता है कि आज के साहित्यिक परिवेश में भी इन विचारों की संगति है।

'छठवें दशक' ने साहित्यिक प्रवाह में क्या भूमिका अदा की ? एक अर्थ में इतिहास का हर युग संक्रान्ति का युग होता है। लेकिन इस दशक की ख़ासियत यह थी कि इसके लेखक ज़ोर-शोर से अपने युग को संक्रान्ति का युग घोषित

करते फिरते थे। इस ज़माने के किसी वैचारिक लेख को उठाइये। अगर पहला ही वाक्य न हुआ तो बीच में कहीं न कहीं ज़रूर मिल जायगा 'हम संक्रान्ति के दौर से गुज़र रहे हैं…।' पुरानी आदत से मजबूर आज १६६६ में भी इक्के-दुक्के इस तरह की घोषणा मिल जायगी। मगर अब यह वाक्य हर लेखक की टेक नहीं रह गया है। यह ख़ास क़िस्म का आत्मज्ञान और आत्म-विज्ञापन 'छठवें दशक' की विशेषता है। यह 'संक्रान्ति' प्रगतिवादियों की 'क्रान्ति' से भिन्न है। परिवर्तन की लय की ही दृष्टि से नहीं, बल्कि इसलिए भी कि 'संक्रान्ति' में मूलतः जो दिमाग़ी बुख़ार त्वरित होता है, वह 'क्रान्ति' के सामाजिक आग्रह में नहीं है।………

(आगे नहीं लिखा गया)

—विजयदेवनारायण साही

अनुक्रम

राजनीति और साहित्य

कहा जाता है कि अरब शाहंशाहों में से एक विजय करता हुआ मिस्र के अलेक्ज़ेन्ड्रिया नगर में पहुँचा। वहाँ एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था जिसमें दुनिया की तत्कालीन और पुरानी बड़ी नायाब किताबें इकट्ठा थीं। बादशाह ने हुक्म दिया कि इस पुस्तकालय को जला डालो। उसके धर्मान्ध अनुयायियों को भी इस हुक्म को पूरा करने में एक बार हिचक हुई। उन्होंने बादशाह के सामने अदब से एक बार कुछ तर्क उपस्थित करने की कोशिश की। बादशाह ने अधिक जोरदार तर्क से उनका मुँह बन्द करते हुए कहा, "अगर इन किताबों में वे चीजें लिखी हैं जो कुरान से मेल नहीं खातीं तो निश्चय ही वे कुफ्र हैं और इसलिए जला डालने के काबिल हैं, और अगर इनकी बातें वही हैं जो कुरान में लिखी जा चुकी हैं तो ये सब किताबें फ़िज़ूल हैं और इनके जला डालने से कोई नुकसान न होगा।" अतएव अलेक्ज़ेन्ड्रिया का पुस्तकालय जला डाला गया।

हो सकता है कि उपर्युक्त घटना केवल कपोल-कल्पित हो। हो सकता है कि वह अलेक्ज़ेन्ड्रिया के पुस्तकालय के बारे में न होकर, नालन्दा या किसी अन्य पुस्तकालय के बारे में हो। बहस इससे नहीं है। यह कथा पुस्तकों और साहित्य के बारे में एक ऐसे दृष्टिकोण का प्रतीक है जो जीवन और सत्य की एक व्याख्या को मानने के बाद अपने कट्टर विश्वास में इतना अन्धा हो जाता है कि किसी अन्य दृष्टिकोण को एक क्षण के लिए भी बरदाश्त नहीं कर सकता। केवल इतना ही नहीं, इसमें सारे सामाजिक जीवन को केवल एक दर्शन और संस्था विशेष के ढाँचे में कसकर परिचालित करने का उत्कट उत्साह भी निहित है।

दुनिया की सभी सभ्यताओं में एक ऐसा युग रहा है जब उनके जीवन-दर्शन, नैतिक मूल्य, महत्वाकांक्षाएँ, विनाश और निर्माण की उथल-पुथल, यानी सारा सामाजिक ढाँचा धर्म और उसकी संस्थाओं से परिचालित था। जिस अनुपात में धार्मिक संस्थाओं और उनके प्रतिनिधियों का आधिपत्य समाज और उसकी शक्तियों पर रहा है, उसी अनुपात में विचार, कला और विज्ञान पर धार्मिक मान्यताओं और पौराणिक रीतियों का आधिपत्य रहा

है। प्रारम्भ में तो अधिकतर ऐसा था। दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, आचार-शास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों की कौन कहे भौतिक विज्ञान भी, जैसे रसायन, गणित, ज्योतिष आदि भी धर्म से इतने मिले-जुले हुए थे कि उन्हें अलग करना मुश्किल था।

धर्म के इस आधिपत्य के दो कारण थे। एक तो यह कि प्राकृतिक परि-स्थितियों के विषय में मनुष्य का ज्ञान इतना थोड़ा था कि सामान्य तर्क से वह उनका विश्लेषण करने में असमर्थ था। अतएव सामान्य दैनिक अनुभवों के लिए भी उसे तर्क के अतिरिक्त अन्य रागात्मक अथवा रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का सहारा लेना पड़ता था—इस प्रकार श्रद्धा, विश्वास, दैविक प्रेरणा, भय, भक्ति आदि के द्वारा धर्म को प्राधान्य मिला। यह बिल्कुल स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य अपने वातावरण से सम्बन्ध स्थापित किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि यही प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध उसके जीवन की अनिवार्य द्वन्द्वात्मक गति है। जब तक यह सम्बन्ध सामान्य बुद्धि या तर्क से अनुभूत नहीं हो जाता तब तक के लिए उसे कुछ न कुछ, अन्धविश्वास ही सही, चाहिए। जिस तरह बच्चा जब तक चन्द्रमा के कलंक को अपने सामान्य अनुभवों से सिद्ध नहीं कर पाता तब तक उसके लिए चन्द्रमा में बैठी हुई चर्खा कातने वाली बुढ़िया की कल्पना ही काफी है। बौद्धिक विश्लेषण से बाहर धार्मिक घोषणाओं पर आधारित सत्यों की मान्यता शुरू में निर्विवाद थी। गड़बड़ी तब शुरू हुई जब मनुष्य की तर्क-शक्ति ने धीरे-धीरे जागृत होकर बुद्धिगम्य अनुभवों की घोषणा की और इन अनुभवों और धार्मिक अनुभवों में विरोध पैदा हुआ। मान्य-मूल्यों की नयी व्याख्या की आवश्यकता पड़ी और प्रश्न उठा कि नयी और पुरानी घोषणाओं में से किसे सुधारा जाय। निर्णय अन्ततः उन वर्गों की पारस्परिक शक्ति के आधार पर हुआ जो इन दो प्रकार के अनुभवों के प्रतिष्ठाता रहे हैं।

समाज के जीवन और उसके दर्शन में धर्म के प्राधान्य का एक दूसरा कारण भी था। वह था धार्मिक संस्थाओं और पुरोहित वर्गों का उदय और समाज के अन्य वर्गों पर उनके अधिकार और सत्ता के विस्तार की सीमा। समाज पर धर्म के एकाधिकार के दो मुख्य युग हैं। एक वह युग जिसे एंगेल्स ने बर्बर काल कहा है। जब इससे आगे चलकर कृषि और उसके साथ-साथ दास-स्वामियों का समाज पर अधिकार हुआ, तब नये वर्ग ने पुरानी मान्य-ताओं के विरुद्ध अपने संघर्ष में नयी तार्किक जिज्ञासाओं को जन्म दिया। इस प्रकार प्रारम्भ में धर्म से अलग या उसके सामानान्तर साहित्य और दर्शन की रीति सामने आयी। अधिकतर सभ्यताओं में कला और साहित्यिक रचनाओं

का यह प्राथमिक विस्फोट है। यह याद रखना चाहिये कि विचार-विमर्श पूर्णतया धर्म का विद्रोही होकर नहीं आया, क्योंकि उस समय की प्रगति इतनी आगे नहीं हुई थी। फिर भी धर्म का एकछत्र साम्राज्य नहीं था और स्वतन्त्र विचारों की सम्भावना थी। धर्म केवल इन नये विचारों के स्रोत या पुष्टि के लिए प्रयुक्त था, ठीक उसी प्रकार जैसे पुराने धार्मिक पुरोहितों में से कुछ ने नये दास-स्वामियों के महत्व को स्वीकार किया और अपने ही वर्ग के एकाधिकार के विरुद्ध इनका समर्थन किया। इस परिस्थिति का अच्छा उदाहरण हम ग्रीस की प्रारम्भिक रचनाओं में पाते हैं। उस समय के महाकाव्यों, नाटकों या दर्शन में मूलतः धार्मिक मान्यताएँ या गाथाएँ हैं, लेकिन वे अधिकतर रूढ़िगत धर्म के बाह्याचार में परिवर्तन या परिमार्जन करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। भारत में भी महाकाव्यों, विशेषतः महाभारत और उपनिषत्पूत सिद्धान्तों की प्रवृत्ति से पता चलता है कि पुराने पुरोहित-वर्ग के एकाधिपत्य को चुनौती देने के लिए धर्म की मान्यताओं का नया तार्किक विश्लेषण करने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार विचारों में उदारता की नीति दिखलायी पड़ी।

ग्रीस और रोम के दास-स्वामी समाज के विनाश के पश्चात् सामन्तशाही के युग में यूरोप में दूसरी बार धर्म के एकाधिकार का बोल-बाला दिखलायी पड़ता है। यूरोपीय इतिहास में लगभग एक सहस्र वर्ष का सामन्तवादी युग, जिसे मध्यकाल और 'डार्क एज' (अन्धकाल) भी कहते हैं, कई प्रकार से एक दिलचस्प युग है। संत पीटर का ईसाई चर्च अपने पूरे अधिकार के साथ समस्त समाज पर छा गया और नये सामन्त वर्ग का पोषक, और एक प्रकार से स्वामी बन कर, राज्य करने लगा। इस नये चर्च के पास ज़बर्दस्त धारणाएँ थीं और अपनी सत्यता तथा उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में अडिग विश्वास था। अतएव इसके विस्तार के साथ-साथ धर्मान्धता अपने अत्यन्त उग्र रूप में आयी और जिस तरह उसने पुराने दास-स्वामियों का विनाश किया, उसी तरह उसने रोम और ग्रीस के उदार और जिज्ञासा-मूलक अनुसन्धानों और साहित्य को भी जड़ से उखाड़ फेंका। होमर, अफलातून, अरस्तू, सिसरो और सिनेका इतिहास के पर्दे से इस तरह गायब हुए जैसे उनका कभी अस्तित्व ही न रहा हो। पुरानी किताबें खोज-खोज कर नष्ट की गयीं और मनुष्य की जिज्ञासाओं के ज़बरदस्त शाहकार हज़ारों वर्षों तक अज्ञात कन्दराओं की धूल फाँकते रहे। इस युग का प्रमुख साहित्य केवल धार्मिक साहित्य है। लिखने का अधिकार केवल पादरियों को रह गया और यदि अन्य कोई लिखता भी था तो उस पर चर्च का ज़बरदस्त अनुशासन और सेन्सर क़ायम करता था।

अपने इस सेन्सर के अधिकार का प्रयोग चर्च के अधिकारी काफी अच्छी तरह करते रहे ताकि कहीं से एक वाक्य भी कुफ्र का न आ पहुँचे। प्रारम्भ के चर्च-साहित्य में, जब वह नये विकास का द्योतक था, गौरव और मिशन की भावनाएँ हैं जो निश्चय ही समाज को बल और गति प्रदान करती रही होंगी। लेकिन आगे चल कर वह केवल क्रूर और जड़ निषेधों का रूप धारण करने लगीं।

इस्लाम के उदय के समय, पश्चिमी एशिया में भी इसी प्रकार नये समाज का दार्शनिक अस्त्र पूर्ण रूप से नया धर्म हुआ। इस्लाम ने अरब जातियों को अपनी सर्वनाशी बर्बरता से सहसा जगाकर किस तरह उनमें नयी मान्यताओं और नये समाज के निर्माण के प्रति एक अदम्य लालसा और विश्वास पैदा कर दिया, यह विश्व की महान् क्रांतिकारी घटनाओं में से एक है। लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि इसके साथ भी धर्म का वह एकाधिकार था जो समाज में अपने अतिरिक्त किसी भी प्रकार की जिज्ञासा को समूल नष्ट कर देना बेहद जरूरी समझता है। इसलिए यदि इस्लाम के उग्र विस्तार के युग में ऐसी घटनाएँ, जिनका ज़िक्र हमने शुरू में किया है, घटी हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

मध्यकालीन यूरोप और इस्लाम के सामन्तवादी साम्राज्य के आर्थिक संगठन में विभिन्नता होते हुए भी मौलिक रूप से हम कई प्रकार की समानता पाते हैं। और इसी प्रकार उन दोनों की दार्शनिक व्यवस्थाओं को, जिन्हें उन्होंने जन्म दिया, पुष्ट किया, सांस्कृतिक और जीवन के मूल्यों का आधार बनाया तथा अपने वर्ग के आधिपत्य के लिए दार्शनिक हथियार की तरह प्रयुक्त किया, हम कई गुणों में समान पाते हैं। पहले तो यह कि दोनों का ही दार्शनिक आधार-स्तम्भ धर्म है। इसकी मूल प्रवृत्ति उन्हें बर्बर (जर्मनी, अरब) अथवा दास-स्वामी समाज (रोम) से विरासत में मिली थी। इसका अर्थ यह था कि मनुष्य की तार्किक और भौतिक-वैज्ञानिक जिज्ञासाओं ने अब तक जो खोज की थी, वह बहुत ही थोड़ी बल्कि नगण्य थी और इन खोजों के आधार पर विश्व और प्रकृति का कोई ऐसा तार्किक रेखाचित्र भी तैयार नहीं किया जा सकता था जो समन्वित हो और श्रद्धा-विश्वास पर आधारित आध्यात्मिक या पारलौकिक परम्परा से पुष्ट विश्व-दर्शन को चुनौती दे सके। संक्षेप में अभी तक वह ऐतिहासिक परिस्थिति नहीं उत्पन्न हुई थी जो तर्क और धर्मनिरपेक्षता को शासक वर्ग का दर्शन बना सकती।

दूसरे यह कि दोनों का उत्थान विचारों में ज़बरदस्त एकाधिकार—अर्थात् टोटैलिटेरियन ढंग के साथ हुआ। इस एकाधिकार के दो लक्षण हैं।

एक तो यह कि विचार, दर्शन, साहित्य आदि के प्रसार, परिवर्तन और परिवर्धन आदि का अधिकार अधिकांश ही नहीं, बल्कि पूर्णतया केवल एक विशेष वर्ग के हाथ में रहा जो सख़्त दमन और कभी-कभी तो मृत्यु-दण्ड के साथ अधिकार को उपयोग में लाता रहा। यूरोप में यह विशिष्ट वर्ग पादरियों का और दक्षिण-पश्चिमी एशिया में मौलवियों का था। दूसरी ध्यान रखने की बात यह है कि विचारों को प्रकट करने वाले सभी शास्त्र, और विशेषतः साहित्य एवं कला, एक मौलिक दर्शन अर्थात् धर्म के सिद्धान्तों के साथ इस तरह जकड़ दिये गये कि उनका सीधा सम्बन्ध चिरन्तन-प्रवाहयुक्त जन-जीवन के साथ न होकर उस धर्म-दर्शन से हुआ जो स्वयं जीवन न होकर जीवन की दार्शनिक व्यवस्था मात्र था। मार्क्स ने कहा है कि जन-जीवन यदि बुनियादी ढाँचा है तो धर्म, विचार, शास्त्र, कला आदि बाह्य ढाँचे हैं। इस प्रकार साहित्य स्वयम् एक अपने नियमों से परिचालित होने वाला बाह्य ढाँचा न रह कर, अन्य बाह्य ढांचे का बाह्य ढाँचा बनने के लिए विवश हो गया। और इस पर विचार करने की बात यह है कि धर्म की विचार-धारा 'भौतिक जीवन से सबसे अधिक दूर है और उससे बिल्कुल असम्बद्ध मालूम पड़ती है।' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'लुडविग फ़ायरबाख़')

जर्मन सामन्तवाद को अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए ऐसा क्यों करना पड़ा? इसके उत्तर में हम उसके स्रोत को याद करें। "जो कुछ भी स्फूर्ति और जीवन-दायिनी शक्ति रोमन संसार में जर्मनों ने डाली, वह 'बर्बरता' थी। सत्य तो यह है कि केवल बर्बर ही एक मृण्मय सभ्यता के चंगुल में कराहती हुई दुनियाँ को नया जीवन प्रदान करने में सफल होते हैं। और बर्बरता का वह उत्तर-काल, जिसमें जर्मन पहुँच चुके थे, इस संतरण के लिए सबसे अधिक अनुकूल था। यह बात सब कुछ स्पष्ट कर देती है।" (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'परिवार, राज्य आदि का आरम्भ') जैसा स्वयम् एंगेल्स ने कहा है, इस सिद्धान्त से सारी शंका का समाधान हो जाता है। उस ऐतिहासिक समय में जर्मनों को केवल अपनी सहज वीरता और फ़ौजी उत्साह के बल पर, जो उनके उत्तर बर्बर काल की निशानी थी, एक ऐसे समाज का विनाश करना पड़ा जो भौतिक रूप से अन्दर-अन्दर बिखर चुका था, पतन के गर्त में जा रहा था, लेकिन जिसकी सांस्कृतिक प्रगति बर्बर जर्मनों से कई युग आगे की थी। विजित समाज को पुनर्निर्मित करने का, और उसे भविष्य का रास्ता बताने का काम ऐसे विजेताओं के ऊपर पड़ा जो विजितों से पिछड़े हुए थे। ऐसी दशा में यदि भौतिक शक्ति और वर्ग शक्ति के आधार पर विजेता रहते भी तो भी उन्हें संस्कृति में दासता स्वीकार करनी पड़ती,

क्योंकि उनके पास स्वयम् ऐसा कुछ नहीं था जिससे वे पुरानी संस्कृति को परिमार्जित करके अपने हित में प्रयुक्त करने में सफल होते। फलत: उस ज़बरदस्त एकाधिकार का जन्म हुआ जिसका ऊपर वर्णन किया गया है।

एंगेल्स ने जर्मन-रोम-संघर्ष और यूरोपीय सामन्तवादी संस्कृति की जो व्याख्या की है, और बर्बरता के उत्थान का जो ऐतिहासिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह बहुत कुछ अरब-ईरान-संघर्ष, इस्लामी संस्कृति और अरबों के उत्थान में भी दर्शित होता है। कुछ अर्थों में तो हम यह भी कह सकते हैं कि इस्लाम-पूर्व अरब जर्मनों से कहीं अधिक बर्बरता की अवस्था में थे। मैं 'बर्बरता' का प्रयोग उसी अर्थ में कर रहा हूँ जिस अर्थ में एंगेल्स ने प्रयुक्त किया। मुहम्मद के आगमन के समय, ईरान अपनी संस्कृति और सभ्यता के चरम पुष्प इतिहास को अर्पित कर चुका था और अब लगभग उसी अवस्था में था जिसमें ईसा की चौथी शताब्दी में पतनोन्मुख रोम था। पश्चिमी एशिया की फ़ौजी और भौतिक शक्ति अरबों के फ़ौजी वर्ग के हाथ में आई, लेकिन ईरान की उच्च सांस्कृतिक परम्परा के रहते अरब के लिए पश्चिमी एशिया का नेतृत्व करना असम्भव था। फलत: बग़दाद और अदन की सभ्यता पारसियों की संस्कृति के मूलोच्छेदन पर कायम हुई। यहाँ भी हम उन्हीं कारणों से धर्म और धार्मिक वर्ग के एकाधिकार को कला और साहित्य पर देखते हैं। बल्कि प्रारम्भिक इस्लाम तो कला और साहित्य का इतना ज़बर्दस्त दुश्मन होकर आया कि कविता, मूर्तिकला, संगीत आदि तो बिल्कुल अवैध घोषित हो गयीं।

इस टोटैलिटेरियनिज़्म—धर्म का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एकमात्र, निरंकुश एवं व्यापक अधिकार का परिणाम साहित्य और कला पर क्या पड़ा? यूरोपीय सामन्तवाद का युग सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी अन्धकार का युग कहलाता है। ग्रीस और रोम की साहित्यिक परम्परा, जिससे ही १५वीं शताब्दी के बाद सम्पूर्ण यूरोप और फलस्वरूप दुनियाँ को गति मिलने वाली थी, लुप्त प्राय हो गयी। कठोर धर्म और धार्मिक वर्ग के दास हो जाने के कारण कविता, और गद्य, सभी धर्म के लिए प्रचार का साधन मात्र रह गये। प्रथम ३०० वर्षों तक तो नाटक की परम्परा ही समाप्तप्राय रही, क्योंकि चर्च अभिनय को पसन्द नहीं करता था। तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते एक प्रकार के जन-नाट्य का उदय हुआ। परन्तु ये जन-नाट्य भी केवल ईसा मसीह और संतों के जीवन के आधिकारिक उद्धरण मात्र रहते थे। उन पर पादरियों की सख्त पहरेदारी रहती थी ताकि स्वीकृत धर्म के विरुद्ध कोई भी भावना उनमें न आ जाय। संगीत, शिल्प आदि जो कुछ भी थोड़ा-बहुत

था, वह चर्च के भीतर सीमित हो गया और धर्म की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन भर रह गया। इसी प्रकार अरब और उसके द्वारा विजित सभाओं का भी हाल हुआ। यह कहना ग़लत होगा कि सामन्तवाद के निर्माता, मध्य-कालीन साम्राज्यों के विस्तारक इन टोटैलिटेरियन वर्गों ने केवल विनाश का ही कार्य किया, निर्माण कुछ नहीं किया। परन्तु वह निर्माण आर्थिक एवं समाज-संघटन आदि अन्य क्षेत्रों में है। साहित्य के क्षेत्रों में वे नेतृत्व नहीं दे सके क्योंकि साहित्य के निर्माण के लिए जो ऐतिहासिक उदारता अपेक्षित है, वह उनके लिए सम्भव नहीं थी। और इसीलिए प्रारम्भिक ग्रीस, रोम, ईरान के दास-स्वामी-वर्ग ने वह कुछ कर दिखलाया जो मध्यकालीन ईसाई या इस्लाम नहीं कर सकता था।

इस्लाम के अन्तर्गत ईरानी साहित्य की गति को हम दो युगों में बाँट सकते हैं। एक तो अरबों के उदयकाल में ख़लीफ़ाओं का युग जबकि धार्मिक वर्ग का विशेष प्रभुत्व था। प्रारम्भ की इन चार शताब्दियों तथा हम साहित्य-निर्माण का कार्य लगभग शून्य पाते हैं। सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी के अन्त तक जो कुछ भी थोड़ी-बहुत शायरी हुई है, वह केवल ईश्वर या मुहम्मद की प्रशंसा तक सीमित है और इसे भी क़ुरानी परम्परा के अनुकूल ही रखना पड़ता था। अतएव इसमें अधिक मौलिकता की गुंजायश नहीं थी। धर्म के अन्तर्गत ही सही, लेकिन यदि कोई अधिकृत व्याख्या के अतिरिक्त किन्हीं अन्य विचारों का समावेश अपने काव्य मे करने का साहस भी करता तो उसका परिणाम भी वही होता जो 'अनलहक़' कहने वाले मन्सूर का हुआ।

इस्लामी साहित्य का दूसरा युग दसवीं शताब्दी और उसके बाद का है। एंगेल्स ने जर्मनों द्वारा स्थापित योरपीय सामन्तवाद की चर्चा करते समय यह दिखलाया है कि पतनोन्मुख रोमन सभ्यता की तुलना में सामन्तशाही में जो अधिक लोकवादिता आई, और दासों को अर्ध-दासता की अवस्था प्राप्त हुई, इस सुधार का आधार जर्मनों की वही बर्बरता थी जो आदिम समाज से निकट होने के कारण ही दास-स्वामी समाज से अधिक प्रजातांत्रिक होती है। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि अरबों की अवस्था जर्मनों की बर्बरता की अपेक्षा अधिक पिछड़ी हुई थी। अन्य कारणों के साथ, जिनका विस्तृत उल्लेख करने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं है, यह भी एक महत्वपूर्ण कारण है जिसके फल-स्वरूप इस्लामी सामन्तवाद यूरोपीय सामन्तवाद से कहीं अधिक प्रजातांत्रिक रहा। एंगेल्स का वही सिद्धान्त इस्लामी और यूरोपीय सामन्तवाद की आन्तरिक भिन्नताओं को स्पष्ट करता है। इस्लाम की प्रजातांत्रिक चेतना के कारण ही मौलवी-वर्ग और चर्च की वह सुगठित सामन्तशाही न स्थापित हो

सकी जैसी यूरोप में सम्भव हुई। दूसरे, इस्लाम की दूसरी ही शताब्दी में इस्लाम में वह विद्रोह और विस्फोट प्रारम्भ हो गया जो ईसाई धर्म में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में हुआ। इस्लाम उमैय्यद और अब्बासी खलीफाओं के बाद ही दो शिविरों में बँट गया। पुरानी परम्परा वाले सुन्नी कहलाये और अली के अनुगतों ने शिया सम्प्रदाय की स्थापना की। शिया सम्प्रदाय का अधिक प्रसार ईरान में हुआ जिसके लिए यह नया सम्प्रदाय अरब की दासता से मुक्ति, या कम से कम उसके विरुद्ध विद्रोह का संदेश लेकर आया। इस प्रकार एक बार फिर ईरान को सांस्कृतिक नेतृत्व का अवसर मिला। धार्मिक टोटैलिटेरियनिज़्म को चुनौती मिली और साहित्य और कला का अवरुद्ध स्रोत फूटा।

इस प्रकार दसवीं शताब्दी से ईरान के नेतृत्व में इस्लाम के साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ होता है। जो काम एकाधिकार में बँधा हुआ अरब नहीं कर सका, वह विद्रोही ईरान ने किया। इस नये युग के प्रारम्भिक दो कवियों का उल्लेख करना आवश्यक है। एक फिरदौसी और दूसरे अबूसैद अबू खैर। ये दोनों ही महमूद ग़ज़नवी के समकालीन थे। फ़िरदौसी का शाहनामा विश्वविदित है। विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात यह है कि कट्टर मुसलमान महमूद ग़ज़नवी द्वारा प्रेरित और पोषित ईरानी साहित्य की विशाल धारा का यह पहला निर्झर, ईरान की राष्ट्रीयता का गौरव और उठते हुए ईरान के उल्लास और उत्साह का यह महाकाव्य ईरान के उन पुराने वीरों का इतिहास है जब इस्लाम का कहीं नाम-निशान भी नहीं था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि शाहनामा पर तत्कालीन इस्लामी दर्शन का कोई प्रभाव नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि शाहनामा आधिकारिक इस्लाम-दर्शन के एकाधिकार से मुक्त है। उसकी प्रेरणा का स्रोत बिल्कुल दूसरा है। आख़िर क्या कारण है कि जब यूरोप में चर्च का और अरब की प्रथम चार शताब्दियों में इस्लाम धर्म का समस्त कला और साहित्य पर सम्पूर्ण और निरंकुश शासन था, तब शाहनामा जैसा शाहकार नहीं लिखा जा सका?

ईरान के इस्लामी साहित्य की एक प्रमुख धारा सूफ़ी साहित्य है जिसके उन्नायक अबूसैद अबू खैर हैं। यद्यपि सूफी मत साधारण धार्मिक भावना की ही एक धारा है, और शाहनामा की तरह धर्मनिरपेक्ष नहीं है, परन्तु मुख्यतः वह स्वीकृत इस्लाम धर्म से भिन्न है। विद्वानों का कहना है कि इस्लाम की दूसरी शताब्दी में ही सूफीवाद के अंकुर निकलने प्रारम्भ हो गये थे। ठीक है, परन्तु यह सूफीवाद उच्च साहित्य-रचना का आधार दो सौ वर्षों तक नहीं बन सका क्योंकि मौलवियों का सांस्कृतिक एकाधिकार दसवीं शताब्दी तक अच्छी तरह

को भी अपने विश्व-दर्शन को धर्म का ही स्वरूप देना पड़ा क्योंकि तार्किक जिज्ञासा तब तक बहुत पिछड़ी हुई थी।

परन्तु पूँजीवादी मध्यम वर्ग ने विश्व के इतिहास में धर्म—और उसके मूल आधार श्रद्धा और विश्वास को पहली बार सच्चे अर्थों में चुनौती दी। विचारों का जो यह नया संघर्ष शुरू हुआ, वह केवल रूढ़िग्रस्त धार्मिक परम्पराओं को अधिक उदार बनाने के लिए ही नहीं था, धर्म में संशोधन कर शिया और सुन्नी सम्प्रदाय स्थापित करने का ही नहीं था, बल्कि स्वयम् धर्म को उसके सार्वभौम उच्चासन से हटा कर उसकी जगह पर एक दूसरे दर्शन को स्थापित करने के लिए था। ज्ञान का यह नया आधार था भौतिक विज्ञान और तार्किक जिज्ञासा। सोलहवीं शताब्दी तक विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली थी कि वह एक रेखाचित्र की भाँति विश्व को एक नया दर्शन दे सकता था जो तर्क और बुद्धिगम्य हो और जिसे स्वीकार करने के लिए पोप और पादरियों की मुहर की ज़रूरत न पड़े। गैलीलियो को पादरियों ने मरवा डाला, परन्तु गैलीलियो ही नये युग की भावना का प्रतीक बना। विज्ञान और उसके अनुसन्धानों ने इस तरह मध्यम वर्ग के हाथ में न केवल उत्पादन के नये साधन दिये जिससे वे समाज के अन्य वर्गों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें, बल्कि एक विश्व-दर्शन भी दिया जिससे वे धर्म की सांस्कृतिक दासता से मुक्त हो सकें।

इस प्रकार पूँजीवादी वर्ग के लिए राज्य और शासन की सत्ता के लिए ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों की आवश्यकता नहीं रह गयी और राज्य एवं शासन के लिए एक अलग विज्ञान-शास्त्र की उत्पत्ति हुई जिसका नाम राजनीति है। इस नये विज्ञान की आधारशिलाएँ तर्क, बौद्धिक अनुभव और सामाजिक आवश्यकता थी। नवयुग के प्रथम राजनीतिशास्त्री मैकियावेल्ही ने राज्य की सत्ता को सर्वोपरि घोषित करते हुए चर्च के लुप्त प्राय अधिकारों का फ़ातिहा पढ़ डाला। धीरे-धीरे राजनीति और राजनीतिक आवश्यकताओं ने अपना एक अलग अस्तित्व बना लिया।

सांस्कृतिक दृष्टि से नया पूँजीवादी मध्यम वर्ग अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए अच्छी तरह समर्थ था क्योंकि उसके तर्क और बुद्धि के अस्त्र स्वभावत: रूढ़ियों और पुरातन विश्वासों की अपील से कहीं ज्यादा मजबूत पड़ते थे। ख़ास तौर से उस समय जब इन रूढ़ियों की दुहाई देने वाले वर्ग की ताक़त टूट चुकी हो और वह समाज के नेतृत्व से च्युत हो चुका

हो। पूँजीवाद मुक्त प्रतियोगिता का वाद है। इसी मुक्त प्रतियोगिता के बल पर उसने सामन्तों को भी परास्त किया और इसी के बल पर उसने सामन्त-वादी मूल्यों को भो स्थानच्युत किया। अतएव स्पष्ट है कि पूँजीवाद के लिए उस सांस्कृतिक एकाधिकार वाद की कोई ज़रूरत नहीं थी जो जर्मन या अरब बर्बरों के लिए अनिवार्य थी।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। यद्यपि तर्क की नयी लहर ने धार्मिक विश्वासों की जड़ इस तरह हिला दी थी कि उसका स्वामित्व हमेशा के लिए समाप्त हो गया, लेकिन धर्म द्वारा प्रचारित विश्व-दर्शन का स्थान लेने के लिए उतना ही विशद और असंदिग्ध विश्व-दर्शन देने की सामर्थ्य अभी विज्ञान में नहीं हुई थी। सत्य तो यह है कि धर्म और धार्मिक भावना तब तक पूर्णरूपेण समाज से विनष्ट नहीं हो सकती जब तक वर्ग-संघर्ष समाज में चलेगा। कारण यह है कि शुद्ध वैज्ञानिक मानवीय दर्शन अपने तार्किक सामञ्जस्य के कारण वर्गहीन समाज का ही दर्शन होगा। अतएव एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण, और समाज में चलने वाले द्वन्द्व का सामञ्जस्य कोई भी तार्किक सिद्धान्त या सांस्कृतिक मूल्य नहीं कर सकते। वर्ग-समाज वर्ग-मूल्यों को ही जन्म देगा। और चूँकि वर्ग-मूल्य समस्त समाज को निर्द्वन्द्व आत्मसात् नहीं कर सकते, अतएव अपने अन्तिम रूप में वे कभी भी तार्किक या बुद्धिवादी नहीं हो सकते। इस द्वन्द्व को न्यायपूर्ण सिद्ध करने या इससे पला-यन करने, दोनों ही के लिए बुद्धिविरोधी प्रवृत्तियों का सहारा लेना पड़ेगा। इससे स्पष्ट हो जायगा कि पूँजीवाद क्यों धर्म को समाज से समूल नष्ट नहीं कर सकता, यद्यपि वह उसे चुनौती दे सकता और कमज़ोर कर सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि क्यों पूँजीवाद के दार्शनिक बुद्धि का सहारा लेकर चलते हुए भी अन्त में अनिवार्यतः रहस्यवादी और ईश्वरवादी या धर्मवादी हो जाते हैं।

अस्तु, विज्ञान ने धर्म के मुक़ाबले में उतना ही पूर्ण दर्शन पुनर्जागरण के समय में प्रस्तुत नहीं किया, परन्तु रेखाचित्र अवश्य प्रस्तुत कर दिया। इस रेखाचित्र में इतनी सम्भावनाएँ थीं कि समस्त वैज्ञानिक और विचारक एक बार आशा और उत्साह से आन्दोलित हो उठे। जिसे जहाँ समझ में आया, अपनी बुद्धि के अनुरूप चारों ओर दौड़ पड़ा उन रंगों को खोजने और अपनी तालिका में प्रयोग करने के लिए जिनसे पूरा चित्र तैयार हो सके। चूँकि खाली जगह बहुत पड़ी थी, अतएव कहीं कोई रोक नहीं थी। ग्रीस-रोम एक बार फिर जीवित हुए। अनुसन्धान और आलोचना की धूम मची।

अतः संस्कृति और विचारधारा के क्षेत्र में उठते हुए पूँजीवादी मध्यम वर्ग ने जिन मूल्यों को प्रतिष्ठापित किया, वे संक्षेप में ये हैं। एक, धर्म की जगह ज्ञान की तर्कपूर्ण और बुद्धिवादी धारा ने ले ली। अधिकारी वर्ग के शासन का शास्त्र अब धर्म न होकर राजनीतिशास्त्र हो गया। दूसरे, विचारों की स्वतन्त्रता और उनकी मुक्त प्रतियोगिता का दौर शुरू हुआ। टोटैलिटेरियन सेन्सर का पतन हुआ। तीसरे, अनुसन्धान, आलोचना और अन्वेषण की प्रवृत्ति जागरित हुई। चौथे, कोई ऐसा निर्विवाद विश्व-दर्शन या शास्त्र न रह गया जो विचारों की समस्त धाराओं को आत्मसात् कर ले। अतएव इस युग के मूल्य का मापदण्ड केवल व्यक्तिवाद ही है। सब मिलाकर पूँजीवाद को अपने उज्वल भविष्य और सांस्कृतिक उत्तमता में इतना अधिक आत्मविश्वास था कि उसके लिए टोटैलिटेरियनिज्म की आवश्यकता नहीं रह गयी।

इन मूल्यों के चलते साहित्य की जो सर्वमुखी उन्नति हुई, उसका विस्तृत विश्लेषण करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। पूँजीवादी यूरोप की विश्व-साहित्य में जो देन है, वह हमारे लिए निकट की चीज़ है। मध्यम वर्गीय प्रजातन्त्र और प्रजातांत्रिक भावना के साथ साहित्य के इस विस्तार को देखकर, अवश्य ही तुलना में यूनानी प्रजातन्त्र और ईरान के उदार युग की साहित्यिक प्रगति, और विरोधाभास-स्वरूप मध्यकाल का समस्त अन्धकार याद आ जाता है। हम यहाँ धर्म को चुनौती देने वाली उस नयी शक्ति की चर्चा करेंगे जिसे हमने राजनीति कहा है और जो धीरे-धीरे विज्ञान की सहायता से अपना एक पूर्ण विश्व-दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करती रही है।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक, पूँजीवाद के प्रारम्भिक युग में अंग्रेज़ी साहित्य राजनीति या उसकी आवश्यकताओं से अधिकतर मुक्त रहा है। इसका अर्थ है कि बूर्जुआ वर्ग का वह भाग जो राजनीति के सीधे सम्पर्क में था, तब तक उस वर्ग की आशाओं का प्रधान केन्द्र नहीं बना था। वे व्यक्ति-वादी मूल्य, जिन पर समस्त बूर्जुआ संस्कृति के उत्तम से उत्तम रूप आधारित हैं, जीवन के अन्य स्रोतों में भी प्रतिष्ठित होते रहे। साहित्य के इतिहासकारों के लिए शेक्सपीयर की राजनीतिक या सामाजिक धारणाएँ अभी भी रहस्य और विवाद का विषय बनी हुई हैं। यह बात केवल शेक्सपीयर के ही सम्बन्ध में नहीं, बल्कि कम-बेश एलिज़बेथ और उसके बाद के काल के सभी साहित्यों पर लागू होती है। शायद एक बेकन को छोड़कर—यद्यपि मैं नहीं समझता कि बेकन ने भी अपनी साहित्यिक रचनाओं को सीधे राजनीतिक आवश्यकताओं

के लिए प्रयोग किया। परन्तु इतना निर्विवाद है कि कई दृष्किोणों से सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और सत्रहवीं का पूर्वार्ध इंगलैण्ड के साहित्यिक इतिहास-रचना, कलात्मक कल्पना और पथ-प्रदर्शन का सबसे महान् युग है।

लेकिन पूँजीवाद के विस्तार के साथ समाज में राज्य और उसकी सत्ता को धारण करने वालों का प्रभुत्व बढ़ना आवश्यक है। सामन्तशाही के अन्तर्गत पुरोहितों का एक विशेष अभिजात वर्ग सांस्कृतिक नेतृत्व के लिए अलग होता है और जैसा हमने देखा कि प्रारम्भ में यह वर्ग राजसत्ताधारी आभिजात्यों से अधिक प्रभाववान था। बाद में धीरे-धीरे राजसत्ताधारी पुरोहितों के ऊपर हावी हो गये और 'जैसा राजा वैसा धर्म' का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। पूँजीवाद के अन्तर्गत पूँजीपति-वर्ग स्वयम् सीधे-सीधे अपने हाथ में सत्ता ग्रहण नहीं करता, जैसा सामन्तों ने किया, बल्कि इस कार्य के लिए वह अपने ही वर्ग के विद्वानों का एक समूह 'बुद्धि-जीवियों' का पोषण करता है। इस समूह पर पूँजीपतियों की ओर से राज का भार सँभालने और सांस्कृतिक नेतृत्व करने, दोनों कार्यों का भार पड़ता है। इस प्रकार एक ही समूह के अन्तर्गत होने के कारण राजनीति और साहित्य के परस्पर संबद्ध हो जाने के बीज पूँजीवादी वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत ही मौजूद हैं। यह सम्बन्ध किस अंश तक किस स्वरूप में होगा, यह पूँजीवादी व्यवस्था के क्रमिक विकास पर निर्भर है। जैसे-जैसे राज्य का क्षेत्र व्यापक होता गया, राजनीतिक आवश्यकताएँ विचार और दर्शन की अन्य शैलियों पर छाती गयीं, और सांस्कृतिक नेतृत्व राज के केन्द्र की ओर खिंचता गया।

मिल्टन (सत्रहवीं शताब्दी, उत्तरार्ध) इंगलैण्ड का पहला महत्वपूर्ण साहित्यिक है जिसने तत्कालीन दलगत राजनीति में क्रियाशील भाग लिया। कुछ आलोचकों का कहना है कि मिल्टन ने वह सब केवल एक दल को दे डाला जो मानवता के लिए अभीष्ट था। फिर भी यह सत्य है कि मिल्टन की रचनाओं का एक बड़ा भाग ऐसा है जो राजनीतिक आवश्यकताओं द्वारा सीधे-सीधे नियमित नहीं है। एलिज़बेथ के समय के साहित्यकारों की तरह मुख्यतः उसकी रचनाओं का उद्देश्य राजनीतिक प्रचार की जगह मध्यम वर्ग के मानवीय मूल्यों पर ज़ोर देना ज्यादा है।

इसके विपरीत अठारहवीं शताब्दी का साहित्य ड्राइडन से लेकर जान्सन तक तत्कालीन राजनीतिक प्रचार और उसकी दलबन्दियों से सीधा जुड़ा हुआ है। "सारा राष्ट्र जैसे दो दलों में विभक्त हो गया था। लगभग सभी लेखक

ख़रीदे जा सकते थे। कुछ एक अपवादों को छोड़कर अच्छे से अच्छे लेखक भी किसी न किसी राजनीतिक दल के आर्थिक संरक्षण में थे। साहित्य राजनीति और कूटनीति का सेवक बन गया"। (त्रायट—अंग्रेजी साहित्य का इतिहास)। गद्य को पत्रकारिता से, जिसका उदय उसी समय हुआ था, विशेष बल प्राप्त हुआ। और पत्रकारिता साहित्य का वह अंग है जो राजनीति के सबसे निकट है। इसके अतिरिक्त काव्य में भी राजनीतिक व्यंग्य का ही प्राधान्य रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में एक तरफ़ फ्रान्स की क्रान्ति और दूसरी तरफ़ पूँजीवादी वर्ग के भीतर विरोधाभास की सम्भावनाओं के उदय, और मज़दूर-वर्ग के प्राथमिक आन्दोलन के साथ हम बूर्जुआ साहित्य और राजनीति में कुछ परिवर्तन पाते हैं। फ्रान्स की क्रान्ति ने यूरोप के मध्यम वर्ग को फिर आदर्शों से आन्दोलित कर दिया, दूसरी ओर इंगलैण्ड में पूंजीवाद के आर्थिक दुष्परिणामों ने बहुतों को चिन्तित भी किया। इन दो कारणों से मध्यमवर्गीय व्यक्तिवादी मूल्यों के ऊपर ज़ोर अधिक बढ़ गया और अठारहवीं शताब्दी की दलगत साहित्यिक धारा कुछ मन्द पड़ गयी। रोमांटिक कवियों को एलिज़बेथ-युगीन साहित्य अधिक निकट मालूम पड़ने लगा। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी का रोमांटिक साहित्य दार्शनिक मूल्यों पर ज़ोर देने के बावजूद भी एलिज़बेथ-युगीन प्रारम्भिक पूंजीवादी साहित्य की तरह राजनीति से असंपृक्त नहीं है। वर्ड्सवर्थ, शेली, बायरन, आदि समस्त साहित्यिक अपने युग के क्रियाशील क्रान्तिकारियों में से रहे हैं। वायवी वातावरण में विचरण करने वाला शेली भी मुख्यतः अपने को राजनीतिक कार्यकर्ता ही समझता है। फ्रान्स और जर्मनी के रोमांटिक साहित्यकारों के ऊपर रूसो और हेगेल की सीधी छाप है जो मुख्यतः राजनीतिक समस्याओं के दार्शनिक हैं। बल्कि फ्रान्स और जर्मनी के रोमांटिक साहित्यकार तो तत्कालीन राजनीतिक दलों के साथ-साथ चलने वाले रहे हैं। राज्य का विस्तार समाज पर कुछ इस तरह हो गया था कि उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यकारों के लिए उसे भुलाकर एलिज़बेथ के युग की पुनरावृत्ति करना असम्भव था।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध पूंजीवाद के आन्तरिक संकट का युग है। पूँजीवाद के भीतर छिपे हुए विरोधाभास ने धीरे-धीरे उत्कट रूप धारण किया और स्वयम् मध्यम वर्ग की पुरानी सत्ता को चुनौती देने के लिए मज़दूरों के नेतृत्व में नयी शक्तियों का उदय हो गया। शासक वर्ग की राजनीति का आदर्श और उसकी प्रेरक स्फूर्ति बदल कर अपने दमनात्मक और

प्रतिक्रियावादी स्वरूप में दिखलायी पड़ने लगी। यूरोपीय पूँजीवादी के लिए तो साम्राज्यवाद के अतिरिक्त जीवित रहने का और कोई साधन ही नहीं रह गया। दूसरी ओर वे ही स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व के मानव-मूल्य मज़दूरों द्वारा घोषित किये जाने पर स्वयम् मध्यम वर्ग के अस्तित्व के लिए ख़तरा बन गये।

इंगलैण्ड के पूँजीवादी युग के लम्बे युग पर विहंगम दृष्टि डालने पर दो बातें दिखायी पड़ती हैं। एक, धर्म का स्थान धीरे-धीरे राजनीति ने ले लिया और जैसे-जैसे समय बीतता गया, समाज और विज्ञान की वृद्धि होती गयी तथा राजनीति का विस्तार अधिक होता गया। दूसरे, राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध स्वतन्त्र प्रभाव का सम्बन्ध रहा है। कभी भी वह मध्यकाल की भाँति टोटैलिटेरियन नहीं रहा है। और ग्रीस तथा ईरान की कला-स्वतन्त्रता को ध्यान में रखने के बाद यह परिणाम निकलता है कि कला और साहित्य में कुछ ऐसा तत्व है जो एकाधिकार से कुंठित हो जाता है और साहित्य के स्वरूप, शैली और उसके सांस्कृतिक स्तर के विकास और उत्कर्ष के लिए स्वतन्त्र और स्वानुभव का वातावरण बहुत ही अधिक मौजूँ है।

१६२३ के बाद रूस के कम्युनिज्म और इटली तथा जर्मनी के फ़ाशिज्म ने सहसा साहित्य और राजनीति के धीरे-धीरे बढ़ते हुए स्वतन्त्र सम्बन्ध को आन्दोलित कर दिया और एक नये प्रकार के सम्बन्ध की घोषणा की। हमारी आँखों के सामने मध्यकालीन टोटैलिटेरियन स्वरूप की पुनरावृत्ति-सी होती हुई दिखलायी पड़ी।

फाशिज्म ने कभी अपने को केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं कहा। बल्कि फाशिस्त अपने को मुख्यतः एक सांस्कृतिक आन्दोलनकारी ही कहते रहे। इस सांस्कृतिक उत्थान का माध्यम राज माना गया। एक दल खड़ा हुआ जिसने अपनी आवश्यकताओं को राज की और राज की आवश्यकताओं को समस्त राष्ट्र की आवश्यकता घोषित किया। और इसके पीछे वही मध्ययुगीन ईसाई चर्च की तरह अपने पक्ष में अखण्ड विश्वास और किंचित् विरोध को भी न बरदाश्त करने की भावना थी। डॉ० गोयबेल्स ने कहा, "चूँकि हम नेशनल सोशलिस्टों का विश्वास है कि जो कुछ हम कहते हैं, वही पक्ष ठीक है, अतएव हम किसी ऐसे दूसरे को बरदाश्त नहीं कर सकते हैं जो अपने को ठीक कहता हो। क्योंकि यदि दूसरा भी ठीक है तो वह अवश्य नेशनल सोशलिस्ट होगा और यदि वह नेशनल सोशलिस्ट नहीं हैं तो सीधी बात है कि वह ठीक नहीं हो सकता।"

हमने ऊपर संकेत किया है कि पूँजीवाद के आन्तरिक संकट के कारण कला का मानवीय पक्ष स्वभावतः शोषक वर्ग का विरोधी हो गया। अतएव जिस प्रकार पूँजीवाद ने अपनी ढहती हुई इमारत को फ़ाशिज्म के जरिये बचाने की कोशिश की, उसी प्रकार उसने कला और साहित्य को राजनीति की दासी बनाकर उसकी मानवोचित आत्मा का हनन करने की ठानी। साहित्य केवल पत्रकारिता या प्रचार का ही दूसरा नाम रह गया। अठारहवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में भी साहित्य राजनीति का सेवक बना था। लेकिन उस समय यह सम्बन्ध टोटैलिटेरियन नहीं था, इसीलिए विचारों और अनुभवों की गहराई में तो उस काल के कलाकार नहीं जा सके, लेकिन कम से कम उन्होंने कला के एक पक्ष—उसकी शैली और स्वरूप को बहुत निखारा। लेकिन फाशिज्म ने विचारों में तो साहित्य को अवरुद्ध किया ही, साथ ही साथ उसके स्वरूप को भी इतना बिगाड़ा कि स्वयम् पूँजीवादी कला की सारी परम्परा जैसे लुप्त हो गयी।

राजनीतिक तानाशाही का दूसरा रूप सोवियत रूस में दिखलायी पड़ता है। अन्वेषण के एक विभाग, भाषाविज्ञान की दशा देखिये।

'सोवियत रूस में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी तथाकथित नयी शिक्षा योजना की हल्की से हल्की आलोचना करने वालों को 'उत्पीड़न का शिकार बनाया गया और भाषाविज्ञान के अधिकारी वर्ग ने आलोचना को बिल्कुल ख़त्म कर दिया। एन० वाई० मार की शिक्षा के प्रति ज़रा भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखने के कारण, उसके प्रति थोड़ी भी असहमति व्यक्त करने के कारण, भाषाविज्ञान के अनुसंधान में लगे हुए बहुत से अनुभवी कार्यकर्ता तथा अन्य लोग अपने पदों से अलग कर दिये गये या नीचे गिराये गये। इस क्षेत्र में लोग उच्चतम पदों पर अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा के कारण नहीं, बल्कि एन० वाई० मार के सिद्धान्तों की बिना शर्त पुष्टि के बल पर प्रतिष्ठित किये गये हैं।'

लगता है कि ऊपर के शब्द सोवियत-विरोधी किसी अमेरिकन के लिखे हुए हैं। वस्तुतः ये शब्द सोवियत के भाग्य-विधाता स्टालिन के हैं। और यह भी किसी पुरानी दशा का चित्र नहीं है। यह अवस्था २० जून, १९५० के प्रावदा द्वारा प्रकाशित की गयी है और उस समय की है जब सोवियत रूस स्टालिन के शब्दों में सोशलिज्म से काम्युनिज्म की ओर बढ़ रहा है। स्टालिन को इस पर आश्चर्य है कि वैज्ञानिकों ने सही बात के पक्ष में अपनी आवाज़ तब तक नहीं उठायी जब तक प्रावदा की ओर से इस विषय पर बहस का निमंत्रण नहीं दिया गया। हमें भी आश्चर्य है कि ऐसा क्यों और क्यों कर

हाता है, यद्यपि हम जानते हैं कि सोवियत रूस में यह कोई ग़ैरमामूली बात नहीं है ।

स्टालिन ने स्वीकार किया है कि ऐसी दशा में विज्ञान का विकास असम्भव है । जब भाषाविज्ञान ऐसे विशुद्ध ऐतिहासिक विज्ञान के विषय में तानाशाही, एक दल और उसकी धारणाओं का एकछत्र प्रभुत्व है तो कला और साहित्य के क्षेत्र में जो सामाजिक जीवन से कहीं अधिक निकट है, तानाशाही और उसके दुष्परिणामों का अन्दाज लगाया जा सकता है ।

जर्मन साहित्यकार और कम्युनिस्ट पार्टी के भूतपूर्व सहगामी आर्थर कोस्टर ने 'दि गाड दैट फेल्ड' में विशद् वर्णनों तथा उदाहरणों द्वारा बताया है कि किस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी को राजनीतिक आवश्यकताओं के लिए नित्य एक फटेहाल लेखक को महान् कलाकार, और अर्से से जमे हुए साहित्यकार को शब्दों का भिखारी बनाने की क्रिया होती रहती है ।

तानाशाही पर आधारित सोवियत साहित्य प्रचार का अच्छा साधन हो सकता है, सम्भवतः वह स्टालिन के भाषण या कम्युनिस्ट पार्टी की थीसिस की तरह लाखों कम्युनिस्टों को कर्मठ क्रियाशीलता के लिए भी तैयार कर सके, परन्तु उसमें वह कलात्मक सौन्दर्य कहाँ है जो शब्दों के एक समूह को साहित्य की संज्ञा प्रदान करता है और उसे पैदा करने वाले वर्ग की संस्कृति को मानव-इतिहास में मूल्यवान बनाता है ? उत्कट शोषण पर अपना वर्ग-राज तो दास-स्वामी ग्रीकों ने भी चलाया, और सामन्तशाही जर्मनों ने भी, लेकिन जहाँ ग्रीक और रोमन संस्कृति विश्व-इतिहास में अमूल्य और मनुष्य की परम्परागत विजयों का उज्ज्वल प्रतीक है, वहाँ सामन्तशाही संस्कृति केवल अन्धकार का युग है, मूल्यहीन, प्रभावहीन ।

मार्क्सवाद साहित्य और कला को वर्ग-संघर्ष में केवल प्रचार और शिक्षा का अस्त्र मात्र नहीं मानता, बल्कि वह उसे किसी वर्ग की कलात्मक, सौन्दर्य-वान और मानवोचित प्रवृत्तियों की सांस्कृतिक और मानसिक प्रगति का चरम प्रतिफल भी मानता है जिसके कारण मनुष्य के इतिहास में किसी वर्ग अथवा वर्गहीन समाज का मूल्य है । जिस तरह आज राजनीति से साहित्य को अलग रखने का नारा लगाने वाले मध्यमवर्गीय कलाकार प्रतिक्रिया-वादी हैं, उसी तरह राजनीति की तानाशाही में कैद करके समस्त साहित्य को पार्टी का अस्त्र मात्र घोषित करने वाले कला के दुश्मन हैं । मार्क्स साहित्य को इन दोनों संकुचित दृष्टिकोणों से अलग समझता है । वह साहित्य को केवल पार्टी नहीं, पूरे वर्ग के सांस्कृतिक प्रयास की उत्पत्ति मानता है । पार्टी के महत्व को समझते हुए भी मार्क्सवाद कभी भी पार्टी और वर्ग को एक नहीं

मानता। वह साहित्य को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में परखता है; उसके उन आन्तरिक नियमों की घोषणा करता है जिनसे आज तक वह नियमित होता आया है। और इन्हीं ऐतिहासिक नियमों के आधार पर वह नयी संस्कृति के निर्माण का प्रयास करता है। जो मज़दूर-किसान को जागृत करे और मनुष्यता के चरम उत्कर्ष का संकेत दे। मार्क्सवादी साहित्यकार किसानों-मज़दूरों के संघर्ष का सचेत गायक होता है। यह उसका तात्कालिक राजनीतिक पहलू है। साथ-साथ वह जनता की कलात्मक प्रवृत्तियों का उत्थान कर नयी संस्कृति का पथ प्रशस्त करता है। यह उसका स्थायी मूल्यों पर आधारित मानवोचित पहलू है।

साहित्यकारों के सम्मुख आज यह प्रश्न है कि राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध क्या हो? एक बार इस समस्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के स्पष्ट हो जाने पर इस प्रश्न का उत्तर भी अपने आप स्पष्ट हो जाता है। उठती हुई जनता का साहित्य अनिवार्यतः एक बड़े अंश में राजनीति से प्रभावित होगा, इसलिए कि राजनीति जनता के उत्थान का आवश्यक माध्यम है। परन्तु यह प्रभाव टोटैलिटेरियन स्वरूप नहीं ग्रहण करेगा क्योंकि आदिकाल से साहित्य मुक्त वातावरण में ही पुष्पित होता आया है। इसके अतिरिक्त आज जनता की शक्ति इतनी बढ़ गयी है और उसकी सांस्कृतिक चेतना, उसका विश्व-दर्शन इतना पुष्ट हो चुका है कि सहज ही वह पूँजीवादी पतनोन्मुख संस्कृति को मुक्त बौद्धिक प्रतियोगिता में ही पछाड़ सकती है, ठीक उसी तरह जैसे पूँजीवाद ने बिना साहित्यिक तानाशाही के सामन्तवादी मूल्यों को विनष्ट कर डाला।

मार्क्सवादी साहित्यकार के दो उपर्युक्त पहलुओं को ध्यान में रखते हुए हम आज के साहित्य को दो हिस्सों में बाँट सकते हैं। एक तो वह साहित्य जो तात्कालिक और विशुद्ध राजनीतिक है। यह राजनीतिक साहित्य घोर प्रतिक्रियावादी और जनवादी दोनों प्रकार का हो सकता है। और ऐसे राजनीतिक साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका को परखने का साधन केवल राजनीतिक दृष्टिकोण हो सकता है।

परन्तु तात्कालिक राजनीतिक साहित्य के अतिरिक्त एक बड़ा हिस्सा ऐसा भी है जो कला और संस्कृति के अन्य मूल्यों पर अधिक महत्व देता है। किसी भी वर्ग के साहित्य की रचना में केवल अपने तात्कालिक संघर्ष या राजनीतिक उत्थान-पतन पर ही जोर नहीं दिया गया। इतिहास साक्षी है कि राजनीति के अतिरिक्त अपने वर्ग की कलात्मक और मानवीय दृष्टि को भी

पुष्ट करना वर्ग-साहित्य की बड़ी जिम्मेदारी रही है। जो आलोचक मार्क्सवाद के नाम पर साहित्य के प्रत्येक उतार-चढ़ाव को तात्कालिक राजनीतिक या आर्थिक परिस्थिति से ही सम्बद्ध करते हैं, वे मार्क्सवाद को यांत्रिक बनाकर उसे बिगाड़ते हैं। वे इसे भूल जाते हैं कि साहित्य के विकास के अपने भी नियम हैं जिन पर उसका कलात्मक पहलू बहुत कुछ आधारित होता है।

पार्टी और साहित्यकार में स्वतन्त्र या प्रजातान्त्रिक सम्बन्ध रहने पर अवश्य ही यह पहलू विकसित होगा। ऐसे साहित्य की आलोचना का आधार पार्टी द्वारा किये जाने वाले वर्ग-संघर्ष की सामरिक अवस्था न होकर विश्व-इतिहास में जनता की नयी ऐतिहासिक भूमिका होगी। पहली कसौटी यदि राजनीतिक है तो दूसरी कसौटी मानव-मूल्यों की है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, 'भारतवर्ष की नयी संस्कृति के साहित्यकार के सामने ये मूल्य हैं—लोकतन्त्र, अन्तर्राष्ट्रीयता और सामाजिक प्रगति।' इटली के समाजवादी नेता इग्नेजियो सिलोन के शब्दों में, 'सिद्धान्तों के बल पर हम सम्प्रदाय स्थापित कर सकते हैं, परन्तु मूल्यों के आधार पर हम संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। लोकतान्त्रिक समाजवाद इस ऐतिहासिक अनुभव को भुलाकर उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं कर सकता।'

अगस्त, १९५०

साहित्य में गतिरोध

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य की समकालीन प्रगति में गतिरोध की बात प्राय: विभिन्न प्रसंगों में, विभिन्न निकायों के आलोचकों द्वारा कही जाती रही है। साहित्य में गतिरोध के कई अर्थ हो सकते हैं। यह सम्भव है कि साहित्य-सृजन का एक दौर ऐसा हो जब प्रचुर मात्रा में साहित्य का प्रकाशन हो रहा हो, जनता उसे पढ़ रही हो, किन्तु उस प्रसार और प्रचार के बीच भी साहित्य का स्तर सतही तथा उसकी दृष्टि एकांगी हो गई हो, उसमें मानवीय स्थितियों के गहन आध्यात्मिक संकट और मर्मस्पर्शी पीड़ाओं को छने की शक्ति न रह गई हो, या साहित्य के सृजन पर व्यावसायिकता का भयानक प्रभाव पड़ रहा हो और फलस्वरूप उच्च स्तर की कृतियों के सृजन की अपेक्षा सस्ती और विकृत जनरुचि को सन्तुष्ट करने वाला साहित्य आकर्षक ढंग से इस तरह सजा दिया गया हो कि उच्च स्तर के साहित्य की मूल सरस्वती-धारा विलुप्त हो रही हो, या शिल्प की सूक्ष्मताओं और पच्चीकारियों से समन्वित किन्तु एक सुस्पष्ट भावपथ से विचलित, विक्षुब्ध, चौंकाने वाला, शिल्प और चिन्तन के अस्थायी फ़ैशनों को अधिक महत्व देने वाला, प्रभावयुक्त किन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट साहित्य—ये सभी साहित्य के गतिरोध या गति-विभ्रम के स्पष्ट उदाहरण हैं।

क्या हिन्दी में इस प्रकार के किसी गतिरोध या गति-विभ्रम के कीटाणु दीख रहे हैं? यदि हाँ, तो क्या वे कीटाणु इतने प्रबल हैं कि हमारी जीवन-दायिनी परम्परा के सशक्त तत्वों को पराजित कर सकने में समर्थ हो गये हैं? या यह गतिरोध का नारा केवल पाश्चात्य साहित्य के विषय में कही जाने वाली उक्तियों का भारतीय अनुकरण-मात्र है जो भारतीय साहित्य—विशेषतया हिन्दी-साहित्य—की परिस्थिति और गतिविधि पर विचार किये बिना उस पर लागू कर दिया जाता है। इस प्रसंग में हमें हिन्दी के आधुनिक साहित्य की अब तक की प्रगति पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

हिन्दी का आधुनिक युग लगभग सौ वर्षों का है। इस छोटी-सी अवधि में हिन्दी ने जितनी मंज़िलें तय की हैं और अपने क्षेत्र को जिस तेज़ी के साथ विकसित किया है, वह अपने में ही एक आश्चर्यजनक वस्तु है। हिन्दी के साहित्यकारों के सामने न केवल नई भावनाओं, विचार और शैलियों के ही व्यक्त करने की समस्या थी, बल्कि उसके साथ ब्रजभाषा के स्थान पर एक नई

साहित्यिक भाषा की प्रतिष्ठा का भी महत्वपूर्ण कार्य था जो प्रवाह, सामर्थ्य और गहराई में सांस्कृतिक और सामाजिक पुनर्जागरण की व्यापक और वेगवती चेतना का वहन कर सके। यह सत्य है कि प्रेरणा और गौरव के लिए हमारे पीछे अवधी तथा ब्रजभाषा के महान् आचार्य और मनीषी थे, परन्तु आज की प्रगति का आकलन करते समय हम यह नहीं भूल सकते कि (जहाँ तक साहित्य के वर्तमान स्वरूपों का सम्बन्ध है) सौ वर्ष पूर्व हमने लगभग शून्य से ही प्रारम्भ किया था।

इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रगति का बिलकुल दूसरा ही रूप दिखलाई पड़ता है। आज के साहित्यिक वातावरण और साहित्य-सृजन में कहीं-कहीं जो घुमाव और पेंच आ गये हैं, उनसे हताश होने अथवा घबराने का कोई कारण नहीं दीखता। चौरस भूमि पर फैलने वाले पानी की तरह साहित्य की ये उपधाराएँ भी, जो सीधी रेखा में नहीं बह रही हैं, सम्पूर्ण गति का अंग ही मालूम पड़ती हैं। ऐतिहासिक स्थिति की इस विशिष्ट भिन्नता के कारण 'गतिरोध', 'अन्धकार' अथवा 'अराजकता' की धारणाएं उस अर्थ में हिन्दी में लागू नहीं की जा सकतीं जिस प्रकार इनका प्रयोग समकालीन यूरोपीय साहित्य में होता है। यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो विशाल लहर उठी थी, वह आज उतार पर है। वहाँ के सांस्कृतिक जीवन में आज उस लहर की छितरी हुई अन्तिम बूँदें ही झलकती हैं। इसके विपरीत आज भारत ही नहीं, प्रत्युत सारे एशिया के सामने नई चेतना और नई आकांक्षाओं का प्रशस्त पथ है। हमारा झुटपुटा प्रभात का है, संध्या का नहीं।

आधुनिक हिन्दी-भाषा और साहित्य में निस्सन्देह वह नूतन प्रभात की स्फूर्ति और ताज़गी निरन्तर प्रतिफलित होती रही है। भारतेन्दु-युग, छायावाद का प्रारम्भिक काल और युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य में नई कविता के नये उत्थान में हम हिन्दी की अदम्य प्रगति के तीन महत्वपूर्ण चरणों का आभास पाते हैं। समकालीन वातावरण का विश्लेषण करते हुए हम एक सर्वथा नवीन तत्व के उदय से परिचित होते हैं। वह है हिन्दी के विभिन्न केन्द्रों में शक्तिशाली साहित्यिक गोष्ठियों का उदय। साहित्य के विकास में साहित्यिक वातावरण का एक विशेष महत्व होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रान्स और अन्य पाश्चात्य देशों की साहित्यिक प्रगति में इन गोष्ठियों का एक महत्त्वपूर्ण योग रहा है। किन्तु हिन्दी में इनकी एक और भी विशेषता है। फ्रेञ्च, जर्मन, अंग्रेज़ी आदि भाषाएँ राजधानी में केन्द्रित भाषाएँ हैं। इसीलिए पेरिस, बर्लिन और लन्दन का वातावरण इन साहित्यों की गतिविधि को अनुशासित करता रहता है। इसके लाभ भी हैं और हानि भी। केन्द्रित भाषा में विशेषीकरण

और परिमार्जन की प्रगति तीव्र होती है। इससे भाषा में निखार अवश्य आ जाता है, परन्तु साथ ही समरसता और सीमित क्षेत्र के कारण पतनोन्मुख पच्चीकारी का भी ख़तरा रहता है। उर्दू इसका एक दु:खद उदाहरण है। किन्तु आज हिन्दी का साहित्य-सृजन किसी एक नगर में केन्द्रित नहीं है। दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग, काशी, पटना, जबलपुर, हैदराबाद, बम्बई हिन्दी की कितनी ही राजधानियाँ हैं। इनमें से अधिकांश स्थानों में सांस्कृतिक और साहित्यिक गोष्ठियों का विकास हुआ है। इनका विशेष महत्व इसलिए है कि विभिन्न राजनीतिक उलझावों और दलगत संकीर्णताओं से उबरकर इन्होंने साहित्य के सृजन-पक्ष, उदार चिन्तन और सहानुभूति का आश्रय ग्रहण किया है। नूतन सृजन में प्रवृत्त पुराने साहित्यकार, या पिछले दिनों प्रकाश में आने वाले नूतन साहित्यिक हस्ताक्षरों में से बहुत से शनिवार समाज, नकेन गोष्ठी, लखनऊ लेखक-संघ, परिमल और उसकी शाखाएँ, चेतना, साहित्य-सहकार, सुहृद-संघ, साहित्यिक संघ आदि से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहे हैं। इन गोष्ठियों का उदय पिछले दशक की अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। इन्होंने न केवल नई और पुरानी पीढ़ियों के लेखकों को निकट लाने का कार्य सम्पन्न किया, वरन् नये लेखकों को उनके विकास के लिए घातक संकीर्णता से भरे हुए वातावरण से मुक्ति देकर एक ऐसी भावभूमि पर ला खड़ा किया जहाँ वे अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए भी सामाजिकता को आत्मसात् कर सकें। यही नहीं, वरन् उन्होंने उनके साहित्य को इस प्रकार आत्मकेन्द्रित और निर्वासित नहीं बनने दिया कि धीरे-धीरे वे अपनी भाषा की प्रेषणीयता भी खो बैठते; जैसा पाश्चात्य लेखकों की महायुद्धों के बीच वाली पीढ़ी के साथ हुआ।

भाषा और साहित्यिक वातावरण के विस्तार दबाव ने किस प्रकार हमारी गति को प्रभावित किया है, यह बात वर्तमान नई कविता के एक पक्ष पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगी। कई क्षेत्रों से गतिरोध का सबसे बड़ा आरोप नई कविता—विशेषतः प्रयोगशील कविता पर लगाया जाता है। प्रयोगशील कविता कई अर्थों में टेकनीक और अभिव्यंजना का आन्दोलन है। अंग्रेज़ी साहित्य में इसकी सीमारेखा एक ओर आस्कर वाइल्ड को छूती है, दूसरी ओर टी० एस० इलियट और डिलान टामस को। इस प्रकार नई कविता की तुलना अंग्रेजी के पतनशील (decadent) और कुण्ठित व्यक्तित्व के साहित्य से की जाती है। परन्तु अंग्रेज़ी पतनशील साहित्य और बीसवीं शताब्दी की अंग्रेज़ी कविता ने जहाँ भावभूमि को संकुचित किया, वहीं भाषा को भी कुछ अंशों में कृत्रिम और

संकुचित बना दिया। इसके साथ ही भावना और शब्दों में एक ऐसा असामंजस्य खड़ा हो गया कि भाषा के तार-तार बिखरते हुए जान पड़ने लगे। आज भी फ्रेञ्च और अंग्रेजी साहित्यकारों के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि तमाम पच्चीकारी और नारेबाज़ी के बाद शब्द अर्थहीन हो गये हैं। कारण यह है कि टेकनीक का यूरोपीय आन्दोलन अधिक-से-अधिक केन्द्रगामी होता गया है। इसकी परिणति रहस्यात्मकता, विशेषीकरण, और व्यक्तिगत शब्दावली (Personal Vocabulary) में हुई। इतने पर भी सन्तोष न हुआ तो टी० एस० इलियट ने अपनी कविता के एक-एक पृष्ठ में पचास पुस्तकों के सन्दर्भ पिरोये, एज़रा पाउण्ड ने अपने सर्गों में दुनिया-भर की भाषाओं की प्रदर्शिनी सजाई और कमिंग्ज़ ने तो शब्दों का पोस्टमार्टम ही कर डाला। जन-साधारण की वाणी इस अँधेरे कमरे में पहुँचकर स्वगत-भाषण और उसके बाद नींद की बड़बड़ाहट बन गई। इसी प्रकार पतनोन्मुख ब्रजभाषा की कविता और उर्दू में दाग़ की ग़ज़लों की सीमित भाषा भी गतिरोध की एक आवश्यक परिणति की ओर संकेत करती है। इसके विपरीत हिन्दी की युद्धोत्तरकालीन नई कविता की भाषा में लोकजीवन में प्रचलित, जीवन्त तथा समृद्ध शब्दों का प्रयोग एक मुख्य विशेषता है। प्रयोगशील कवियों ने जीवित शब्दावली में वृद्धि नहीं की है, ऐसा सम्भवतः अत्यन्त एकांगी और पक्षपातपूर्ण समीक्षक भी नहीं कहेंगे। शब्द और अर्थ के विषम असामंजस्य की समस्या हमारे यहाँ है ही नहीं, क्योंकि हिन्दी की ऐतिहासिक भूमिका यूरोपीय परम्परा से कुछ भिन्न है। प्रयोग और नये पदों की खोज की जिस लालसा ने अंग्रेज़ी और फ्रेञ्च कवियों के दायरे को सीमित कर दिया, उसी ने हिन्दी के कवियों को बोलियों की ओर मोड़ा और भाषा का परिष्कार किया।

भाषा का यह विकास केवल कविता के क्षेत्र में ही हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। हिन्दी-गद्य के परिष्कार में भी कई नूतन प्रवृत्तियों का आभास मिला है। सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी कृति से किसी का कुछ मतभेद क्यों न हो, किन्तु 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय की भाषा की परिपक्व लय, जैनेन्द्र के 'व्यतीत' में भाषा की सशक्त सादगी, रुद्र की 'बहती गंगा' में लोकभाषा की शब्दावली और जीवित मुहावरे, लक्ष्मीनारायण लाल के 'बया का घोंसला और साँप' की भाषा का खेतों की मिट्टी-जैसा सोंधापन, अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ के एक मुहल्ले की सजीव बोल-चाल, इलाचन्द्र जोशी के नये उपन्यासों में भाषा के पिछले उलझाव के स्थान पर सहज प्रवाह—ये सब हिन्दी-गद्य के नये मोड़ के परिचायक हैं। नये खेवे के व्यंग्यकारों की कृतियाँ

इस बात की परिचायक हैं कि हिन्दी अब सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं के लिए समर्थ होती जा रही है। व्यंग्य भाषा की अत्यन्त परिमार्जित अवस्था में ही सम्भव है और उसका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढ़ती हुई समृद्धि का प्रमाण है।

सम्भव है कि कुछ लोग, जिनका दृष्टिकोण साहित्यिक न होकर अन्यथा हो, भाषा-सम्बन्धी इस प्रगति के महत्व को न स्वीकार करें, किन्तु भाषा को सँवारने का उत्तरदायित्व गौण नहीं है। जिस प्रकार मूर्तिकार केवल अपनी कल्पना को ही नहीं सँजोता, वरन् उस मिट्टी के रासायनिक तत्वों का भी परीक्षण कर लेता है जिससे उसे मूर्ति गढ़नी है, उसी प्रकार भावभूमि के विकास के अतिरिक्त भाषा के विकास का प्रयास साहित्यिक प्रगति की दिशा में किया जाने वाला प्रयास है। हिन्दी के जिस भी लेखक का योग पिछले सौ वर्ष की इस नई साहित्यिक भाषा को सँजोने, सँवारने, निखारने और ढालने में रहेगा, हमारे साहित्य की आधुनिक भूमिका में वह प्रगतिशील ही कहलायेगा। इस स्पष्ट तथ्य को 'फ़ार्मलिज़्म' कहकर वे ही ठुकरा सकते हैं जिन्हें साहित्य की सूक्ष्म प्रकृति का परिचय नहीं है।

भाषा के बाद अब भावभूमि का प्रश्न आता है। आज गतिरोध-सम्बन्धी विवाद का केन्द्र भी यही है। इस सम्बन्ध में दी जाने वाली सारी दलीलों का तात्पर्य यह है कि उच्च साहित्यिक सृजन की सम्भावनाएँ समाप्तप्राय हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रतिपाद्य यूरोपीय समीक्षा में स्वयंसिद्ध नियमों की भाँति प्रचलित हैं जिनका सहारा हमारे समीक्षक भी आँख मूँदकर लेते हैं। उदाहरणार्थ, एक तर्क यह कि समाज में संकट एवं गतिरोध उत्पन्न हो गया है, अतः इससे सिद्ध होता है कि साहित्य में भी (जो सामाजिक वातावरण से बँधा हुआ है) यह गतिरोध अनिवार्य है। सामाजिक गतिरोध एवं संकट के तथाकथित समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर हम यदि ध्यान न भी दें, तो भी यह तर्क बड़ा ही विचित्र और विस्मयजनक है। इस प्रकार का यान्त्रिक तर्क कितना भ्रामक है, यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जर्मन-साहित्य के सम्बन्ध में एंगेल्स के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :

"पिछली शताब्दी के अन्त में जर्मनी की यही दशा थी। समूचा समाज सड़ाँध और जुगुप्साजनक क्षय से ग्रसित पिण्ड-मात्र था। किसी को चैन न था। देश का व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और कृषि शून्य हो गए थे। किसानों, व्यवसायियों और वस्तु-निर्माताओं पर व्यापारिक मन्दी और खून चूसने वाले शासन का दुहरा दबाव पड़ रहा था। सामन्त वर्ग का अनुभव था कि अपने

नीचे के वर्गों को चूसने के बावजूद भी उनकी आय उनके बढ़ते हुए व्यय की बराबरी कर पाने में असमर्थ थी। न जनसाधारण के विचारों को उत्प्रेरित करने का कोई साधन, न मुक्त समाचार-पत्र, न सामाजिक भावना, और न दूसरे देशों के साथ बढ़ता हुआ व्यापार ही—कुछ भी नहीं था, सिवाय नीचता और स्वार्थपरायणता के—एक निम्न, कुटिल और पतित दुकानदारी की भावना के, जो समस्त लोक-जीवन में व्याप्त हो गई थी। हर वस्तु जर्जर हो गई थी, टूटकर बिखर रही थी, तेज़ी के साथ खंडहर होती जा रही थी और किसी भी शुभ परिवर्तन की रंच-मात्र भी आशा नहीं थी, यहाँ तक कि राष्ट्र में इतनी भी शक्ति बाक़ी नहीं रह गई थी जो मृत प्रतिष्ठानों की सड़ती हुई लाश को ठोकर मारकर बाहर तो कर सके।

बेहतरी की एक-मात्र आशा देश के साहित्य में दिखलाई पड़ी। यह लज्जाजनक राजनीतिक और सामाजिक युग साथ-ही-साथ जर्मन-साहित्य का महान् युग भी था। सन् १७५० तक जर्मनी के लगभग सभी महान् आचार्यों का जन्म हो चुका था—गेटे और शिलर-जैसे कवि, कांट और फ़िख़्टे-जैसे दार्शनिक और मुश्किल से बीस ही वर्ष बाद जर्मनी का अन्तिम महान् तत्व-वेत्ता हीगेल।"[1]

एंगेल्स के इस कथन से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक संकट साहित्य में गतिरोध के रूप में ही अपने को प्रतिफलित करे। यह यान्त्रिक अर्थवादी दृष्टिकोण है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं। कई स्थलों पर मार्क्स ने यह संकेत किया है कि मानवीय चेतना आर्थिक परिस्थितियों से निर्मित होती है, किन्तु फिर वह उनको अनुशासित भी करती है, उनके विरुद्ध संघर्ष भी करती है और उनका पुनर्निर्माण भी करती है। इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए लेखक मार्क्सवादी ही हो, यह आवश्यक नहीं। साहित्यकार में एक सहज मानवीय संवेदना होती है जो लोक-जीवन में व्याप्त विषाद, खिन्नता, पीड़ा और कातरता को ग्रहण करके उसे वाणी देती है। समाज में चाहे जितना संकट हो, किन्तु साहित्य में संकट तभी आता है जब साहित्यकार वेदना को आत्म-सात् करने में असमर्थ हो जाता है, जब उसका लोक-संवेदना से आन्तरिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, जब उसकी सामाजिक जड़ें उखड़ जाती हैं और जब वह एक छोटे-से दायरे में सीमित हो जाता है। देखना यह है कि क्या हिन्दी में कुछ ऐसे लेखक हैं जो इस दायरे में आबद्ध हो गए हैं? यदि हाँ, तो यह गतिरोध उनका गतिरोध है, व्यापक हिन्दी-साहित्य का नहीं।

---

१. प्रो० एंगेल्स—'द नार्दर्न स्टार', २२ अक्टूबर, १८४५

पिछले दस वर्षों की साहित्यिक गतिविधि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हिन्दी-लेखकों का एक छोटा-सा वर्ग साहित्य की व्यापक जनवादी चेतना का आधार छोड़कर दिनों-दिन एक सीमित दायरे में बँधता चला गया ।[1] इसका कारण यह था कि वह प्रगतिशील न होकर दलानुशासित था, व्यापक सामाजिक मूल्यों के बजाय किसी विशेष दल की सामयिक नीति को साहित्य-सृजन का आधार मान बैठा था । जो भी उसके सीमित दायरे में नहीं आ सका, उसका उसने विरोध किया और परिणामस्वरूप हिन्दी के व्यापक जनवादी साहित्यिक वर्ग से विच्छिन्न, अपने ही वृत्त में सीमित वह एक छोटा-सा गुट रह गया जिसमें ले-देकर सात-आठ लेखक थे, बस ।[2]

हिन्दी की व्यापक प्रगतिशील निर्माणपरक धारा से इनके कटकर अलग हो जाने के मूल में एक राजनीतिक विरोधाभास है । जिस दल की राजनीति इनकी प्रेरणा रही है, उसकी व्याख्या के अनुसार गांधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वातन्त्र्य-संग्राम भारतीय जनता का स्वातन्त्र्य-संग्राम न होकर भारतीय पूँजी का स्वातन्त्र्य-संग्राम था । उपनिवेशों अथवा अर्द्ध-उपनिवेशों में चलने वाला वास्तविक स्वातन्त्र्य-संग्राम उसी दल के नेतृत्व में लड़ा जा सकता है, अन्यथा नहीं । किन्तु अगस्त, सन् १९४७ में जो कुछ हुआ, उसमें इस दल का कहीं नाम-निशान भी न था । अतः तर्क उन्हें यह बताता है कि भारत आज़ाद हुआ ही नहीं । किन्तु उनके इस भ्रमपूर्ण अयथार्थ तर्क ने उन्हें राजनीति से तो अपदस्थ किया ही, चूँकि उनके लेखक भी राजनीति से बँधे थे, अतः वे साहित्य से अपदस्थ हो गए : "जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में हम देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के अन्दर, जिसका नया दौर १५ अगस्त-सन् १९४७ के बाद शुरू हुआ, अपना राजनीतिक असर नहीं क़ायम कर सके, उसी तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी हम अपने जनवादी, साम्राज्य-विरोधी,

---

१. हमारा आधार बिलकुल संकुचित हो गया है और हम सभी नये और पुराने हिन्दी-लेखकों से कटकर अलग जा पड़े हैं और महज़ एक गुट बनकर रह गए हैं······यह हमारी वामपक्षी संकीर्णता ही थी जिनके कारण हम आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माण की मुख्य धारा से कटकर अलग जा पड़े । (अमृतराय—'साहित्य में संयुक्त मोर्चा', पृष्ठ ८, ९)

२. आज समूचे हिन्दी-साहित्य के पैमाने पर प्रगतिशील लेखक का मतलब होता है रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पहाड़ी, अमृतराय, नागार्जुन, केदार, शंकर शैलेन्द्र······और बस ! (वही—पृष्ठ ९)

सामन्त-विरोधी साहित्य-आन्दोलन के अन्दर अपना असर नहीं क़ायम कर सके।"[१]

उन्होंने अपनी यह स्थिति महसूस की। आत्मालोचन के नाम पर उनमें से दो-चार के जो साहसपूर्ण वक्तव्य आये, उनमें उनके दर्द, उनकी निराशा और उनकी अमूल्य प्रतिभा के लगातार दुरुपयोग की बड़ी वेदनापूर्ण झलक मिली। वे एक छलावे में घिर गए थे। वह सारा वातावरण साहित्य-निर्माण के लिए घातक था और महत्त्वाकांक्षाओं तथा प्रतिद्वन्द्विताओं से विषाक्त था। इस सम्बन्ध में श्री पूरनचन्द्र जोशी ने लिखा है : "महत्वाकांक्षी या नासमझ लोगों को उत्साहित किया गया, या उनका उपयोग किया गया कि वे इन संस्थाओं के नेताओं और अधिकांश कार्यकर्ताओं को नैतिक रूप से जर्जर करें।"[२] लेकिन केवल नीति बदलना पर्याप्त नहीं था। उनकी नीति का आधार इतिहास के एक बड़े तथ्य का निषेध ही था। वे भारतीय स्वतन्त्रता को सत्य नहीं स्वीकार करना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि एक ओर वे किसी भावी कल्पित क्रान्ति पर अपनी आस्था जमाना चाहते थे, दूसरी ओर राष्ट्रीय जीवन में उनके नेताओं की विफलता और इतिहास तथा साहित्य से उखड़ती हुई उनकी जड़ें, इन दोनों ने उनके मन में एक भयानक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिया था। इस अन्तर्विरोध का शमन करने के लिए भी उनके सामने एक निषेधात्मक धारणा थी—यथार्थ का निषेध, भारतीय जनवादी संग्राम की विजय का निषेध; और केवल निषेध पर आधारित रहकर आज तक कोई भी, कभी भी स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर पाया है।

इस निषेधात्मक स्थिति से खिन्न होकर हिन्दी की प्रमुख निर्माणात्मक साहित्य-धारा से सम्बद्ध होने के लिए उन्होंने 'न्यूनतम कार्यक्रम' का सुझाव रखा जिसके आधार पर वे अन्य बहुसंख्यक जनवादी लेखकों के साथ मिल-कर अपने गतिरोध से मुक्त हो सकें। लेकिन साहित्य में 'न्यूनतम कार्यक्रम' को वह सफलता नहीं मिल सकती जो राजनीति में कभी-कभी मिल जाती हैं। यहाँ 'न्यूनतम कार्यक्रम' के अर्थ हैं दो-चार ऐसे विषय, या दो-चार ऐसी मान्यताएँ, जिन पर सब एकमत हो सकें। लेकिन विराट् मानव को, अगणित दृष्टियों से मापने वाला उच्च स्तर का, विविध रूपों में प्रस्फुटित होने वाला स्थायी साहित्य दो-चार ऐसे विषयों में सीमित नहीं हो सकता जो किसी मीटिंग में प्रस्तावों द्वारा मंजूर कर लिए गए हों। यह धारणा जितनी

---

१. अमृतराय—'साहित्य में संयुक्त मोर्चा', पृष्ठ ३५

२. 'फॉर ए मास पालिसी',—पृष्ठ १०

हास्यास्पद है, यह अवस्था उतनी ही दयनीय। दो वर्षों के आत्मालोचन के बाद भी उनका संकट ज्यों-का-त्यों है। वे एक संकीर्णता से छूटते हैं तो दूसरी में जा उलझते हैं। श्री अमृतराय के कथन से हम सहमत हैं कि वे संख्या में बहुत नहीं हैं, किन्तु उनका संकट शायद सबसे तीखा और दर्दनाक है, और यह स्वाभाविक है कि रह-रहकर उन्हीं के बीच से गतिरोध की आवाज़ उठे।

एक दूसरे प्रकार का गतिरोध उन लेखकों के मन में है जो सिद्धान्त, मान्यता, रचना, कर्म प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रतिक्रियावादी हैं। इनमें से कुछ तो पुनरुत्थानवादी हैं। पुनरुत्थानवाद किसी देश के पुनर्जागरण-युग का पहला चरण होता है। प्रारम्भ में सांस्कृतिक नवजीवन के लिए सहायक होता है, परन्तु बाद में रास्ते की अड़चन बन जाता है। अर्द्ध शताब्दी पूर्व जो नई चेतना देश में आई, आज उसमें पाश्चात्य-पूर्वीय सांस्कृतिक धाराएँ पचकर एक हो गई हैं। आज जब इसका अवसर आया है कि हिन्दी का वर्तमान साहित्यकार इस संकुचित भूमि को छोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सन्तुलित दृष्टिकोण के आधार पर निर्माण करे तो निश्चय ही यह निरर्थक विवाद साहित्य-सृजन की शक्ति को क्षीण करेगा। वस्तुतः यह दृष्टिकोण नये सिरे से साहित्य में नये रास्तों की खोज के विरुद्ध ही है। ज़ाहिर है कि इन्हें न अतीत ही मिल पाता है, न वर्तमान ही; और भविष्य की ओर तो ये आँखें उठाकर देखते भी नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ अति आधुनिक ऐसे भी हैं जिन्होंने वास्तविकता के आगे घुटने टेक दिए हैं और व्यक्ति की मानसिक अस्वस्थता को ही सबसे उपादेय सत्य स्वीकार कर चुके हैं। इनमें सोचने की क्षमता तो है, परन्तु इच्छा और साहस नहीं। भँवर की प्रतिक्षण नीचे ले जाने वाली गति ही इनके लिए आकाश की उड़ान है। यही वर्ग है जो पाश्चात्य पतनशीलता के सबसे निकट है।

परन्तु ये दोनों ही स्वर हिन्दी के प्रमुख स्वर नहीं हैं। इन दोनों के ऊपर विशाल निर्घोष की तरह फैलता हुआ हिन्दी के अधिकाधिक साहित्यकारों का एक तीसरा स्वर है जिसके सामने उचित प्रतिभा होने पर कोई गतिरोध नहीं है। इस स्वर में विविधता है, वैचित्र्य है और अपना-अपना अनुभूत सत्य है। किसी योजना में समन्वित 'म्यूज़िक कन्सर्ट' की तरह उनकी आवाज़ में प्रत्यक्ष अथवा प्रतिबन्धित एकसूत्रता नहीं है और न इसकी आवश्यकता ही है। फिर भी, कहीं दूर से गुज़रने वाले विशाल जुलूस के विभिन्न स्वरों में जो एक हल्का किन्तु निश्चित सामंजस्य होता है, वही इस व्यापक प्रगतिशील वर्ग की वाणी में है। इस वाणी का आधार किसी भी विशेष दल की चलायमान नीति न होकर भारतीय जनता का सामाजिक पुनर्निर्माण के

प्रति वह महान् अभियान है जो आज एशिया, यूरोप, अमरीका और अफ्रीका के विशाल महाद्वीपों के समकालीन इतिहास को प्रभावित कर रहा है। इस वाणी का आधार हमारी वह महान् शान्तिवादी परम्परा है जिसने आज दोनों शिविरों के राष्ट्रों के सम्मुख एक नया नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस वाणी का आधार भारतीय जनता का वर्तमान अभाव, पीड़ा, संकट, दारिद्रय और दु;ख की चेतना है और उससे मुक्त होने के लिए उसका जो प्रजातान्त्रिक प्रयास है, उसमें इन नये लेखकों की अटूट आस्था है। वे लोग, जो हिन्दी की इस नई चेतना का सही आकलन नहीं कर पाते, यह भूल जाते हैं कि आज हिन्दी में वह पीढ़ी उभर कर आयी है जिसने सन् ४२ में विश्व के महान् समाजवादी षड्यन्त्र के विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्ति का आह्वान किया था। वह पीढ़ी आज दस वर्ष बाद अपनी परिपक्व लेखनी को भारतीय जन-संस्कृति के नव निर्माण के लिए अर्पित कर रही है। उसका अदम्य उत्साह निर्माणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। उसने क्रान्ति का पाठ पढ़ा है, किन्तु रक्तपात में अन्धी होकर मानव-मूल्यों का विस्मरण नहीं किया है।

वास्तव में आकलन में भूल तब होती है जब हम भारतीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति को यूरोपीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति के समानान्तर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। युद्ध को भारतीय जनता ने उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया, न उससे यथावत् उस रूप में प्रभावित ही हुई जिस रूप में यूरोप प्रभावित हुआ। हमारे लिए ४२ का विद्रोह, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नर-संहार, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति, भारत का बढ़ता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय महत्व और गाँधी-विनोबा की वैष्णव राजनीति और भारतीय जनता का दुःख अधिक निकट के सत्य हैं जिन्होंने नई पीढ़ी की चेतना में जहाँ एक ओर सामाजिक और साम्प्रदायिक वैषम्य के प्रति पीड़ा जागृत की है, वहीं अपनी जनता के भविष्य के प्रति एक अदम्य आस्था और विश्वास भी जगाया है। यूरोपीय मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग की भाँति हूबहू हममें वह चारित्रिक अराजकता, अनास्था, व्यक्तित्व का बिखराव आ गया है, ऐसा कहना न केवल कुत्सित समाजशास्त्रीयता है, वरन् हद दर्जे की निराशावादिता है। साहित्यिक चेतना को इतिहास के मानदण्डों पर कसने वाले को यह तथ्य पूर्णतया हृदयंगम कर लेना चाहिए कि युद्ध के बाद का भारत आज़ाद, प्रजातान्त्रिक पद्धति का भारत है। निश्चय ही हम पूर्ण अनास्था, हताशा और श्रम-विच्छेद के युग से नहीं गुज़र रहे हैं, हमारी सांस्कृतिक जड़ उखड़ी नहीं हैं; वे और भी गहरी पैठ रही हैं, ऊपर की पुनरुत्थानवादी पर्त को तोड़कर अपनी संस्कृति के व्यापक जनवादी और लोकपरक तत्वों

तक पहुँच गयी हैं। यूरोपीय अराजकता का आरोप हम पर करना अवैज्ञानिक है। हम फिर वही वाक्य दोहराना चाहेंगे कि हमारा झुटपुटा प्रभात का है, सन्ध्या का नहीं।

किन्तु इस नई आस्था ने इन लेखकों की आँखों के सामने किसी विभ्रम-मय, काल्पनिक, अवैज्ञानिक स्वप्न-लोक का सृजन नहीं किया है। इस नई आस्था ने उन्हें एक नूतन यथार्थ के प्रति जागरूक बनाया है। वे अभाव से पीड़ित किन्तु राजनीतिक दासता से मुक्त भारतीय जनता की पीड़ा भी पहचानने का प्रयास कर रहे हैं और साथ ही उसकी प्रगति और उसकी मुक्ति में उनका अदम्य विश्वास भी है। यद्यपि यह भी ठीक है कि उन सबकी प्रतिक्रिया एकरूप नहीं है, क्योंकि वे दलानुशासित नहीं हैं। अभाव और प्रगति की इस मिली-जुली स्थिति से प्रत्येक साहित्यकार अपने ढंग से, अपनी रुचि से सत्य और सौन्दर्य के तत्व ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। किसी में विद्रोह का स्वर तीखा है, किसी में निर्माण का। पर आस्थावान वे सब हैं। यही नहीं, वरन् उनकी आस्था उस क्षण के वर्तमान में भी सजीव है। वे भविष्य की किसी अघटित घटना की प्रतीक्षा में हाथ-पर-हाथ धरे नहीं-बैठे हैं। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय एकता और जनवादी संस्कृति के पुनर्निर्माण की जो नींव पड़ेगी, उसका समय आज ही है, किसी परिकल्पित क्रान्ति के बाद नहीं। इन लेखकों का विश्वास है कि जनतन्त्र की स्थापना का जो प्रयोग हमारे देश में किया जा रहा है, तमाम दोषों के बावजूद भी वह शुभ है और सही रास्ता है। नये विकास की शक्तियों को पूरी तरह आगे बढ़ने का पूरा अवसर नहीं मिल पाया है। इसके कई सामाजिक और राजनीतिक कारण हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष हरगिज़ नहीं निकलता कि वे शक्तियाँ हैं ही नहीं या इतनी शक्तिहीन हैं कि मुट्ठी-भर प्रतिक्रियावादी वर्ग कोई ऐसा षड्यन्त्र कर बैठे कि आगे का रास्ता ही रुक जाय। सबसे मुख्य बात यह है कि इन लेखकों को जनता की प्रजातन्त्रवादी निर्णयात्मक शक्ति पर पूरा भरोसा है कि अपनी सामूहिक आवाज़ से वह अपना पथ-निर्देश कर सकती है। इसके लिए किसी आभिजात्य वर्ग की आवश्यकता नहीं जो तानाशाही स्थापित करके उसे भेड़ की तरह हाँके। आज के सांस्कृतिक प्रयास का ध्येय जनतन्त्र एवं नवजीवन में सार्थकता लाने का है। इसीलिए साहित्य का स्वर विधेयात्मक होगा, ध्वंसात्मक नहीं। यही नहीं, वरन् राजनीतिक दलों द्वारा विकीर्ण असहिष्णुता का परित्याग करके राष्ट्रीय एकता, हिन्दी-भाषा के राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और साहित्य के सामाजिक मूल्यों के प्रश्न पर सभी लेखक एक हों, जो किसी कारण से मुख्य धारा से कट गए हैं, उन्हें भी अपने विशाल वृत्त में

समेट लिया जाय, यह हमारा गुरुतर दायित्व है। दलानुशासित लेखकों का भी राजनीतिक पूर्वग्रह कुछ भी हो, उनका अनुभूत सत्य व्यापक प्रगतिशील चेतना से अलग नहीं है। इस विश्वास के यथेष्ट प्रमाण हैं कि अधिकतर साहित्यकार इस उत्तरदायित्व का अनुभव कर रहे हैं। एक तरफ़ तो भाषा को अधिक लचीली और शक्तिशाली बनाने का भारी काम है, दूसरी ओर एक आशामय मानवतावाद द्वारा जन-जीवन की सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध करने का प्रश्न है।

जिन लेखकों के सामने भावभूमि और भाषा का इतना बड़ा अविजित साम्राज्य पड़ा हो, उनके लिए गतिरोध का प्रश्न ही क्या? उन्हें तो सब-कुछ जीतना ही है, हारना कुछ भी नहीं।

जुलाई, १९५३

मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति

मार्क्स और एंगेल्स मूलतः आर्थिक-राजनीतिक विचारक हैं। मार्क्स और एंगेल्स की साहित्य में गहरी दिलचस्पी थी और कहा जाता है कि मार्क्स ने बालज़ाक की विस्तृत समीक्षा लिखने का विचार भी किया था, परन्तु राजनीतिक व्यस्तताओं के कारण यह संकल्प पूरा न हो सका। यदि यह संकल्प पूरा होता तो बहुत शुभ होता, क्योंकि तब हमें मार्क्स की प्रणाली का विस्तृत रूप समझने को मिलता। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की पद्धति में कला, विशेषतः साहित्य का क्या स्थान है, इसे जानने के लिए आज हमारे पास मार्क्स की साधारण विचारधारा, सामाजिक-आर्थिक ग्रन्थों में आये हुए कला अथवा साहित्य-सम्बन्धी छिट-पुट उल्लेख तथा पत्रों और सामयिक समीक्षाओं में साहित्यिक कृतियों अथवा साहित्यकारों पर प्रकट किये हुए संक्षिप्त विचार, इतनी सामग्री ही उपलब्ध है। स्पष्ट है कि साहित्य और सौन्दर्य जैसे विशिष्ट विषय की समीक्षा के लिए, जिसमें मात्रा एवं आग्रह-मात्र के भेद से पद्धति और विश्लेषण में भारी अन्तर पड़ जाने की सम्भावना रहती है, इतनी सामग्री पर्याप्त नहीं है। इसलिए मान्यताओं की स्थापना में थोड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

सबसे पहले मार्क्स की मानव-चेतना-सम्बन्धी साधारण विचारधारा को ही लें। इस सम्बन्ध में उनके आधार और प्रासाद वाले रूपक से सभी परिचित हैं। आजकल अधिकतर कम्युनिस्ट समालोचना में इस उदाहरण की ही बाढ़ दिखलाई पड़ती है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को 'क्रिटीक ऑफ़ पोलिटिकल एकानामी' में व्यक्त किया है :

"उत्पादन-सम्बन्धों के कुल जोड़ से समाज का आर्थिक ढांचा बनता है जो असली आधार है और उसी के ऊपर क़ानूनी और राजनीतिक प्रासाद खड़ा होता है जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित स्वरूप बनते हैं। भौतिक जीवन से उत्पादन की प्रणाली ही सामान्यतः सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं का नियमन करती है। लोगों की चेतना उनकी अवस्था का नियमन नहीं करती, बल्कि उनकी सामाजिक अवस्था ही

उनकी चेतना का नियमन करती है।" लेकिन यह 'नियमन' करने की क्रिया मार्क्सीय पद्धति में उतनी आसान और सीधी नहीं है जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। साधारण ढंग से हम यों कह सकते हैं : राजनीति, विधान, धर्म, दर्शन, साहित्य और कला आदि उच्च मानसिक क्षेत्रों में हम समाज के नक़्शे की छाप देख सकते हैं। यह छाप कहीं सीधी है तो कहीं इतनी धुँधली और अपरिचित कि पहचानना कठिन हो जाता है। फिर ये बौद्धिक या मानसिक प्रक्रियाएँ बराबर अपनी सामाजिक जड़ों से दूर होती जाती हैं, अपना अलग वर्ग स्थापित करती हैं, अपने स्वतः विकासमान नियम बनाती हैं और स्वयं सामाजिक आधार को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार सामाजिक संगठन की छाप में भारी अन्तर पड़ जाता है। ऐसी दशा में मार्क्स का विशेष आग्रह इस बात पर है कि हर बौद्धिक प्रवाह या प्रक्रिया की गति को 'हर दृष्टान्त में अलग-अलग व्यावहारिक और प्रयोगशील अनुशीलन के आधार पर, बिना किसी रहस्यात्मकता या दिमाग़ी उड़ान के' समझा और देखा जाय।

चेतना-प्रक्रिया के कुछ स्वरूप आधार के अधिक निकट होते हैं और कुछ दूर। "जिस क्षेत्र का हम अनुशीलन कर रहे हैं, वह आर्थिक जगत् से जितनी ही दूर और शुद्ध कल्पनात्मक विचारधारा के जितना ही निकट होगा, उतना ही उसके विकास में हमें आकस्मिक घटनाओं का आधिक्य दिखलाई पड़ेगा, उतने ही उसकी रेखा में हमें घुमाव-फिराव नज़र आयँगे।"[१] इस प्रकार सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से बौद्धिक प्रक्रिया के स्वरूपों के एक सोपान की कल्पना की गई है। इस बात का याद रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, मार्क्सवाद के उत्तराधिकारियों ने धीरे-धीरे इन सोपानों के अंजर-पंजर ढीले कर दिए और प्रगतिवाद तथा सामाजिक यथार्थ के नाम पर ऊँची उड़ानों को ज़मीन पर रेंगने के लिए विवश कर दिया।

'लुडविग फ़ायरबाख' में एंगेल्स की यह सोपानमूलक कल्पना स्पष्ट है। इसके अनुसार विधान और राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र 'आधार' के सबसे निकट है। इनसे भी "ऊँची उड़ने वाली विचारधाराएँ, अर्थात् वे जो आर्थिक आधार से और भी दूर हैं, धर्म और दर्शन का रूप ग्रहण करती हैं।" अथवा "धर्म भौतिक जीवन से सबसे अधिक दूर है और उससे सबसे अधिक अलग मालूम पड़ता है।"[२] धर्म की विवेचना में एंगेल्स ने दो मार्के की बातें कही हैं। जहाँ

१. फ्रेडरिक एंगेल्स : हान्ज़ स्टार्केनवर्ग के नाम पत्र, २५ जनवरी १८९५।

२. एंगेल्स : 'लुडविग फ़ायरबाख़'।

तक "विचारधारा के उन स्वरूपों का सम्बन्ध है जो हवा में और ऊँची उड़ान मारते हैं, जैसे धर्म, दर्शन आदि, इनके पीछे एक प्रागैतिहासिक पूँजी होती हैं, जिसे हम आज निरर्थक कल्पना ही कह सकते हैं और यह पूँजी ऐतिहासिक युग में भी चालू रहती है।...इस तमाम आदिकालीन ऊल-जलूल के लिए आर्थिक कारण खोजना या उसमें सिर खपाना निस्सन्देह पांडित्य-प्रदर्शन की सीमा होगी।"[१] दूसरी बात यह कि "इसलिए : एक बार जब धर्म बन जाता है तो उसमें हमेशा रूढ़िगत तत्व उपस्थित रहते हैं, जिस तरह सभी चेतना-क्षेत्रों में रूढ़ि एक ज़बरदस्त परम्परावादी शक्ति का काम करती है।"[२] साहित्य और कला के इतिहास में 'धर्म और दर्शन' तथा रूढ़ियों की 'परम्परावादी शक्ति' का कितना हाथ है, यह 'व्यावहारिक और प्रयोगशील अनुशीलन' का विषय है, 'दिमाग़ी उड़ान' का नहीं।

इस सोपान में कला और साहित्य का स्थान कहाँ है? ग्रीक कला का विवेचन करते हुए मार्क्स ने कहा है : ग्रीक कला, ग्रीक पुराण को पहले मानकर ही चलती है।...यह तथ्य सर्वविदित है कि ग्रीक-पुराण न केवल ग्रीक-कला का कोष था बल्कि वह धरती थी जिससे वह निकली और फली-फूली।"[3] यह याद रखने की बात है कि यह धर्म अथवा पुराण वही 'उल-जलूल' है जिसकी हर सूरत के लिए 'आर्थिक कारण' नहीं खोजा जा सकता और जो आर्थिक आधार से बहुत दूर क्या 'सबसे अधिक दूर' है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता धर्म से भी एक सीढ़ी ऊपर है। प्लेखानाव और काडवेल ने भी इसको माना है, यद्यपि उनके रास्ते अलग-अलग हैं। यहाँ काडवेल के विश्लेषण के एक पहलू का ज़िक्र करना दिलचस्प होगा। काडवेल ने पुराण के दो युग माने हैं। एक भेदहीन आदिकालीन साम्यवादी समाज का युग: इसमें पुराण जीवित रहता है अर्थात् हर नये अनुभव के साथ उसमें नये देवी-देवता, नई अलौकिक लीलाएँ जुड़ती चलती हैं। काडवेल के अनुसार वहाँ पुराण और काव्य एक-दूसरे से एकात्म होते हैं। दूसरा युग वह है जब समाज वर्गों में बँट जाता है। यहाँ पुराण जड़ हो जाता है। नये देवी-देवता अब उसमें नहीं जुड़ सकते और पुराने देवताओं या लीलाओं के लिए भी एक सचेत-प्रक्रिया 'विश्वास' या 'आस्था' की आवश्यकता हो जाती है, जिसका आधार शासकवर्ग की शक्ति होती है। यहाँ से कविता

३. एंगेल्स : कानराड श्मिट, को पत्र, २७ अक्तूबर १८९०।

४. एंगेल्स : 'लुडविग फ़ायरबाख़'।

१. मार्क्स : 'क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकानामी'।

और पुराण के रास्ते अलग हो जाते हैं। भारतीय समाज का इतिहास यूरोप के तथाकथित मार्क्सवादियों को किस प्रकार पग-पग पर झुठलाता है इसका यह एक अच्छा उदाहरण है। काडवेल ने शायद यह कभी सुना भी न होगा कि भारत नाम के इस विचित्र देश में अठारह पुराणों का जन्म वर्ग-समाज के अन्दर हुआ, तैंतीस करोड़ देवता बने (और एक से एक काव्यमय), गौतम बुद्ध ईश्वर के अवतार हो गए, जयचन्द, विद्यापति और सूरदास-जैसे कवियों ने मिलकर राधा नाम की एक नई देवी की स्थापना कर दी, तुलसीदास ने 'मानस' में एक नया ही पुराण बनाकर खड़ा कर दिया। और न जाने कितनी और ऐसी रंग-बिरँगी कल्पनाएँ उभरीं, चमकीं और जनता के गले का हार बन गईं—और इस सबके लिए न तो किसी शासकवर्ग की आवश्यकता पड़ी, न किसी केन्द्रित चर्च-संगठन की, न ऊपर से लादे हुए 'विश्वास' की।

भारत के पूरे इतिहास में अंग्रेज़ों के जड़ जमाने के पहले जीवन्त पौराणिक आख्यानों के निर्माण का काम कभी बन्द नहीं हुआ। साथ ही, आदिम जातियों के समाज की तरह पुराण और काव्य में पूरा एकात्म भी नहीं रहा। दोनों काव्यमय हैं, जीवन्त हैं। घुल-मिल भी जाते हैं। साथ ही अलग-अलग भी प्रवाहित होते हैं। परन्तु शुद्ध काव्य और पुराण में कालान्तर नहीं है।

इस्लाम के अभ्युदय और मध्यकालीन फ़ारसी काव्य में इन दोनों से अलग एक दूसरा ही दृश्य दिखलाई पड़ता है। यहाँ एक सिरे से पौराणिकता है ही नहीं, या है भी तो केवल स्वाद चखने-भर को। फ़िरदौसी ने शाहनामे में कुछ मिलती-जुलती चीज़ खड़ी भी की, जो नमूना बनकर रह गई।

यह कहना कि साहित्य समाज पर आधारित है एक बात है, कि साहित्य समाज की अनुकृति है, दूसरी बात है, और साहित्य सामाजिक यथार्थवाद है तीसरी और बिलकुल भिन्न बात है। पहला निष्कर्ष यह है कि मार्क्स और एंगेल्स के विचार से साहित्य समाज पर आधारित है; उसे हम उसकी छाया भी कह सकते हैं, लेकिन यह बहुत ही बिगड़ी हुई, शायद चेतना के अन्य स्तरों की अपेक्षा सबसे अधिक बिगड़ी हुई छाया है और आर्थिक विकास से उसकी समानान्तरता उतनी ही स्पष्ट होगी "जितना लम्बा युग और जितना चौड़ा क्षेत्र हम अध्ययन के लिए लें।"[1]

साहित्यिक प्रतिच्छाया में यह परिवर्तन, विकृति या बिगाड़ क्यों पैदा होता है? साहित्य ही क्यों, चेतना के अन्य स्वरूपों में भी यह विकृति क्यों उत्पन्न होती है? मार्क्स और एंगेल्स का उत्तर स्पष्ट है। इसलिए कि चेतना

१. एंगेल्स : स्टार्कॅनबर्ग को पत्र, २५ जनवरी १८९४।

के विकास की दिशा का निरूपण उसके विकास के नियम भी करते हैं। जितने वेग और स्वच्छन्दता के साथ ये नियम काम करते हैं उतना ही छाया में अन्तर पड़ता जाता है और जितना ही चेतना का स्वरूप 'ऊँची उड़ानें' लेगा, उतनी ही इन नियमों की क्रियाशीलता बढ़ती जायगी। कानून के क्षेत्र में भी, जो एंगेल्स के अनुसार सामाजिक आधार के सर्वाधिक निकट है, यह विकृति पैदा होती है। "आधुनिक राज्य में क़ानून को न केवल सामान्य आर्थिक अवस्था का अनुसरण और उसकी अभिव्यक्ति करना पड़ता है, बल्कि उसे एक ऐसी अभिव्यक्ति भी होना पड़ता है जो 'अपने में तर्क संगत' (ज़ोर एंगेल्स का) हो और जो अपने अन्तर्विरोधों के कारण स्पष्टत: असंगत न मालूम पड़े और इस संगति को प्राप्त करने के लिए आर्थिक स्थितियों की प्रतिच्छाया में अधिक-से-अधिक कॉट-छॉट होती जाती है।"[१] 'यह अपने में तर्कसंगत' अगर स्वत:सिद्ध नियम नहीं है तो क्या है?

आर्थिक विकास के अतिरिक्त, उसके वावजूद, और उसके साथ साहित्य में काम करने वाले ये अन्य नियम क्या हैं? यहीं पर इसका ख़याल आता है कि अगर मार्क्स बालज़ाक पर पुस्तक लिखने का संकल्प पूरा करता तो बड़ा ही शुभ होता। क्योंकि यह अध्ययन और अनुशीलन का एक अलग ही क्षेत्र है। लेकिन फिर भी मार्क्स-एंगेल्स का दृष्टिकोण उस सम्बन्ध में स्पष्ट है। स्वयं आर्थिक-उत्पादन के क्षेत्र में मार्क्स का कहना है : "जानवर सिर्फ़ अपनी जाति की माप और आवश्यकता के अनुसार निर्माण करते हैं, जबकि आदमी हर जाति की माप के अनुसार निर्माण करता है और हर जगह तद्विषयक अन्तर्वर्ती माप प्रस्तुत कर सकता है। इसलिए आदमी सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी निर्माण करता है।"[२] ये सौन्दर्य के नियम जो आर्थिक क्षेत्र में भी दिखलाई पड़ रहे हैं, हज़ारगुने वेग से साहित्य के क्षेत्र में काम करते हैं। मार्क्सवादी आलोचक का यह महान् उत्तरदायित्व है कि उनका अध्ययन और अनुशीलन करे और उनके आधार पर साहित्य के इतिहास को समझे और आज तथा भविष्य में साहित्य की दिशा तथा उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में मत व्यक्त करे; क्योंकि ये नियम ही साहित्य को साहित्यिकता प्रदान करते हैं; उसे अन्य मानसिक अभिव्यक्तियों से विशिष्टता प्रदान करते हैं—ये ही नियम, जिनका सारा ज़ोर सामाजिक प्रतिच्छाया को बिगाड़कर बदल देने ही में लगता है।

---

१. एंगेल्स : कानराड श्मिट को पत्र, २७ अक्टूबर १८९०।

२. मार्क्स : 'इकनामिक फ़िलसाफ़िक मेनुस्क्रिप्ट'।

साहित्य में प्रवृत्तिवाद के सम्बन्ध में एंगेल्स का मत छाया के परिवर्तन के महत्व को और भी स्पष्ट कर देता है। 'प्रवृत्ति' अपने शुद्ध रूप में वह सामाजिक सत्य की सीधी छाया ही है, जो कम्युनिस्ट आलोचकों को बहुत प्यारी है। एंगेल्स की साफ़ राय है कि 'प्रवृत्ति' की स्पष्टता साहित्य के लिए अहितकर है। "तुम्हारे उपन्यास के दोष की जड़, उसी उपन्यास में ही है। साफ़ लगता है कि तुम्हें लोगों के बीच अपने सिद्धान्तों की घोषणा करने की आवश्यकता महसूस हो रही है।...मैं प्रवृत्तिमूलक काव्य का विरोध नहीं कर रहा हूँ... लेकिन मेरी समझ में यह प्रवृत्ति अपने-आप परिस्थितियों और घटनाओं से प्रवाहित होनी चाहिए। बिना किसी विशिष्ट संकेत के; और लेखक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि चित्रित सामाजिक संघर्षों के भावी ऐतिहासिक समाधानों को भी पाठक के ऊपर लाद दे।"[1]

एंगेल्स ने यहाँ एक साधारण सिद्धान्त और आलोचनात्मक दृष्टिकोण की व्याख्या की है। प्रवृत्तिवाद का 'विरोध न करना' एक बात है और प्रवृत्तिवाद को ही साहित्यिक आलोचना का आधार और निर्णयात्मक मानदण्ड मानना बिलकुल दूसरी बात है। यह प्रवृत्तिवाद, प्रगतिवाद का नक़ाब लगाये, या 'सामाजिक यथार्थ' का जामा पहने, जब भी साहित्य के अपने नियमों के विरुद्ध सीधी प्रतिच्छाया का आग्रह करेगा, साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता को आघात ही पहुँचायगा। यह वर्तुल अथवा वक्र रेखा को जबरदस्ती साँचे में कसकर सीधी रेखा बनाने का प्रयास है। वर्तुल रेखा, जो साहित्यकार का सत्य है, सीधी रेखा के, जो तथाकथित क्रान्तिकारी के दिमाग़ में उपजती है, इस दबाव के विरुद्ध विद्रोह करती है। साहित्यकार चिल्लाकर पुकारता है : " 'साहित्य' को प्रचार मत बनाओ!" कमिसार सर्द शब्दों में उत्तर देता है : "मेरी सीधी रेखा इतिहास की अनिवार्यता है; इस अनिवार्यता को पहचानो, यही सबसे बड़ी स्वतन्त्रता है।" और ताकि साहित्यकार अनिवार्यता के महत्व को भली भाँति समझ जाय। कमिसार 'सेंसर', जेल और यातना की ओर एक इशारा कर देता है। साहित्यकार अगर अक़्लमन्द हुआ तो उसके लिए यह काफ़ी होता है।

छाया का यह परिवर्तन साहित्य के लिए मूलभूत प्रश्न है—वह प्रश्न जो साहित्य की साहित्यिकता का प्राण है—इस तथ्य की स्वीकृति मार्क्स के दृष्टिकोण का अविभाज्य अंग है। यह परिवर्तन विषय-वस्तु और रूप-विधान का मात्र यांत्रिक सम्बन्ध नहीं है, जिसके अनुसार रूप-विधान विषय-वस्तु का

१. एंगेल्स : मीना काउट्स्की को पत्र, २६ नवम्बर १८८५।

दास बनाकर रख दिया गया है। अपने आगे आने वाले उत्तराधिकारियों के लिए चेतावनी की तरह मार्क्स पूछता है :

"कठिनाई इसे समझने में नहीं है कि ग्रीक-कला और काव्य सामाजिक विकास के कुछ स्वरूपों से सम्बद्ध हैं। जानने की बात यह है कि आज भी हमारे लिए वह कुछ सूरतों में सौन्दर्यात्मक आनन्द के स्रोत, तथा असाध्य आदर्श और नमूने क्यों बने हुए हैं?"

मार्क्स के उत्तराधिकारियों में से किसी ने शायद जैक लिण्डसे के अतिरिक्त इस अर्थपूर्ण और गागर में सागर भरने वाले प्रश्न का उत्तर तो नहीं ही दिया, कभी इतनी ईमानदारी और आग्रह के साथ इस प्रश्न को दुहराया भी नहीं। मार्क्स साहित्य की एक सार्वभौमिकता की कल्पना करता है जो वर्ग हित ही नहीं, सामाजिक युग को भी पार करके नये आनन्द की सृष्टि करता है। यह विशेषाधिकार अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, दर्शन आदि चेतना के अन्य स्तरों को नहीं दिया गया है। किसलिए साहित्य को यह युग-युग-व्यापी शक्ति मिलती है? क्या केवल इसलिए कि साहित्य शासकवर्ग का हथियार है, या तत्कालीन समाज की अनुकृति है या इसलिए कि वह इसके अतिरिक्त, इसके बावजूद कुछ और है? उत्तर स्पष्ट है। साथ ही साहित्य के आलोचक के लिए दूसरा सवाल भी स्पष्ट है। वह 'कुछ और' क्या है?

यह सार्वभौमिकता और सौन्दर्य अथवा अनुभूति की गहराई, केवल विषय-वस्तु को पाठक तक पहुँचाने का स्वरूप या माध्यम नहीं है। वह साहित्यिक या कलात्मक उपलब्धि का चरम आदर्श है, उसकी अनिवार्य शर्तें हैं। इसलिए वह आलोचक के अनुशीलन का क्षेत्र है, कृतिकार का प्राण है, साहित्य की सफलता उसकी उत्तेजक शक्ति तक सीमित नहीं है। आलोचक चाहे सामाजिक विकास के नियम से कितनी ही अच्छी तरह परिचित क्यों न हो, सिर्फ़ इतना ही उसके लिए काफी नहीं है। लासाल के नाटक 'सिकिंगेन, पर अपने विचार व्यक्त करते हुए एंगेल्स कहता है : "तुम्हारे राष्ट्रीय जर्मन-नाटक को पहली और दूसरी बार पढ़ने के बाद, मैं विषय-वस्तु तथा उसके उपयोग दोनों के विचार से, कुछ इस ज़ोर के साथ प्रभावित हुआ कि विवश होकर मुझे उसे कुछ देर के लिए उठाकर अलग रख देना पड़ा; विशेषत: इसलिए और भी कि इन दिनों की साहित्यिक निर्धनता ने मेरी रुचि को कुछ इस तरह भदेस बना दिया है। (शर्म की बात है, लेकिन मानूँगा अवश्य) कि दो कौड़ी की चीजें भी पहली बार पढ़ने पर मुझे प्रभावित कर देती हैं। इसलिए एक बिलकुल तटस्थ, पूर्णतः 'समीक्षात्मक' दृष्टि प्राप्त करने के लिए मैंने सिकिंगेन को

अलग कर दिया ।" काश पोलितब्यूरो के सदस्यगण इससे आधी भी विनम्रता का प्रदर्शन करते ! मार्क्स ने स्पष्ट: कहा है : "कला का आनन्द उठाने के लिए आवश्यक है कि आदमी कलात्मक रूप से सुसंस्कृत हो ।"[1]

अब हम अपने पहले निष्कर्ष में आवश्यक बातें जोड़ लें : जिन कारणों से साहित्यिक प्रतिच्छाया में विकृति उत्पन्न होती है, उनके पीछे साहित्य और सौन्दर्य के अपने नियम हैं, जो सामाजिक आवश्यकता के बावजूद काम करते हैं । इन नियमों की क्रियाशीलता के कारण ही साहित्य ऊँची उड़ानें भरता है और उसमें सार्वभौमिकता एवं श्रेष्ठता उत्पन्न होती है । आलोचना के सामने असली सवाल सामाजिक यथार्थ का नहीं है, बल्कि उस यथार्थ की विकृतियों के अध्ययन का है । इसीलिए आलोचक के लिए आवश्यक है कि वह कलात्मक रूप से सुसंस्कृत हो और छाया में इस परिवर्तन का आनन्द ले सके ।

साहित्य में सामाजिक सत्य के पहले मसीहा प्लेटो का सिर भी इस अनिवार्य विकृति की दीवार से जा टकराया था और उसने झुँझलाकर कहा था : "ये सारे कवि केवल ऐन्द्रजालिक और झूठे हैं, इनको कान पकड़कर निकाल बाहर कर दो ।" इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्लेटो उन लोगों से अधिक ईमानदार है जो बेचारे कवि को मानव-आत्मा का शिल्पी कहते हैं, लेकिन काम वही करते हैं ।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में हीगेल के अद्वैतात्मक नियतिवाद का अंश काफ़ी हद तक मौजूद है, विशेषत: उन स्थानों पर जहाँ मार्क्स आँकड़ों से न जूझकर शुद्ध दार्शनिक खंडन-मंडन में व्यस्त हो जाता है । भेद आग्रह का है परन्तु नियतिवाद और प्रयोगात्मक प्रयास, दोनों की शाखाएँ फूटती हुई दिखलाई पड़ती हैं । परवर्ती मार्क्सवादियों में इस आग्रह-भेद से परस्पर विरोधी विचार-धाराओं और राजनीतियों की टकराहट इतिहास-विदित है । लेकिन यह हठ कि साहित्यिक कृतिकार राज-नीतिक भूमिका भी ग्रहण करे, राजनीतिक क्रियाशीलता की तुलना में कला-कृतियों को हेय समझा जाय, मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टि की मौलिक अथवा अनिवार्य स्थापना नहीं है । यह घटना बाद में घटी है । प्रवृत्ति की अनिवार्यता की सूझ जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड की मार्क्सवादी त्रिवेणी में रूस की एक नई धारा के सम्मिश्रण का परिणाम है और यहाँ हम प्लेखानाव की छाया-तले पहुँच जाते हैं । मार्क्सवादी समीक्षा की दूसरी मंज़िल आरम्भ होती है ।

---

१. मार्क्स : 'इकानामिक फ़िलसाफ़िक मैनुस्क्रिप्ट, १८४४ ।'

पुश्किन और चेखव से लेकर रूसी क्रान्ति तक हम यह देखते हैं कि हर साहित्यिक कृति में एक गूढ़ प्रवृत्तिमूलक राजनीतिक संकेत छिपा हुआ है। ज़ार के निरंकुश, एकछत्र और जनतन्त्रहीन राज्य में अनिवार्य था कि हर सामाजिक आलोचना एक राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर ले। जितनी तीव्रता से ज़ार का सेंसर काम करता था, उतनी ही राजनीतिक प्रवृत्ति की यह कला मँजती जाती थी। रूसी साहित्य की यह विशेषता मार्क्सवाद के आगमन के पूर्व ही वहाँ काम कर रही थी। जिस प्रकार ताल्स्तॉय ने अपने लेख 'कला क्या है' में अपने नैतिक आग्रह के कारण शेक्सपीयर को, यहाँ तक कि स्वयं अपने लिखे हुए बहुत-से उपन्यासों को उठाकर फेंक दिया, वह सब जानते हैं। लेकिन ताल्स्तॉय का यह साहसिक कार्य कोई नया जादू नहीं था जो सिर चढ़कर बोला। इसका आवाहन शताब्दी के प्रारम्भ में बेलिन्स्की और शर्नीशेव्स्की के समय से ही हो रहा था।

यह उत्तराधिकार प्लेखानाव को मिला। मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में 'प्रगतिशील' शब्द का सबसे पहले प्रयोग शायद प्लेखानाव ने ही किया।[१] प्लेखानाव ने साहित्य को वर्गों की, विशेषतः शासक-वर्ग की, अभिव्यक्ति कहकर एक कड़ी और जोड़ी। इस आलोचनात्मक दृष्टि ने मार्क्स की साधारण विचार-धारा का फन्दा साहित्य के ऊपर डाला और सोपान-मूलक कल्पना पर पहला आघात किया। प्लेखानाव कहता है :

"हुईमाँ का दृष्टान्त एक बार फिर यह सिद्ध करता है कि कला का काम सैद्धान्तिक विषय-वस्तु के बिना नहीं चल सकता। लेकिन जब कलाकार अपने समय की महत्वपूर्ण सामाजिक प्रवृत्तियों की ओर से आँखें मूँद लेता है, उसकी कृतियों में व्यक्त किये गए विचारों का मूल्य काफ़ी घट जाता है। परिणाम यह होता है कि स्वयं कृतियों को क्षति पहुँचती है। यह तथ्य कला और साहित्य के इतिहास के लिए इतना महत्वपूर्ण है कि इसका निरीक्षण हर पहलू से होना चाहिए।"[२]

इसकी तुलना एंगेल्स से कीजिए :

"अन्तिम दो अंकों से यह स्पष्ट है कि तुम बिना कठिनाई के कथोपकथन को सजीव और प्रवाहयुक्त बना सकते हो और चूँकि यह बात प्रथम तीन अंकों में भी पैदा की जा सकती है, कुछ दृश्यों के अतिरिक्त (जो हर नाटक में होते

---

१. इस सम्बन्ध में मैं पूरे विश्वास के साथ नहीं कह सकता। यदि कोई सज्जन इस पर प्रकाश डाल सकें तो मैं कृतज्ञ हूँगा।

२. प्लेखानाव : 'कला और सामाजिक जीवन।'

हैं), अतः मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि अपने नाटक को रंगमंच के लिए प्रस्तुत करते समय तुम इसका ध्यान रखोगे। निस्सन्देह इससे सैद्धान्तिक विषय-वस्तु को क्षति पहुँचेगी, पर यह अनिवार्य है।...मेरी राय में सैद्धान्तिक तत्त्वों के लिए सजीव यथार्थ को नहीं छोड़ना चाहिए। शिलर के लिए शेक्सपीयर को भूलना नहीं चाहिए।"[१]

प्लेखानाव बड़ी दृढ़ता के साथ घोषित करता है :

"जिस प्रकार सेब के पेड़ से सेब ही पैदा होगा और नाशपाती के पेड़ से नाशपाती ही, उसी प्रकार जो भी कलाकार मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण ग्रहण करेगा, अनिवार्यतः श्रमिक आन्दोलन के विरुद्ध हो जायगा।

"ह्रास के युगों में कला अनिवार्यतः ह्रासोन्मुख ही होगी।"[२]

फिर भी मार्क्सवाद का अनुभव है :

"यह सर्वविदित है कि कला के सर्वोच्च विकास के कुछ युगों का कोई भी स्पष्ट सम्बन्ध न तो समाज के साधारण विकास के साथ और न भौतिक आधार अथवा उसकी व्यवस्था के ढाँचे के साथ ही मालूम पड़ता है। आज के राष्ट्रों या शेक्सपीयर की भी तुलना में ग्रीक-कला का दृष्टान्त इसका साक्षी है।"[३]

इसी तरह अन्य कई उद्धरण दिये जा सकते हैं। प्लेखानाव का आग्रह मार्क्स से भिन्न है यह स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है। साहित्य-सम्बन्धी मार्क्सीय सिद्धान्तों में कौन-सा परिवर्तन आ गया है? आग्रह का यह भेद साहित्य-दर्शन में किस अन्तर का द्योतक है?

प्लेखानाव ने समाज के आर्थिक आधार और कला में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित किया। वह पूछता है : "क्या यह सम्भव है और किन स्तरों पर, कि स्थिति और चेतना के बीच, एक ओर समाज की अर्थनीति और टेकनीक तथा दूसरी ओर उसकी कला के बीच कार्य-कारण-सम्बन्ध का निरीक्षण किया जा सके?"[४] उसका उत्तर है : "कला के विकास का उत्पादक-शक्तियों के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध है, चाहे यह सम्बन्ध सदा सीधा न हो।"[५] आदिम

---

१. एंगेल्स : लासाल को पत्र, १८ मई १८५६।

२. प्लेखानाव : 'कला और सामाजिक जीवन।'

३. मार्क्स : 'क्रिटीक आफ़ पोलिटिकल इकानामी' की भूमिका।

४. प्लेखानाव : 'समाज-शास्त्रीय दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी का फ्रेन्च साहित्य और चित्र-कला।'

५. प्लेखानाव : 'कला और उपयोगिता।'

साम्यवाद से समाज के वर्ग-विभाजन-युग में पदार्पण करने के पश्चात् इस कार्य-कारण में मध्यन्तर-मात्र पड़ जाता है : "कलात्मक-सृजन अनिवार्यता द्वारा सभ्य समाज में आदिम समाज से किसी दशा में कम बाधित नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि सभ्य समाज में उत्पादन-प्रणाली और टैकनीक पर कला की सीधी निर्भरता समाप्त हो जाती है।"[1]

मार्क्स-एंगेल्स समाज और साहित्य के इस सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए दूसरे शब्दों—प्रभावित, नियमित, आबद्ध, आदि का प्रयोग करते हैं। उनके लिए समाज सीमाएँ निर्धारित करता है, परन्तु साहित्य की हर गति का कारण नहीं बनता। "जो तथ्य", मार्क्स लिखता है, "उन लेखकों को निम्न मध्यमवर्ग का प्रतिनिधि बनाता है वह यह है कि अपने मस्तिष्क में वे उन सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाते, जिनका अतिक्रमण निम्न-मध्यमवर्ग अपने जीवन में नहीं कर पाता; कि बराबर वे सैद्धान्तिक रूप से उन्हीं प्रश्नों और समाधानों की ओर दौड़ते हैं जिस ओर व्यावहारिक रूप से भौतिक स्वार्थ और सामाजिक मर्यादा उस वर्ग को ढकेलती है। साधारणतः किसी वर्ग के राजनीतिक और साहित्यिक प्रतिनिधियों और मूल वर्ग के बीच यही सम्बन्ध रहता है।"[2]

रूपक की भाषा में हम यों कह सकते हैं कि मार्क्स के अनुसार पतंग भूमि से डोर द्वारा बँधी हुई है। उसकी ऊँचाई की सीमा का निर्धारण डोर की लम्बाई करेगी। लेकिन आकाश में वह किस वेग से उड़ेगी, कैसे-कैसे चक्कर खायगी, कौन-सी अदाएँ दिखलायगी। यह सब आकाश के ऊपर हवा की गति से नियन्त्रित होगा। प्लेखानाव के अनुसार हवा के वेग द्वारा केवल इतना ही तय होगा कि पतंग की पूँछ ऊपर रहेगी या उसकी नोक। उड़ने का कारण तो डोर ही है।

इसके अतिरिक्त प्लेखानाव मात्र इस उड़ाने वाली डोर से ही सन्तुष्ट नहीं है। उस भूमि को भी वह स्पष्टतः बता देना चाहता है, जो डोर को नियन्त्रण करती है। अतः प्लेखानाव का दावा है :

"यदि यह सही भी हो कि कला, साहित्य की भाँति, जीवन की प्रतिछाया है, तो भी यह वक्तव्य बड़ा अस्पष्ट है। यह जानने के लिए कि कला किस प्रकार जीवन को प्रतिबिम्बित करती है, जीवन की मशीनरी को समझना

---

१. प्लेखानाव : 'ऐतिहासिक भौतिकवाद और कला।'

२. मार्क्स —एटीन्थ ब्रूमेर आफ़ लूई बोनापार्ट।

पड़ेगा।[1] सभ्य-समाजों में इस मशीनरी का मुख्य यन्त्र वर्ग-संघर्ष है और यदि हम केवल इस मुख्य यन्त्र की परीक्षा करें, वर्ग-संघर्ष का लेखा-जोखा रखें और उसके विभिन्न बहुमुखी पहलुओं का निरीक्षण करें, तो ही हम किसी प्रकार सन्तोषप्रद रूप में सभ्य-समाज के 'आध्यात्मिक' इतिहास की गुत्थी सुलझाने में समर्थ हो सकते हैं। विचारों का 'अभियान' वर्गों के इतिहास और उनके पारस्परिक संघर्षों का प्रतिबिम्ब है।"[2]

क्या मनोरम द्वन्द्वन्याय है। इसमें बस इतना और जोड़ दीजिए : जिस तरह सेब-से-सेब, नाशपाती-से-नाशपाती···आदि···उसी तरह हर साहित्यकार एक वर्ग और केवल एक वर्ग का 'हथियार' होता है। आलोचना का उत्तर-दायित्व समाप्त हो गया। दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर दिया गया।

प्लेखानाव ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण के वे दो भ्रामक और प्रसिद्ध विभाजन किये जो आज कम्युनिस्ट-आलोचना का अन्त बनकर रह गए हैं। 'कला-कला के लिए' अथवा 'कला समाज के लिए' लेकिन प्लेखानाव के पक्ष में इतना कहना पड़ेगा कि इस प्रश्न को एक तथाकथित समाधानहीन विरोधा-भास के रूप में रखने के साथ ही उसे यह अनुभव भी हो रहा था कि यह विरोधाभास उतना अबाधित नहीं है, जैसा समझा जा सकता है। इसीलिए उसने एक ओर यह कहा कि 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त कुछ अवस्थाओं में सामाजिक सड़ाँध से कवि को उबारने और इसके विरुद्ध विद्रोह करने में सहायक भी हो सकता है। दूसरी ओर उसने यह भी कहा कि हर विचार जो समाज के लिए शुभ है कला में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। लेकिन प्लेखानाव का यह अनुभव क्षीण ही है। बाद की कम्युनिस्ट-आलोचना में प्रवृत्तिवाद के प्रवेग ने इन कमज़ोर खपच्चियों को तिनकों की तरह बहा दिया। यह प्रश्न तोते की तरह रटा जाने लगा, विरोधाभास की कल्पना अधिक से अधिक अबाधित होती गई। रेनेसांस की परम्परा की अन्तिम बूँदें भी—जो राफ़इल, शेक्सपीयर और गेटे के बीच से प्रवाहित होती आई थीं, इस मरुस्थल में आकर सूख गईं। हंगरी के विश्वविद्यालय में सौन्दर्य-शास्त्र के आचार्य लूकाक्स की कलम से निकल गया। "पूँजीवादी समाज की कुरूपता और चरित्रहीनता के विरुद्ध विशुद्ध कला का विद्रोह कभी प्रगतिशील हो

---

१. यहाँ ध्यान देने की बात है कि इसके लिए कला की मशीनरी को समझने की आवश्यकता समझी ही नहीं गई है। यहीं से कम्युनिस्ट-आलोचना की नई शाख फूटती है।

२. प्लेखानाव—अठारहवीं शताब्दी में फ्रेंच-साहित्य और चित्र-कला।

सकता है, कभी प्रतिक्रियावादी, यह इस पर निर्भर करता है कि वह किसके विरुद्ध और कितनी तीव्रता के साथ व्यक्त किया गया है।"[१] इस पर कमिसार जोज़ेफ रेवाई ने डाँटते हुए कहा : "'विशुद्ध कला' की यह 'समझ' मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र के दृष्टिकोण से प्रयाण है और 'लेखक के समाज के ऊपर खड़े होने की भ्रामक प्रवंचना' के विरुद्ध लूकाक्स के अन्य कथनों को व्यवहारत: निरर्थक बना डालती है। नहीं, यह 'हाथी दाँत के मीनारों वाला जीवन-दर्शन' न कभी प्रगतिशील था और न हो सकता है। आवश्यकता इसको 'समझने' या इसके लिए बहाने खोजने की नहीं है, इसके विरुद्ध युद्ध करने की है।"[२]

इस तथाकथित विरोधाभास के अबाधित बना देने में जो अहितकर दबाव वर्तमान है उसे देखते हुए ही प्लेखानाव ने गोर्की की 'माँ' की आलोचना की। उसने गोर्की का यह कहकर विरोध किया कि 'मार्क्सवादी विचारों का प्रचारक'-मात्र बन गया है। उसने गोर्की को सलाह दी, "मुख्यत: संगत तर्क की भाषा में बात करना कृतिकार के लिए ठीक नहीं है, उस कृतिकार के लिए जो मुख्यत: चित्रों की भाषा में बात करता है।" प्लेखानाव का कहना था कि 'तर्क की भाषा' का स्थान आलोचना में है जिसे "भौतिक विज्ञान की भाँति वस्तुपरक' होना चाहिए। आलोचक का कार्य-मात्र यह नहीं है कि उन लेखकों की प्रशंसा करे जो उसकी रुचि की सामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति करें और उनकी निन्दा करें जो उसकी रुचि के विरुद्ध हों।

सैद्धान्तिक रूप से लेनिन और प्लेखानाव की साहित्यिक दृष्टि में बहुत अन्तर नहीं है। परन्तु धारा को जिस ओर प्लेखानाव ने मोड़ा था उसका उसी दिशा में बढ़ता हुआ प्रवाह अवश्य दिखलाई पड़ता है। लेनिन के साहित्य-सम्बन्धी कुछ थोड़े-से वक्तव्यों और लेखों में हम 'प्रतिच्छाया' वाले सिद्धान्त की सीधी अभिव्यक्ति पाते हैं। वस्तुत: प्रवृत्तिवाद के मूर्त स्वरूप का आग्रह लेनिन में है, परन्तु उसके मन में कला के साधारण, 'सार्वभौमिक' महत्व का आदर कम नहीं है। कमिसार जोज़ेफ रेवाई का कहना है : "लेनिन का 'पार्टी-साहित्य' वही वस्तु नहीं है जो एंगेल्स का 'प्रवृत्तिवादी साहित्य' है। लेनिन का कहना है कि 'साहित्यिक कार्य पूर्णत: मज़दूर-कार्य का अंश बन जाना चाहिए। उसे एक वृहत एवं समवेत सोशल डिमोक्रेटिक मशीन का पुरजा बन जाना चाहिए जिसका परिचालन समस्त मज़दूर-वर्ग का जागरूक हरा-वल करे'...यह स्पष्ट है कि पार्टी साहित्य-सम्बन्धी लेनिन के विचार एंगेल्स के दृष्टि बिन्दु से कई क़दम आगे है।[३]"

---

१. २. ३. जोज़फ रेवाई : 'लूकाक्स और समाजवादी यथार्थवाद', १९५०।

लेकिन कमिसार रेवाई अपने इस विद्वत्तापूर्ण लेख में इसका जिक्र नहीं करते कि उसी लेख[१] में लेनिन यह भी कहता है कि इस मशीन और पुरजे के रूपक को बहुत शाब्दिक अर्थ नहीं दिया जाना चाहिए। वह तुरन्त स्पष्टीकरण करता है : इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि इस विषय में अपेक्षाकृत अधिक व्यक्तिगत पहल, व्यक्तिगत रुचि, विचार-क्षेत्र और कल्पना, रूप-विधान और विषय-वस्तु की स्वतन्त्रता की गारण्टी अत्यन्त ही आवश्यक है।"[२] लेनिन के अनुसार सोशलिस्टों का काम मध्यवर्गीय साहित्य के विरुद्ध एक ऐसा साहित्य प्रस्तुत करना है जो 'श्रमिक वर्ग से स्पष्टतः जुड़ा हुआ' हो तथा जिसका आधार 'श्रमिकों के प्रति सहानुभूति' हो। वह आगे कहता है : "हमारा यह तात्पर्य बिलकुल ही नहीं है कि किसी प्रकार की एकरूप व्यवस्था, या समस्या का समाधान ऊपरी आदेशों द्वारा लादा जाय।"

लेकिन यह १९०५ की बात है। १९४६ में सोवियत रूप की कम्युनिस्ट-पार्टी की केन्द्रीय समिति के इस आज्ञा-पत्र पर विचार कीजिए, और दाँतों तले उँगली दबाइये :

"चूँकि जनता की कम्युनिस्ट शिक्षा के माध्यम के रूप में रंगमंच का अत्यधिक महत्व है इसलिए केन्द्रीय समिति कला-समिति तथा सोवियत लेखक-संघ की परिषद् को आदेश देती है कि समकालीन सोवियत-जीवन पर नाटक-रचना की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करे।"[३]

शिकायत की वजह यह थी कि सोवियत लेखकगण ऐतिहाहिक नाटक बहुत लिखने लग गए थे।

स्पष्ट है कि लेनिन की कल्पना में साहित्य अभी वर्ग से पूरी तरह तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका है, यद्यपि दोनों की दूरी बहुत-कुछ कम हो गयी है। लेनिन कला की श्रेष्ठता का क़ायल था, यद्यपि उसे अपने 'वर्ग-हित' से छुट्टी कम मिलती थी। गोर्की एक घटना का ज़िक्र करता है। लेनिन बीथोफ़ेन का कोई संगीत सुनकर बोला : "जो तो करता है इसे प्रतिदिन सुनूँ; क्या चमत्कारपूर्ण मानवोपरि संगीत है—सोच-सोचकर गर्व से भर जाता हूँ··· आदमी क्या-क्या कमाल कर सकता है।" फिर आँखें जरा खिच गईं, एक उदास

---

१. लेनिन—'पार्टी-संगठन और पार्टी-साहित्य'।

२. वही।

३. सोवियत् नाटक पर केन्द्रीय समिति का प्रस्ताव; २६ अगस्त, १९४६।

मुस्कराहट के साथ उसने आगे कहा : "लेकिन मैं अक्सर संगीत नहीं सुन सकता। इससे मन पर प्रभाव पड़ता है। जी चाहता है कि भोली, मीठी बातें करूँ और उन लोगों की पीठ ठोकूँ, जिन्होंने इस नरक में रहते हुए भी इतना सौन्दर्य उपजाया है। और भाई, आजकल किसी की पीठ नहीं ठोंकना चाहिए —ख़तरा है कि लोग कहीं तुम्हारा हाथ ही न काट खाएँ।"[१]

लेनिन की दृष्टि में अभी साहित्य और कला ने 'हथियार' का रूप धारण नहीं किया है। कम्युनिस्ट-पार्टी भी अभी पूरे ज़ोर के साथ मैदान में नहीं आई है। परन्तु तात्कालिकता का आग्रह, जो बाद में चलकर कम्युनिस्ट आलोचना का अपरिहार्य अंग हो गया, दिखलाई पड़ता है। स्पष्ट है कि लेनिन के संकेत के पश्चात् इस प्रश्न का अपने पूरे वेग से उठना अनिवार्य था। १९१७ की रूसी-क्रान्ति के पश्चात् आलोचना के क्षेत्र में इन नये सवालों की बाढ़ दिखलाई पड़ती है। मायाकोव्स्की ने जो मज़दूर-संस्कृति का ज़बरदस्त हल्ला बोला, चारों तरफ़ छाती पीट-पीटकर क्रान्ति का रुख़ देखने वाली जो भीड़ उठी, उसने मार्क्सवादी आलोचना के सामने कम्युनिस्ट-पार्टी को बड़ा भारी प्रश्न-चिह्न बनाकर खड़ा कर दिया।

१९२५ में जिस व्यक्ति ने इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की, वह ट्राट्स्की था। वह उस समय क्रान्तिकारी रूस में युद्ध-मन्त्री था। रिले के अन्तिम दौड़ने वाले की तरह हाँफ़ता हुआ ट्राट्स्की कहता है :

"मार्क्सवादी पद्धति नई कला के विकास का मूल्यांकन करने का अवसर उपस्थित करती है, उसके समस्त स्रोतों को खोजती है, आलोचनात्मक प्रकाश द्वारा पथ को उजागर करके सर्वाधिक प्रगतिशील प्रवृत्तियों को सहायता पहुँचाती है, लेकिन इससे अधिक कुछ भी नहीं करती। कला को अपने माध्यमों द्वारा ही अपनी राह बनानी पड़ेगी। मार्क्सवादी प्रणाली और कलात्मक प्रणाली एक ही वस्तु नहीं है। पार्टी श्रमिकवर्ग का नेतृत्व करती है, इतिहास की विशाल गति का नहीं। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जिसमें पार्टी स्पष्टतः और आदेशात्मक ढंग से नेतृत्व करती है। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें वह सहायता करती है और कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें वह केवल अपना नया विन्यास करती है। कला का क्षेत्र वह नहीं है जिसमें पार्टी को आदेश देने की आवश्यकता हो। कला की रक्षा करना और सहायता करना पार्टी का काम है, परन्तु नेतृत्व केवल अव्यक्त रूप से ही हो सकता है।"[२]

---

१. एडमण्ड विल्सन : 'मार्क्सवाद और साहित्य' नामक लेख में उल्लिखित।
२. ट्राट्स्की : 'साहित्य और क्रान्ति'।

ट्राट्स्की ने क्रान्तिकारी साहित्य को दो भागों में बाँटा। एक वह जो स्पष्टत. क्रान्ति के विषय में, उसके आग्रहपूर्वक समर्थन में हो। दूसरा वह जो क्रान्ति के विषय में न होकर 'क्रान्ति का साहित्य हो' अर्थात् उस व्यक्ति की साधारण भावनाओं का साहित्य हो जो क्रान्ति के बीच से निकला है, क्रान्ति का पुत्र है। दोनों ही संक्रमण कालीन हैं। परन्तु पहला अनिवार्य रूप से मज़दूरवर्ग की तानाशाही' का परिणाम है और उसके साथ समाप्त हो जायगा। दूसरे में ही भविष्य के बीज छिपे हुए हैं। यही आगे चलकर 'समाजवादी साहित्य' का आधार बनेगा। यह साहित्य संकुचित अर्थों में उपयोगितावादी नही है, यह मानवीय भावनाओं का सहज साहित्य है जो एक विशिष्ट अर्थ में गहरी, सार्थक और सम्पूर्ण हो गई हैं। मगन होकर ट्राट्स्की समाजवादी-साहित्य का सपना देखता है।

"यह नई समाजवादी कला कामेडी को जीवित करेगी, क्योंकि भावी मानव हँसना चाहेगा। वह उपन्यास को नया जीवन देगी। वह गीतों को सम्पूर्ण अधिकार प्रदान करेगी, क्योंकि नया आदमी पुराने लोगों से बेहतर और अधिक शक्तिशाली ढंग से प्यार करेगा, वह जीवन और मृत्यु के प्रश्नों पर विचार करेगा। नई कला उन समस्त पुराने स्वरूपों को पुनर्जीवित करेगी, जो सृजनात्मक आत्मा के विकास में प्रतिफलित हुए उन स्वरूपों का ह्रास और पतन आत्यान्तिक नहीं है, अर्थात् यह नहीं समझना चाहिए कि वे स्वरूप नये युग की आत्मा से बिलकुल ही मेल नहीं खा सकते। नये युग के कवि के लिए कुल इतना आवश्यक है कि वह मानव-जाति के विचारों को फिर से विचारे, उसकी अनुभूतियों का फिर से अनुभव करे!"[१]

स्पष्ट प्रवृत्तिवाद और साधारण मानवीय भावना के बीच कम्युनिस्ट-आलोचना का अन्तर्विरोध अपने चरम रूप में ट्राट्स्की के सामने आया। ट्राट्स्की थोड़ी देर हिचकिचाया, पर अन्त में उसने अपना वोट साधारण भावना के डिब्बे में छोड़ दिया। लेकिन वह उस डिब्बे में वोट डालने वाला अन्तिम व्यक्ति था।

समाजवादी यथार्थवाद के आगमन के साथ मार्क्सवादी आलोचना का तीसरा अर्थात् कम्युनिस्ट-युग प्रारम्भ होता है जिसके फ़िक़रों, ध्वनियों, शब्दावली ओर गद्य से हम पूरी तरह परिचित हैं। लेनिन, ट्राट्स्की, लूनाकार्स्की और गोर्की के बाद की कम्युनिस्ट-आलोचना का इतिहास साहित्य में कम्युनिस्ट-पार्टी के अभ्युदय और सम्पूर्ण प्रभुत्व की एकस्वर कहानी है।

---

१. ट्राट्स्की : 'साहित्य और क्रान्ति'।

साहित्य अब पूरे तौर से हथियार हो गया है और साहित्यकार समाज का प्रतिबिम्ब न होकर अब 'मानव आत्मा का शिल्पी' हो गया है। यह मानव आत्मा के ऊपर पच्चीकारी क्योंकर होती है ? 'समाजवादी' साहित्य के बीच से खड़े होकर साथी ज्दानोव ट्राट्स्की की क़ब्र पर फ़ातिहा पढ़ते हैं : "सोवियत लेखकों की बड़ी भारी पाँत सोवियत शक्ति और पार्टी से घुल-मिलकर एकाकार हो गई है और उसे पार्टी-नेतृत्व, केन्द्रीय समिति की दैनन्दिन देख-रेख और सहायता तथा साथी स्तालिन का अथक सहयोग प्राप्त हो गया है।'··· "कलात्मक बिम्ब की सत्यता और यथार्थता सैद्धान्तिक परिशोधन, श्रमिक जनता को समाजवाद की मनोवृत्ति में दीक्षित करने, के काम से जुड़ जानी चाहिए। इसी पद्धति को हम उपन्यास एवं साहित्यिक आलोचना में समाजवादी यथार्थ कहते हैं।"···"इसी कारण ऐसा है कि अपने को दीक्षित करने और अपने सैद्धान्तिक हथियारों को समाजवादी मनोवृत्ति के अनुसार समुन्नत करने का अथक परिश्रम वे अपरिहार्य शर्तें हैं जिनके बिना सोवियत लेखकगण अपने पाठकों के दिमाग़ को बदल नहीं सकते और इस प्रकार मानव-आत्मा के शिल्पी नहीं हो सकते।"[१]

इस सैद्धान्तिक परिशोधन का निचोड़ कमिसार रेवाई के शब्दों में यह है : "जीवन को प्रतिबिम्बित करने और श्रेष्ठ साहित्य के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट-विश्व-दर्शन की स्वीकृति, जिसके अनुसार लेखक का काम यह है कि जोश के साथ उठ खड़ा हो और हंगरी के जीवन में कम्युनिस्ट-पार्टी के नेतृत्व में जो महान् परिवर्तन हो रहा है उसके लिए पुकारकर कहे, 'वाह ! वाह ! बहुत ठीक।"[२]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रगतिवादियों के विषय में कहते हैं कि इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट-पार्टी के साथ जुड़े हुए हैं, यही ज़रा खटकता है। अगर ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय। निस्सन्देह अपने इस आग्रह में द्विवेदी जी व्यापक लोक-मंगल की भावना और उदार मानवतावाद से प्रेरित हैं, परन्तु हम विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि वे असम्भव की माँग कर रहे हैं। कम्युनिस्ट-पार्टी ही तो 'प्रगतिवाद' का सम्पूर्ण सिद्धान्त और उद्देश्य है। रूस की पार्टी की केन्द्रीय समिति का प्रस्ताव है : "सोवियत साहित्य की, जो संसार का सबसे प्रगतिशील साहित्य है, प्राण-शक्ति इसी में है कि उसके

२. ज्दानोव: अखिल रूसी लेखक संघ में भाषण, १९३४।

३. जोज़ेफ रेवाई : 'लूकाक्स और समाजवादी यथार्थवादी', १९५०।

लिए जनता और राज्य के हितों के अतिरिक्त न कोई उद्देश्य है और न हो सकता है।"[1] 'राज्य' का अर्थ तो स्पष्ट है। इस 'जनता' का अर्थ समझने में कोई भ्रम न हो जाय, इसलिए एक बार फिर कमिसार रेवाई का स्पष्टीकरण प्रस्तुत है : "पार्टी के नेतृत्व के द्वारा ही यह सम्भव है कि जनता की माँगें, आवश्यकताएँ और आलोचनाएँ लेखकों के पास पहुँचायी जायँ; श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार साहित्य को सज्जित कर दिया जाय जिससे वह शताब्दियों के प्रवाह में अलग हो गया था और साहित्य को समाजवादी निर्माण और सामाजिक दीक्षा का सेवक बना दिया जाय।"[2]

एक ओर धीरे-धीरे साहित्य को प्रतिबिम्ब, फिर वर्ग का प्रतिबिम्ब, फिर मजदूरवर्ग का प्रतिबिम्ब बनाया गया; दूसरी ओर जनता को समेटकर मजदूरवर्ग, फिर मजदूरवर्ग को कम्युनिस्ट-पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी को भी पार्टी-नेतृत्व में केन्द्रित कर दिया गया। इस अप्रत्यक्ष परन्तु निश्चित परिणति को इसलिए गति और भी मिली कि इससे आलोचना का कार्य अत्यधिक सरल और लचीला हो गया जो एक 'हथियार' के लिए आवश्यक है।

सम्भवतः इसी कारण समकालीन कम्युनिस्ट आलोचकगण प्रगतिशील साहित्य के सार्थक अन्वेषण के लिए साहित्य के विशाल इतिहास में डुबकी लगाने की आवश्यकता नहीं समझते। एक थका देने वाली एकरसता के साथ कम्युनिस्ट आलोचक लेखक के सम्मुख केवल इतना प्रश्न रखना ही पर्याप्त समझते हैं : कला कला के लिए है अथवा समाज के लिए। यह विरोधाभास कितना भ्रामक है, इसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। लेखक स्पष्टतः यह मानता है कि कला समाज के लिए है। इसके पश्चात् आलोचना का पूरा कर्तव्य इतना ही सिद्ध करना रह जाता है कि समाज का सच्चा हित, कम्युनिस्ट-पार्टी की विजय, उसके राज्य की स्थापना और उसके आदर्शों का पालन करने में ही है। साहित्यालोचन से अधिक इन तर्कों का क्षेत्र राजनीति से भी अधिक अन्ध-श्रद्धा और अन्ध-विश्वास के बीच है। अमरीका के कम्युनिस्ट-लेखक होवर्ड फ़ास्ट एक धार्मिक विश्वास के रूप में दुहराते हैं :

"मार्क्सवादियों का विश्वास है कि समस्त लिखित इतिहास सभ्यता के प्रभात से आज तक वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह वर्ग-संघर्ष दास-सभ्यता, सामन्तवाद और पूँजीवाद की मंज़िलों से गुज़र चुका है। अब पूँजीवाद के विरुद्ध श्रमिकों का संघर्ष समाजवाद की स्थापना करेगा···शोषण का अन्त हो

१. केन्द्रीय समिति का प्रस्ताव, १४ अगस्त, १९४६।
२. जोज़ेफ़ रेवाई : 'लूकाक्स और समाजवादी यथार्थवाद', १९५०।

जायगा···मार्क्सवादियों का विश्वास है कि इस अन्तिम परिवर्तन, एंगेल्स के शब्दों में मानवपूर्व इतिहास की यह समाप्ति संसार के प्रत्येक देश में कम्युनिस्ट-पार्टी, मज़दूरों की पार्टी, के नेतृत्व में होगी।"[१] टीटो के अनुभव के पश्चात् इसमें इतना ही जोड़ना और बाकी है, "और कम्युनिस्ट-पार्टी भी वह, जिसे सोवियत यूनियन मान्यता प्रदान करे।"

पार्टी की कार्य-प्रणाली के अनुसार आलोचक पार्टी के सांस्कृतिक मोर्चे का सक्रिय कार्यकर्ता भी होता है। उसका कार्य है बुद्धिजीवियों में पार्टी का प्रचार। अतः कौशल की वेदी पर उसे साहित्यिक दृष्टि का बलिदान भी करना पड़ता है। लेखक का साहित्य कुछ भी हो, किन्तु यदि वह सोवियत यूनियन का बौद्धिक अनुशासन स्वीकार करता है तो···उसे 'मित्र' लेखकों में शामिल कर लिया जायगा। यदि यह बात उसके गले नहीं उतरी तो उसे 'शत्रु' लेखक मान लिया जायगा; और जो कुछ ढुल-मुल दिखलायी पड़ा तो उसे 'सहयात्री या सम्भावित सहयात्री' की कोटि में रख दिया जायगा। अब इसके बाद आलोचक का काम इतना ही है कि समझाकर, फुसलाकर, लालच देकर, धमकाकर और गाली देकर इन ढुल-मुल सहयात्रियों को गोल में शामिल करने योग्य बनाकर 'पक्का' कर दिया जाय। अगर सहयात्री-लेखक 'मार्क्सवाद' या 'पार्टी-नेतृत्व' के नाम से घबराता है तो अमरीकी लेखक अल्बर्ट माल्ट्ज़ के शब्दों में लेखक के मौलिक अधिकारों की घोषणा कीजिए : "मैं ग़लत रास्ते पर क़ायम रहने का अधिकार चाहता हूँ। मैं स्पष्टतः कहता हूँ कि मैंने ऐसी कहानियाँ लिखी हैं जिनके कारण मैं कलापक्ष के विचार से और ऐसे लेख जिनके लिए मैं सैद्धान्तिक रूप से लज्जित हूँ। परन्तु उनके ऊपर यह निर्णय मेरा है और मैं यह बरदाश्त करने के लिए तैयार नहीं हूँ कि उन्हें छापने या न छापने का अधिकार किसी ऐसे दलाल के हाथ में सौंप दिया जाय जो किसी केन्द्रीय समिति का अध्यक्ष बन बैठा हो। मैं यह समझने के लिए उससे अपने को बिलकुल बराबर मानता हूँ कि मुझे किस उम्मीदवार को वोट देना चाहिए, किस संगठन का सदस्य बनना चाहिए और क्या लिखना चाहिए!"[२]

आप भ्रम से श्री अल्बर्ट माल्ट्ज को एक 'टुटपुँजिया निम्न मध्यमवर्गीय बुद्धि-विलासी' न समझ बैठें। श्री अल्बर्ट माल्ट्ज़ अमरीका के 'कम्युनिस्ट

१. होवर्ड फ़ास्ट : 'साहित्य और यथार्थ', १९५०।
२. अल्बर्ट माल्ट्ज़ : 'नागरिक लेखक'।

लेखक' हैं जिनकी कहानियाँ सोवियत यूनियन के कहानी-संग्रह में छप चुकी हैं।

साहित्य तो 'हथियार' बना ही, आलोचना तो हथियार बनी ही, अब मार्क्सवाद भी एक 'हथियार' बन गया है जिसे अवसर देखकर निकालिए; यदि अवसर ठीक न हो तो अलग रख दीजिए और दूसरे हथियारों से काम लीजिए। उद्देश्य एक-मात्र है, 'सहयात्रियों' की तलाश और उनकी मालिश और पालिश !

इस आपा-धापी में 'सहयात्रियों' की दशा सबसे दयनीय है। वे एक विचित्र असमंजस के शिकार हैं। अपनी पूरी ईमानदारी के साथ वे अपने कुछ बचे हुए विश्वासों को, जो मुख्यतः साहित्यिक विश्वास हैं, पकड़े रहते हैं और मन में कहते हैं : "मैं कम्युनिस्टों से भिन्न हूँ। मुझे अपने विश्वास प्यारे हैं, लेकिन कम्युनिस्ट-पार्टी में उदार लोगों की कमी नहीं है। ईश्वर करे, इनकी शक्ति बढ़े। ये लोग मेरे प्यारे विश्वासों को मुझसे नहीं छीनेंगे। मैं इसी तरह बना रहूँगा।" लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है। सत्ता प्राप्त करने के बाद कमिसार रेवाई की घोषणा है : "जो लोग ज़माने के साथ क़दम मिलाकर नहीं चल सकते, उन्हें अपने को ही दोष देना चाहिए। हम पर यह आरोप कोई नहीं लगा सकता कि इन समस्त लम्बे वर्षों में हमने उन लोगों के लिए अपनी परिधि को विस्तृत नहीं किया जिन्हें हमने समझाने का प्रयास किया, अक्सर फुसलाया भी, ताकि वे अपने अतीत को भूल जायँ और 'जनता के जनतन्त्र' में शामिल हो जायँ। यह हमारा दोष नहीं है कि कई लोगों ने ऐसा नहीं किया...सहयोगी या सहयात्री लेखकों को ख़ूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सहयोगी या सहयात्री होना केवल एक संक्रमण-कालीन स्थिति है, एक ऐसा स्थान है जहाँ वे क़ायम नहीं रह सकते।"

कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिन्हें इस नये शब्द 'जनता के जनतन्त्र' के सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है कि यह कोई नई वस्तु है। लूकाक्स को भी यही भ्रम हो गया था। इसलिए कमिसार रेवाई स्पष्ट करता है : "हमारे 'जनता के जन-तन्त्र' के श्रमिक वर्ग की तानाशाही में परिणत हो जाने पर आवश्यक हो गया है कि सैद्धान्तिक दृष्टि में सुधार कर लिए जायँ और कुछ पुराने और अस्पष्ट विचारों का संशोधन अथवा त्याग कर दिया जाय; उदाहरणतः वे विचार अथवा वृत्तियाँ जिनकी सम्मति में अपने प्रथम उल्लास में भी जनता का जन-तन्त्र पूँजीवाद और समाजवाद के बीच कोई विशेष अथवा तीसरा रास्ता

है।"[१] और स्तालिन के अनुसार श्रमिकवर्ग की तानाशाही की परिभाषा यह है : "श्रमिकवर्ग की तानाशाही तभी सम्पूर्ण होती है जब वह केवल एक पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, द्वारा परिचालित हो, जो नेतृत्व में किसी दूसरी पार्टी के साथ बँटवारा नहीं करती है और न उसे करना ही चाहिए।"[२]

तात्कालिकता के इस विशाल अभियान के बीच कुछेक ऐसे भी सिरफिरे आलोचक होते हैं जो कभी-कभी भटककर पुराने साहित्य और इतिहास की वाटिका में चले जाते हैं। यदि उसका प्रभाव उन पर पड़ गया तो फ़ौरन 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' की छाप उन पर लग जाती है। इस 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' का क्या अर्थ होता है, इसे समझने के लिए ऐन्जोल फ्लोरेंस द्वारा सम्पादित 'साहित्य और मार्क्सवाद : एक सोवियत साहित्यिक वाद-विवाद' बड़ी रोचक पुस्तक है। इसमें तीन-चार प्रकार के आलोचक हैं। सभी एक-दूसरे को कुत्सित समाजशास्त्री कहते हैं। प्रश्न है : 'पुराने महान् साहित्यकारों की महानता का क्या रहस्य है?' साहित्य को 'वर्ग-स्वार्थ का प्रतिबिम्ब' से लेकर 'पीड़ित मानवता की युग-युग की पुकार' तक कहा गया है। इसमें सबसे उदार 'पीड़ित मानवता की पुकार'-वादी श्री माइखेल लीफ़शित्स हैं और इस पुस्तक में छपे उनके चार लेखों के पश्चात् उनका निष्कर्ष यह है : "श्रमिकवर्ग की तानाशाही की तैयारी जनता के लम्बे और हठी संघर्ष द्वारा हुई है, उस संघर्ष द्वारा जिसका प्रारम्भ समाज में असमानता के द्वारा हुआ और जो समस्त इतिहास के वर्ग-संघर्ष की प्रमुख स्थापना है।"[३] साहित्य युग-युग से इसी तैयारी का प्रतिबिम्ब है। अब सारी गुत्थी सुलझ गई। अफ़सोस इसी बात का है कि बेचारे होमर, शेक्सपीयर, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास को अपने इस सौभाग्य की जानकारी नहीं हो सकी कि इतने मनोयोग से वे इस बीसवीं शताब्दी में कम्युनिस्टपार्टी के एकछत्र राज्य की तैयारी कर रहे थे।

समकालीन कम्युनिस्ट-आलोचना की एक पकड़ इसी बात में है कि वह साहस के साथ मानवता के महान् अतीत साहित्य की ओर नहीं ताक सकती। छोटे-छोटे लेख ही उसका अन्त हैं। एक भी कम्युनिस्ट-आलोचक ऐसा नहीं है जो साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास लिखने का साहस कर सके और अन्त में

---

१. जोज़ेफ़ रेवाई : 'लूकाक्स और सामाजिक यथार्थवाद', १९५०।
२. वही।
३. माइखेल लीफ़शित्स : 'साहित्य और वर्ग-संघर्ष'।

काडवेल और लूकाक्स की भाँति 'असंगतियों का भण्डार', 'विरोधाभासों का कोष' अथवा 'कुत्सित समाजशास्त्री' बनकर न निकले। इतनी एकांगी कसौटी को लेकर सारे साहित्य को कसने के लिए दौड़ पड़ने वाले सचमुच प्रतिभाशाली समीक्षक काडवेल और लूकाक्स के आँसू पोंछने के लिए हम केवल इतना ही कह सकते हैं, "क्या करोगे भाई, दोष तुम्हारा नहीं है। दोष उस साहित्य का ही है जिससे तुम अनायास ही उलझ पड़े।"

अक्टूबर, १९५३

'काव्यधारा' : एक ययत्स समीक्षा

काव्यधारा एक पुस्तक-पत्रिका है। इसमें कुल मिलाकर २१२ पृष्ठ हैं जिसमें ६८ पृष्ठों में गद्य है और १०८ पृष्ठों में कविताएँ हैं। कविता के १०८ पृष्ठों में ६ पृष्ठ हास्य-व्यंग्य है और ६ पृष्ठ 'जनवाणी' है जिससे तात्पर्य है एक अवधी और दो राजस्थानी की कविताएँ तथा एक पंजाबी कविता का अनुवाद। कवर पर एक अल्पना के चक्र की तसवीर है जो सुन्दर है और एक रिलीफ़-मूर्ति की तसवीर है जो शायद सरस्वती की हैं; यों किसी यक्षिणी की भी हो सकती है।

इस पुस्तक-पत्रिका के दावे बहुत विशाल हैं—इतने विशाल जितने अभी तक शायद न किसी पुस्तक ने किये, न पत्रिका ने। प्रकाशन से बहुत दिन पूर्व आयोजन की सनसनीखेज़ घोषणा के रूप में दोनों सम्पादकों की ओर से एक हैण्डबिल भी बँटा था जो पत्र-पत्रिकाओं तथा लेखक-मण्डल को प्राप्त हुआ। उस हैण्डबिल में कही हुई बात प्रस्तुत पुस्तक-पत्रिका के अन्त में 'हमारा-वक्तव्य' शीर्षक देकर दुहराई गई है। हिन्दी-काव्य की सामयिक स्थिति से अनभिज्ञ कोई बाहरी पाठक यदि इस वक्तव्य को पढ़े तो उसे भान होगा कि सम्प्रति हिन्दी-काव्य में तूफ़ाने-नूह बरपा हो गया है, कहीं कुछ कूल-किनारा नहीं दीखता, हर ओर विनाश-ही-विनाश है। ऐसे में बड़े 'विराट् संगठित प्रयत्न' द्वारा यह काव्यधारा का जहाज़ सम्पादकों ने तैयार किया है जिसमें हर प्रकार के कवि-जीवों में से एक-एक को वे बचा ले जाना चाहते हैं, ताकि सृष्टि आगे चल सके। इसमें जो 'प्रथमहि मोहबस' चढ़े हैं, वे बच जायँगे; जो नहीं चढ़े हैं, या जिन्हें नहीं चढ़ाया गया है, वे निश्चय ही डूब जायँगे।

वक्तव्य में तूफ़ाने-नूह के लिए पहला अपराधी पाठक को ठहराया गया है। सम्पादकों के अनुसार 'अनेक संस्कृति-विरोधी बाह्य प्रभावों में फँसकर गत वर्षों में पाठकों की काव्य-रुचि विकृत होती गई है।''''''दूसरे अपराधी 'कुछ कवि' हैं जो अपनी वैयक्तिक, उलझी, कुण्ठित, अनास्थाशील और विद्रूपात्मक संवेदनाओं या एकांगी बौद्धिक मान्यताओं को ऐसी अनुभूतिहीन, दुरूह और गद्यात्मक शैली में व्यक्त करने लगे हैं जिसका उद्देश्य सामान्य पाठकों तक अपने भाव-विचारों का प्रेषण नहीं होता।' यद्यपि सौभाग्य से ऐसे कवियों

की संख्या बहुत थोड़ी है, किन्तु इनका प्रभाव यह बताया गया है कि 'कविता जनमानस की भाव-चेतना में जीवन-सत्य की अधिक गहरी और मार्मिक अनुभूति जगाने के दायित्व से विमुख होकर युगीन अर्थवत्ता और भाव-गम्भीरता खोती जा रही है ।' ये कुछ कवि कौन हैं, और किस प्रकार की रचनाएँ करते हैं, यह इस वक्तव्य में नहीं बताया गया है। किन्तु इन पवन-चक्कियों से जूझ पड़ने का आवाहन सारे संग्रह में व्याप्त है। पुस्तक-पत्रिका में प्रकाशित लेखों से अनुमान कभी लगता है, कभी नहीं भी लगता है। अन्त में, एक बहुप्रचारित धारणा का भी उल्लेख है। 'कविता का युग बीत गया—इस बहुप्रचारित किन्तु अनैतिहासिक धारणा ने समर्थ कवियों तक को कम हतोत्साहित नहीं किया है ।' सम्पादक यह बताना भूल गए हैं कि इस धारणा का प्रचार किस पत्रिका, लेख, पुस्तक अथवा संगठन में किया गया है, और कौन वे समर्थ कवि हैं जो इससे हतोत्साहित हो गए हैं।

यह तो हुआ तूफ़ाने-नूह। जहाज़े-नूह की एकमात्र विशेषता है 'पूर्वग्रह-हीनता'। अतः वक्तव्य है कि : 'किसी पूर्वग्रह या एकांगी मतवादों में न बँधकर काव्यधारा सभी नये-पुराने कवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं को संकलन के रूप में प्रकाशित करके हिन्दी की 'मुख्य काव्यधारा' का प्रतिनिधित्व करेगी, तत्सामयिक फ़ैशनवर्ती (?), कूल-किनारों पर भटकती फिरने वाली स्वेच्छाचारी[1] फेनिल बुदबुदों का नहीं।' इस प्रकार सारा आयोजन यह सिद्ध करने का विराट् प्रयास है कि सम्पादकों के मन में कोई पूर्वग्रह नहीं है। अर्थात् उनकी ऐसी कोई ज़िद नहीं है कि जो कुछ वे कह रहे हैं उसे पकड़कर बैठे रहें, उससे उलटी बात कहें या करें ही नहीं। और इसमें सन्देह नहीं कि अपने इस प्रयास में वे आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए हैं। पूरी पुस्तक आद्यन्त पढ़ने के बाद संकीर्ण-से-संकीर्ण मत वाला व्यक्ति यह आरोप नहीं लगा सकता कि सम्पादकगण के विचार एकांगी हैं, अर्थात् वे एक ही बात या कोई भी बात कहना चाहते हैं। सचमुच सम्पादकों के ही शब्दों में यह प्रयत्न 'अभूत-पूर्व' है, अर्थात् न ऐसा आज तक किसी ने किया, न कहा। मैं तो यह सोचता हूँ कि शायद आगे कोई करेगा भी नहीं।

बाल की खाल निकालने वाले पाठकगण सम्भवतः तर्क करें कि इतने से एक पूर्वग्रह तो प्रमाणित ही है कि सम्पादकगण पूर्वग्रह के विरुद्ध हैं। ऐसे ही

१. व्याकरण ग़लत है। बुदबुद पुल्लिंग है। सम्पादकगण भविष्य में ध्यान रखें।

संकीर्ण मत वाले छिद्रान्वेषियों के लिए प्रमुख सम्पादक श्री शिवदानसिंह चौहान ने पूर्वग्रह का वैज्ञानिक समर्थन किया है। जो लोग 'पूर्वग्रह' का भूत खड़ा कर उसका विरोध करते हैं, उनकी घोर निन्दा करते हुए उन्होंने कहा है :

"आख़िर ये 'पूर्वग्रह' हैं कौनसी बला, जिनसे कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं है- कभी भी नहीं रहा – और जो किन्हीं दो व्यक्तियों को परस्पर अपने हृदय की बात कहने-सुनने, समझने के मार्ग में सदा एक दुर्लंघ्य दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं ? वास्तव में 'पूर्वग्रह' ऐसी कोई भयंकर बला नहीं हैं। यदि होते तो ज्ञान, विज्ञान और कला का कहीं अस्तित्व न होता, यहाँ तक कि मनुष्य की भाषा तक का विकास न होता। 'पूर्वग्रह' मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव और ज्ञान के मार्ग से विकसित होने वाली चेतना, नैतिक संस्कार, सौन्दर्य-भावना और विश्वबोध के अनिवार्य परिणाम हैं जो व्यक्ति की निजी धारणाओं, मान्यताओं और सहानुभूतियों के रूप में व्यक्त होते हैं।"

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सम्पादकों में से कम-से-कम एक के मन में पूर्वग्रह के विरुद्ध भी कोई पूर्वग्रह नहीं है।

यहाँ तक कि पत्रिका को मौलिक बनाये रखने का भी पूर्वग्रह सम्पादकों को नहीं है, इतना तो, इसकी व्याख्या 'पुस्तक-पत्रिका' में ही स्पष्ट है। नामकरण बहुत सोच-समझकर किया गया है, क्योंकि काव्यधारा न पुस्तक है, न पत्रिका; यह कहिए कि दोनों है। क्योंकि, इसमें बहुत-सा अंश बासी है, यद्यपि इसे स्वीकार नहीं किया गया है। गद्य के ८८ पृष्ठों में कम-से-कम ५२ पृष्ठ नई-पुरानी प्रकाशित पुस्तकों से लिये गए हैं और उद्धरण के लिए मूल्य का उल्लेख करना भी एक बूर्जुवा पूर्वग्रह समझ, कहीं इसका संकेत भी नहीं किया गया है। जैसे, यह नहीं वताया गया है कि श्री शिवदानसिंह चौहान का लम्बा लेख (जिसने ४७ पृष्ठ घेर रखे हैं) उनकी प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' का एक अध्याय है। अनभिज्ञ पाठक पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि वह सन्तुष्ट होता है कि सम्पादक ने इस अंक के लिए काफ़ी परिश्रम किया है। डॉ० नगेन्द्र के प्रयोगवाद-सम्बन्धी निबन्ध (जिसे वे स्वयम् 'प्रयोगवादी कविता' और 'नई प्रयोगवादी कविता' के नाम से दो संग्रहों में छपा चुके हैं) का कतरा हुआ अंश 'काव्य की रागात्मकता और बौद्धिक प्रयोग' शीर्षक से मौलिक जामा पहनकर विराजमान है। 'दिनकर' जी के संग्रह 'नीलकुसुम' की भूमिका का अंश 'नई पीढ़ी' बनकर पुस्तक-पत्रिका की शोभा बढ़ा रहा है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी और श्री विनयमोहन

शर्मा की टिप्पणियों का मूल स्रोत खोज पाने का समय मुझे नहीं मिल पाया, परन्तु आशा करता हूँ कि उनके सम्बन्ध में भी सम्पादकों ने मौलिकता का पूर्वग्रह नहीं बरता होगा। इसी प्रकार संग्रहीत कविताएँ भी आधी से अधिक काव्य-संग्रहों, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। जब सम्पादकों ने स्वयम् उन सबका स्रोत बताना उचित नहीं समझा है तो असमर्थ समीक्षक से इसकी आशा करना अन्याय है। यों सुमित्रानन्दन पन्त, गिरिजाकुमार माथुर, सुमित्राकुमारी सिनहा, डॉ० रामकुमार वर्मा, दिनकर, नागार्जुन, शम्भूनाथ सिंह, नीरज, नरेश मेहता, भारतभूषण अग्रवाल आदि कुछ कवियों का उल्लेख कर सकता हूँ जिनकी प्रकाशित कविताएँ इस 'पत्रिका' में उद्धृत की गई हैं। जागरूक पाठकगण जो पत्र-पत्रिकाएँ तथा निकलने वाले काव्य-संग्रहों को देखते रहते हैं, यदि इस काव्यधारा को न भी पढ़ें तो बहुत कुछ नहीं खोयेंगे; इतना आश्वासन दिया जा सकता है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि समर्थ सम्पादकों ने सम्पादन-कला के एक साधारण पूर्वग्रह, कि रचनाएँ मौलिक दी जायँ, और उद्धरण दिया जाय तो इसका संकेत किया जाय, इसका भी तिरस्कार किया है जो क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का प्रमाण है। कैंची और गोंद का इतना कुशल प्रयोग सचमुच 'अभूतपूर्व' है। किन्तु पाठकगण इस नयी टेकनीक को भी पूर्वग्रह न समझ बैठें, इसलिए 'कैंचीकट गोंदपुत्र' शीर्षक से छोटे सम्पादक श्री गोपालकृष्ण कौल ने अपनी एक कविता भी संग्रह में दी है :

(१)

बाज़ार में हिन्दी के बिगड़े सपूत अब
हाथ की सफ़ाई औ' तमाशा दिखाते हैं।
कैंची है इनकी माँ, गोंद इनके पिताजी
दूसरों की काट कर अपने चिपकाते हैं।

(२)

काटते ज़रूर हैं दरज़ी नहीं हैं किन्तु,
दफ़्तरी नहीं लेकिन काम चिपकाने का
लेखकों की भीड़ में श्रेय सिर्फ़ इनको है
प्रतिभा के बिना ही कमाल दिखलाने का।

(३)

छूते नहीं क़लम, सम्हालकर रखते हैं
काग़ज़ का धवल मुख काला बनाते नहीं

छपते हैं इतना, टाइप घिसे जाते हैं
लेखनी को लेकिन बिलकुल घिसाते नहीं।

(४)

लेते हैं कम दाम, देते हैं मक्खन साथ
होड़ में होता बुरा हाल दूसरों का है।
आर्डर पर करते हैं माल सपलाई यह
लेबिल इनका किन्तु माल दूसरों का है।

कविता इतनी तीखी है कि विश्वास नहीं होता कि छोटे सम्पादक जी ने अपने ऊपर ही लिखी होगी। और यह मानने का कोई प्रमाण नहीं है कि कैंची और गोंद का प्रयोग किया होगा बड़े सम्पादक ने और कविता लिखी होगी छोटे सम्पादक ने।

हिन्दी पत्रकारिता में एक बहुत पुराना पूर्वग्रह यह भी चला आ रहा है कि जो लेख किसी लेखक के नाम से दिये जायँ, वह उसके द्वारा लिखे गए हों। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि सम्पादकगण इस पूर्वग्रह से भी हीन हैं। प्रस्तुत 'पुस्तक-पत्रिका' में एक लेख डॉ० रामकुमार वर्मा के नाम से 'मेरा दृष्टिकोण' शीर्षक देकर प्रकाशित किया गया है। जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा के हमारे पास आये एक पत्र से स्पष्ट है, उक्त लेख उन्होंने कभी लिखा ही नहीं। कोई सज्जन सम्पादक की ओर से उनका 'इन्टरव्यू' लेने के लिए पहुँच गए। कुछ बातें कीं और 'काव्यधारा' के लिए लेख तैयार हो गया। जो कुछ लिखा गया, उसे छपने के पूर्व डॉक्टर साहब को दिखलाने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। फलतः डाक्टर साहब की कुछ सनसनीखेज स्वीकृतियाँ भी सामने आई हैं जैसे : "मेरा जीवन कुछ ऐसी स्थितियों से गुज़रा है जिसमें घटनाएँ नहीं के बराबर रहीं···दैनिक समस्याओं से जूझने का अवसर मुझे नहीं मिला·· जीवन के क्रम में घटित होने वाली घटनाओं से मेरा लगाव नहीं के बराबर है···आदि आदि।" ये स्वीकृतियाँ सही नहीं हैं और सौभाग्य से देश का राजनीतिक वातावरण अभी ऐसा है कि डॉक्टर साहब इनका प्रतिरोध कर सकें।

हम श्री कौल का ध्यान एक ऐसी कविता की आवश्यकता की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें 'माल इनका, किन्तु लेबिल दूसरों का' का उल्लेख हो।

ऊपर हमने पवन-चक्कियों से जूझने के पराक्रम का उल्लेख किया है। श्री शिवदानसिंह के दोनों लेखों (जिनमें से एक भीमकाय है) को पढ़ने के उपरान्त

अनुमान होता है कि ये 'पब्लिक एनेमी नम्बर वन्' कुछ 'योगवादी' कवि हैं जिनमें श्री 'अज्ञेय' और उनके समानधर्मा कवि आते हैं। ये समानधर्मा कौन हैं, इनका पता बड़े प्रयास के बाद भी नहीं लगा पाया हूँ, यद्यपि आगे अनुमान लगाने की चेष्टा करूँगा। इनका वर्णन बहुत डरावना किया गया है, यद्यपि यह नहीं समझ में आता कि ये सब इतने पतित हैं तो कविता के इतिहास में इनका ज़िक्र करने की आवश्यकता क्या थी ? प्रमुख सम्पादक के अनुसार : अज्ञेय और उनके समानधर्मा दूसरे मध्यवर्गी बुद्धिजीवी अपनी व्यक्ति-चेतना से इतने आक्रान्त रहे हैं कि वे सामाजिक जीवन के साथ किसी प्रकार के सामंजस्य की कल्पना ही नहीं कर सकते···। साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीझ, कुण्ठा, किशोर औद्धत्य और हीनभाव ही व्यक्त हुआ है जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है··· हिन्दी-कविता के समग्र इतिहास को दृष्टि में रखकर हम अनिवार्यतः इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवादी कविता कोई नया उत्थान नहीं है, बल्कि छायावादी कविता के ह्रास का ही विकृत रूप है और हिन्दी की विशाल काव्यधारा में प्रयोगवादी कवियों की देन अभी बूंद के समान ही है···।"

अपनी इस डरावनी समीक्षा-शैली के प्रति भी सम्पादक का कोई पूर्वग्रही मोह नहीं है, इसको प्रमाणित करने के लिए 'दिनकर' जी के संग्रह 'नील कुसुम' की भूमिका से नई पीढ़ी के नाम अंश उद्धृत किया गया है। अत्यन्त निर्लिप्त भाव से सम्पादकगण दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत करते हैं। दिनकरजी के अनुसार :

"हिन्दी कविता में जो नवीनतम क्षितिज झलकने लगा है, उसे लेकर सम्भ्रान्त आलोचकों में काफ़ी मतभेद है। किन्तु मैं बड़े उत्साह में हूँ···कोलाहल तो बड़े ज़ोर का है और लगता भी ऐसा ही है कि लड़के अपने पुरखों के कलात्मक असबाबों को तोड़कर ही दम लेंगे। किन्तु यह नवागम का भी रोर हो सकता है। सम्भव है, बाढ़ में बहकर बहुत-से ऐसे लोग भी आ गए हों जो कवि नहीं हैं, किन्तु भविष्य पर जिनके पंजों की छाप पड़ने वाली है, वे कवि-पुङ्गव भी इसी झुण्ड में छिपे हुए हैं। नई आलोचना का धर्म है कि उन्हें ठीक से ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढ़े की व्यवस्था करे।"

इस 'नवीनतम क्षितिज' से 'दिनकर' जी का संकेत किस ओर है, उसे लेकर सम्भ्रान्त सम्पादकों में मतभेद की गुंजायश नहीं दीखती। क्योंकि भूमिका में जहाँ से लेख को कतरा गया है, उसके ऊपर ही निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं जिन्हें मान्य सम्पादकों ने उद्धृत करना अनावश्यक समझा है :

"विचित्र बात है कि 'नील कुसुम' के रचयिता के सहज बन्धु रेणुका और हुंकार के रचयिता नहीं, वरन् वे लोग हैं जिन्हें सही नाम के अभाव में हम प्रयोगवादी कहने लगे हैं। किन्तु, मैं प्रयोगवाद का अगुआ नहीं पिछलगुआ कवि हूँ, क्योंकि 'नील कुसुम' की कविताओं की रचना के बहुत पहले ही 'तार सप्तक' की गूँज देश में खूब छा चुकी थी।"

यह बात दूसरी है कि प्रकाशित अंश में सन्दर्भ से विच्छिन्न होकर 'दिनकर' जी का मन्तव्य कुछ विकृत हो गया है। परन्तु इससे सम्पादकों के सदुद्देश्य पर सन्देह नहीं किया जा सकता। आखिरकार उद्धरण को सही सन्दर्भ के साथ प्रकाशित करना भी तो एक निरर्थक पूर्वग्रह है जिनसे सम्पादक-गण मुक्त हैं। स्मरण रहे कि ये दिनकरजी वही हैं जिनके विषय में श्री चौहान अपने भीमकाय लेख में कहते हैं : 'उनका व्यक्तित्व प्रयोगवादियों की तरह अपनी मध्यवर्गीय विवशताओं के आगे नतशिर होकर अपने कवि-गौरव का हनन नहीं होने देता'...('यू टू ब्रूटस !')

इसी प्रकार अन्य विषयों में भी पुस्तक-पत्रिका में उत्तम प्रकार के विरोधाभास का दर्शन होता है। उदाहरणतः श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की टिप्पणी की टेक है : 'मुक्त छन्द के रूप में कविता की जो दुर्दशा हो रही है, वह असह्य और अक्षम्य है।' पाठक भ्रमित न हों, इसलिए श्री कौल अपने लेख 'नई पीढ़ी : नई कविता : दायित्व का प्रश्न' (!) में विशेष आग्रह के साथ मुक्त छन्द का समर्थन करते हैं : 'मुक्त छन्द-रचना से सबसे बड़ी बात यह हुई कि भाषा की संगीतात्मक विशेषता को नज़दीक से समझा गया और गद्य को भी काव्य के अनुकूल, बल्कि अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयोगी और कलात्मक बना दिया गया।' इसी तरह गीतकारों की भर्त्सना करते हुए श्री कौल कहते हैं : "गीत नामक रचना में कुछ गिने-चुने रोमाञ्चक भावों में से किसी एक को अलंकार-चित्रों में उपस्थित करने का आवृत्तिपरक ढंग नई उम्र के कवियों में सरलता से प्रचलित हो गया है। वे इस सीमित परिधि में ही चक्कर काटने में अपनी सार्थकता समझते हैं।" किन्तु 'सच्चे अर्थों में प्रगतिशील' आज के जिन सौभाग्यशाली कवियों का नाम श्री चौहान ने गिनाया है, उन चौदह में कम-से-कम नौ वही आवृत्तिपरक गीत वाले हैं जिनमें से कुछ हिन्दी के पाठक के लिए परिचित हैं, कुछ अपरिचित। संग्रह में प्रकाशित ९७ कविताओं में १८ का तो शीर्षक ही गीत है और २० अन्य हैं जिनका शीर्षक तो वर्णनात्मक हैं, किन्तु हैं वे आवृत्तिपरक गीत !

कथनी और करनी के इस इन्द्रजाल में पड़कर पाठक हैरान होकर ताकता भले ही रह जाय, किन्तु इसमें संशय नहीं कि उसके मानस की वह शुद्धि

होगी कि फिर पूर्वग्रह का नाम न लेगा। लोग उसकी ऊल-जलूल बातों को निरर्थक बकवास चाहे कह लें, किन्तु एकांगीपन का आरोप उस पर नहीं लगाया जायगा।

हमने बड़े मनोयोग से अज्ञेय के 'समानधर्मा' कवियों की खोज करने की कोशिश की जिनके विरुद्ध सम्पादक जी का विशेष आक्रोश है। खेद है कि किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सका। 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के चौदह कवियों में से आठ की कविताएँ तो काव्यधारा में प्रकाशित ही हैं। अब सिद्ध है कि ये आठ 'मुख्य काव्यधारा' में आते हैं 'फ़ैशनवर्ती फेनिल बुद-बुदों' में नहीं। बाक़ी छह, जिनकी कविताएँ नहीं हैं, वे हैं अज्ञेय, रामविलास शर्मा[1], भारती, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, रघुवीर सहाय। हम आशा करते हैं कि इन कवियों को जान-बूझकर छोड़ा गया है, न कि इन्होंने कविताएँ माँगने पर देने से इन्कार कर दिया है। (आखिरकार कुछ कवि तो फेनिल बुद्बुदों में आयेंगे। सब 'मुख्य काव्यधारा' ही में बह चलेंगे तो काम कैसे चलेगा ?) लेकिन यह समझ में नहीं आता कि नरेश मेहता और शमशेर बहादुर सिंह-जैसे ऊँटों को निगल जाने के बाद पूँछ कैसे गले में अटक गई ? हो सकता है, यह भी पूर्वग्रहहीनता का उदाहरण हो। यों, श्री चौहान द्वारा गिनाये १४ 'सच्चे प्रगतिशीलों और प्रयोगशीलों' में रंग, शील और नामवर सिंह भी इस संग्रह में नहीं हैं। क्या इन युगद्रष्टा कवियों की कविताएँ भी सम्पादकगण के पास नहीं हैं ? एकाध नमूने के लिए दे देते तो हम भी जान जाते कि ये कौन हैं और हिन्दी के बाज़ार में कैसा 'माल सप्लाई' करते हैं। परिचित कवियों में से छूटे हुए कुछ अन्य कवि हैं : केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, नरेन्द्र शर्मा, अजितकुमार। क्या ये सब भी अज्ञेय के समानधर्मा 'फेनिल बुद्बुदों' में आते हैं ?

---

१. जिस तटस्थता से बड़े सम्पादक जी ने रामविलास और अज्ञेय को 'व्यक्ति-चेतना से आक्रान्त' कवियों के रूप में एकसाथ 'ब्रैकेट' किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पाठक इससे यह न समझें कि दोनों ने चौहान जी को भला-बुरा कहा होगा, अतः पूर्वग्रह के कारण यह कमाल दिखाया गया है। क्योंकि दोनों का रुख चौहान जी के प्रति दो प्रकार का है। रावविलास जी चौहान जी की आवश्यकता से अधिक 'नोटिस' लेते हैं जबकि अज्ञेय जी ने अब तक तो उनकी 'नोटिस' नहीं ली है। पाठकों को यह जानकर कुतूहल होगा कि रामविलास जी चौहान तथा अज्ञेय को समानधर्मा बताते हैं। अब अज्ञेय जी भी मौन तोड़कर रामविलास जी तथा चौहान जी को समानधर्मा घोषित कर दें, तो त्रिकोण पूरा हो जाय।

परन्तु सबसे प्रामाणिक पूर्वग्रहहीनता तो कविताओं के चयन में परिलक्षित होती है—ऐसी कि सात घर दुश्मन हो तब भी मान जाय। मुक्त छन्द, गीत से लेकर रुबाई, ग़ज़ल, यहाँ तक कि भजन तक का समावेश इस पोथी में किया गया है। पूर्वी, कजली आदि के लिए तो 'जनवाणी' का स्तम्भ ही अलग से खोल दिया गया है। हिन्दी-रूपी भानमती का पूरा कुनबा मौजूद है, सिवाय दो-एक फेनिल बुद्‌बुदों के। किन्तु सामर्थ्य इसे कहते हैं कि सम्पादक-गण इन सबके प्रति मोही भी हैं, निर्मोही भी। बहुत से कवि ऐसे हैं कि लेखों को पढ़िये तो पवन-चक्कियों के साथ मालूम पड़ते हैं, किन्तु संग्रह में देखिये तो वीर क्विक्ज़ोट तथा सैनको पान्ज़ा के हरावल के सिपाही हैं। फलत: क्विक्ज़ोट और सैनको पान्ज़ा में कभी-कभी तकरार भी हो जाती है। कमाल यही है कि एक पृष्ठ का पूर्वग्रह दूसरे पृष्ठ तक पहुँचते ही काफ़ूर हो जाता है। उदाहरण के लिए श्री नरेश मेहता की रोमांचकारी हिन्दी की बानगी देखिए :

दखिन दार उवाड़ी बसन्त आयो !!
हमाके पतझड़ नग्न कियो,
पुराना पात झड़ि गियो,
सेरी बाटे जीर्ण जीवन,
बुहारी लिये जावै पवन !
नतून खातिर मार्ग देवो,
जो हमार मोह पुरातन !
गोपुरे शंख डाके सुनो सखि !
ऋतु श्रीमंत आयो !!

आप आश्चर्य न करें, यह हिन्दी है। शायद इसे विशेष आग्रह के साथ हिन्दी-कविता का भविष्य सुधारने के लिए बड़े सम्पादक जी ने छापा होगा। क्योंकि छोटे सम्पादक इस तरह के खुराफ़ात के सिर पर वज्र गिराने को सन्नद्ध हैं :

"दूसरी ओर काव्य-संगीत विशेषत: संगीत को अधिक महत्व देने वाले कवि हिन्दी-भाषा में ही संगीतात्मक क्षमता का अभाव मानकर बंगाली की ओर देखने लगे हैं। हिन्दी का व्याकरण ही उन्हें संगीत-विरोधी लगता है और इसलिए वे जनपदीय बोलियों और अन्य प्रान्तीय भाषाओं की संगीत-परक विशेषताओं को लाने के लिए अपनी भाषा को ही विकृत करने को तैयार हैं।"

बड़े सम्पादक जी यदि श्री नरेश मेहता से सहमत हैं तो निस्सन्देह दोनों ही छोटे सम्पादक से असहमत हैं; यदि छोटे सम्पादक से सहमत हैं तो दोनों

ही श्री नरेश मेहता से असहमत हैं। छोटे सम्पादक के दोनों के प्रति क्या रुख़ हैं, यह स्पष्ट है। जो भी हो, हम बिना किसी पूर्वग्रह के इन सभी से सहमत हैं।

उसी प्रकार श्री चौहान जी ने अपने भीमकाय लेख में आधुनिक काव्य की उत्तमता की परीक्षा के लिए एक ही कसौटी बताई है: वर्ण्य वस्तु से ज्ञान के आधार पर तादात्म्य स्थापित करना। और श्री शमशेर बहादुर सिंह की जो कविता उन्होंने दी है, उसमें एक टिप्पणी की आवश्यकता महसूस की गई···और उस टिप्पणी की प्रथम पंक्ति है 'मैं योरपीय संगीत नहीं समझता'···और कविता की वर्ण्य वस्तु है रेडियो पर बाख़ का संगीत···। साधारणीकरण का नमूना इस प्रकार है :

जो कुछ है !
जो कुछ है !
खो !
खो !
खो !
ओ शीरीं ! ओ लैला ! ओ हीर !
—जा
—जा
—जा—सो !

हिन्दी के और कौन से फेनिल बुदबुद हैं जो इससे भी अधिक 'दुरूह और कृत्रिम' हैं ?

प्रकाशित कविताओं के बारे में जितना कहा जाय, उतना ही थोड़ा है। साधारण सम्पादकों का एक पूर्वग्रह यह भी होता है कि कविताएँ श्रेष्ठ स्तर की दी जायँ। लगता है कि ये दावेदार सम्पादकगण इस पूर्वग्रह से भी बरी हैं। प्रसिद्ध कवियों की साधारण कोटि की ही कविताएँ खोज-खोजकर दी गई हैं जिससे भान होता है कि 'मुख्य काव्यधारा' की क्या विशेषताएँ हैं। शीर्ष स्थान नवीन जी की १८२ पंक्तियों की एक लम्बी कविता को दिया गया है जिसे कविता न कहकर 'उड्डीयन-साधनों' पर एक छन्दबद्ध निबन्ध कहना उपयुक्त होगा। समीक्षक ने कई बार साहस करके पूरी कविता पढ़ जाने का प्रयास किया, किन्तु सफलता न मिली। काहं ! कोऽहं ! साहं ! सोऽहं ! में उलझ कर रह गया। मुख्य काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए इस कविता का चुनाव भी पूर्वग्रहहीनता ही सिद्ध करता है, क्योंकि यह कविता मान्य सम्पादकों की उन तमाम स्थापनाओं के विरुद्ध पड़ती है जिन्हें उन्होंने अपने भीमकाय

लेख से क्षीणकाय वक्तव्य तक प्रतिपादित किया है। विस्तृत विश्लेषण स्थानाभाव के कारण नहीं कर रहा हूँ। भगवतीचरण वर्मा, पन्त जी, उदयशंकर भट्ट और 'दिनकर' जी का चुनाव बहुत ही रद्दी किया गया है। इन सबकी श्रेष्ठतर रचनाएँ इधर ढेरों प्रकाशित हुई हैं, किन्तु सम्पादकों की पूर्वग्रहहीनता को क्या किया जाय? अच्छी कविताएँ गिनती की हैं जिनमें सर्वेश्वर की 'सुबह से शाम तक में', गिरिजाकुमार की 'मूरतें, गीत और सावन की रात', शम्भूनाथ सिंह की 'सड़क, पगडंडी और बैलगाड़ी', 'यह और वह' तथा 'डाक', नेमिचन्द जैन की 'सुनोगे?' उल्लेखनीय हैं। माचवे का सॉनेट ज़ोरदार है, यद्यपि सम्पादकों के विरुद्ध ही लिखा जान पड़ता है। त्रिलोचन का सॉनेट 'पुराणकथा' भी अच्छा है। दिल्ली के 'मिडियाकर पोएटेस्टर्स' को संग्रह में बहुत भर दिया गया है, जबकि किसी में कोई प्रतिभा नहीं दीखती।

संक्षेप में संग्रह साधारण है, किन्तु इसकी पूर्वग्रहहीनता आकर्षित एवं आतंकित करती है। जो कविताएँ इसमें हैं, वे क्यों हैं, इसका न कोई कारण है, न दिया गया है। अनुमानतः हम केवल इतना कह सकते हैं कि कुछ असिद्ध कवि-मित्रों को सिद्ध एवं प्रसिद्ध कवियों की बग़ल में बैठाकर नयन-सुख लेना ही शायद एकमात्र उद्देश्य हो। विनयशीलता को भी एकांगी बुर्जुवा पूर्वग्रह समझकर सम्पादकों ने आत्मश्लाघा का रास्ता अपनाया है। वे अपने ही मुँह से कहते हैं: 'काव्यधारा ऐसे विराट् संगठित प्रयत्न का आयोजन करने का संकल्प लेकर ही जन्म ले रही है, इसलिए यह प्रयास युगवांछित ही नहीं, अभूतपूर्व भी है।' पूर्वग्रहहीनता के इतने विविध और चकित कर देने वाले उदाहरणों के बाद भी इस विराट् संगठित प्रयास को अभूतपूर्व न मानने का साहस कौन करेगा? युगवांछित है या नहीं, इसमें थोड़ा मतभेद हो सकता है।

जनवरी, १९५४

साहित्यकार और उसका परिवेश

सम्भवतः भविष्य के इतिहासकार कहेंगे कि हम ऐसे युग में पैदा हुए जब भारतवासी एक रहस्यवादी आस्था, वेदना और शायद विनाशभय की मिली-जुली भावनाओं के साथ, अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अन्वेषण में लगे हुए थे। इसके पहले हमने इतिहास को केवल मुर्दों की कथा के रूप में पढ़ा था। कभी-कभी हमने असहाय अपने ऊपर इतिहास की प्रक्रिया का भी अनुभव किया था। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद, योरप और अमरीका के बढ़ते हुए तनाव के बीच हठात् हमने अनुभव किया कि इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ हमारे लिए भी बज रही हैं। इसका युग नहीं रह गया कि इतिहास हम पर अमल करे; समय की चकाचौंध करने वाली माँग थी कि हम इतिहास पर अमल करें। एक चुनौती, और सम्भवतः आत्मरक्षा की आवश्यकता ने हमें चौंका दिया कि केवल मुर्दों के लिए ही 'ऐतिहासिक' होना यथेष्ट नहीं है। इतिहास ने हमें आत्मसात् कर लिया। जिस वस्तु का हम स्पर्श करते थे, जिस हवा में हम साँस लेते थे, जिन पृष्ठों को हम पढ़ते-लिखते थे, जिन शब्दों को हम गढ़ते थे, सबमें एक ही प्रश्न व्याप्त हो गया—हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व क्या है?

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय अर्धांश के आरम्भ होते ही हमारे विचारों से यह प्रश्न बड़े वेग से टकराया। यह नहीं कि यह प्रश्न नया था। घुमा-फिरा कर हर युग अपने विचारकों और साहित्यकारों से यही प्रश्न पूछता है। परन्तु हर युग में उसका स्वरूप भिन्न होता है। साहित्यकार के लिए उस प्रश्न का रूप खोज निकालना और उसका उत्तर देना, यही सबसे बड़ा उत्तरदायित्व होता है। हो सकता है कि उसका सारा जीवन अनपूछे प्रश्न का ही उत्तर देने में समाप्त हो जाय—इस दशा में साहित्यकार के समकालीन उसे समझ ही नहीं पाते। कभी-कभी कोई महान् प्रतिमा ऐसी भी जन्म लेती है कि उसका उत्तर शताब्दियों तक सही और गूँजने वाला बना रहता है। ऐसा इतना कम होता है कि साधारणतः इसकी आशा करना या इसके लिए तैयारी करना व्यर्थ ही होता है। यह भी असम्भव नहीं है कि कोई साहित्यकार अपना सारा जीवन केवल इसी अन्वेषण में बिता दे कि प्रश्न असल में क्या है और किस रूप में पूछा जा रहा है। शायद हम ऐसे ही युग से गुज़र रहे हैं। एक

ओर तो अप्रत्याशा और स्पष्टता के साथ तीखी अनिवार्यता है : युग के प्रश्न को वाणी देनी ही होगी। दूसरी ओर मन को पथरा देने वाला यह अनुभव, कि कभी भी हमारे लिए यह प्रश्न और उसका उत्तर इतना घुमावदार, धुँधला और अनिश्चित नहीं था।

हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में छोटे साहित्यकारों की भारी भीड़, जो अपना मार्ग टटोलती हुई-सी दीखती है, इसी स्थिति का कारण और परिणाम दोनों ही है। प्रश्न का स्वरूप स्थिर करने में हम सफल होंगे या नहीं, या हमारा उत्तर सटीक होगा या नहीं, केवल इस कसौटी पर आज के साहित्यकार को कसना ग़लत होगा। क्योंकि समस्या सारे देश की है, और उसके कारण संसार-भर में व्याप्त हैं। हमारे समकालीन साहित्य की निर्णयात्मक कसौटी इस बात में है कि कितने साहस और ईमानदारी के साथ हमारे साथ हमारे साहित्यकारों ने प्रश्न को पूछने की चेष्टा की है।

ईमानदारी और साहस—क्योंकि वस्तुतः हमारे साहित्यकारों में अभाव ईमानदारी का नहीं है, देखना यह है कि क्या हमारा साहस भी ईमानदारी के बराबर है? क्या हमारे लेखक अपने को, अपनी शक्ति, अपनी ख्याति, सम्मान, सम्भवतः अपने विवेक को भी, हमारे चारों ओर घिरने वाले अन्धकार को भेदने के लिए दाँव पर लगाने को तैयार हैं, ताकि वे उस प्रश्न का स्वरूप देख सकें जिसका उत्तर हमें देना है? और उससे भी आगे; इसका पता लगा सकें कि कोई उत्तर दिया भी जा सकता है या नहीं? आज के लेखक ने अपने गहन उत्तरदायित्व को किस हद तक निभाया है और कहाँ तक उसने हिम्मत हार दी है, इस पर निर्णय देने के पूर्व हमें उस परिवेश को भी देखना होगा जिसका पाश उसके चारों ओर है। साथ ही हमें समाज के उन अंगों को भी ध्यान में रखना होगा जिनके ऊपर आज युग के नेतृत्व का भार है। युग के अभिशाप अथवा वरदान को लेखक सबके साथ मिलकर ही झेलता है, इसमें सन्देह नहीं।

योरप के लेखकों के सामने जो प्रश्न है, उसका स्वरूप बहुत तीखा और दर्दनाक है। दूसरे महायुद्ध के पहले, स्पेनिश गृहयुद्ध के समय ऐसा लगा कि सभी कठिनाइयों का अन्तिम हल निकल रहा है। वाम और दक्षिण, उग्र और उदार के बीच की सीमारेखा टूटती-सी मालूम पड़ी। उत्साह और आशा के प्रवाह में जीवन के मूल्यों में समन्वय होता-सा जान पड़ा। प्रश्न सीधा और सरल हो गया : जनतन्त्र बनाम तानाशाही। यह एक महान् अनुभव था, किन्तु दूसरे महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि यह क्षणिक समन्वय इन्द्रजाल ही था। आज योरप के लेखक के सामने स्वतन्त्रता के प्रश्न से भी अधिक आदिम,

अधिक गहरी और अधिक उलझी हुई समस्या है, एक भयंकर चेतावनी है : क्या मानव जियेगा—क्या वह जी भी सकेगा या नहीं ? यह सत्य है कि योरप के लेखक के उस दर्द का अनुभव हमने नहीं किया है, क्योंकि जिस तरह उसके सपने एक-एक करके टूटे हैं, जिस तरह उसके एक-एक मूल्यों में विघटन हुआ है, वह हमारे लिए कल्पनातीत है। भारत का अधिकांश विचारशील वर्ग इस पक्ष में होगा कि योरप के लेखक की समस्या उसकी अपनी है। उसके हल करने का प्रथम उत्तरदायित्व भी उसी के ऊपर है। किन्तु यह भी सत्य है कि हम उसके निरपेक्ष अथवा असहाय दर्शक-मात्र भी नहीं रह सकते, जैसा कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले सम्भव था। योरप का दर्द हमारे सामूहिक अनुभव का कोष है। योरप ने उत्थान के काल में अपने वैभव का बँटवारा समूची मानवता के साथ नहीं किया था; पतन के काल में विनाश का बँटवारा समूची मानवता के साथ न करे, इसे देखने का ख़तरनाक उत्तरदायित्व हम पर आ पड़ा है। यह हमारी राष्ट्रीय भूमिका है। इसी सन्दर्भ में आज का ऐतिहासिक व्यक्तित्व निर्मित हो रहा है। क्या हमारे लेखक इस योग्य हैं, या उनके सामने इतना अवसर, इतनी सुविधा है कि वे इस उत्तरदायित्व को वहन कर सकें ? क्या हमारे पास मानव-मूल्यों का कोष है जिससे हम इस तिमिर को प्रकाशित कर सकें ? क्या हम उन मूल्यों का निर्माण कर रहे हैं ? और यदि इतना कुछ भी सम्भव नहीं, तो कम-से-कम क्या हम उसके प्रति जागरूक हैं ?

यह कहना कि हमारे साहित्यकारों ने युद्धोत्तर काल में ऐतिहासिक स्थिति के बराबर क्षमता का प्रदर्शन किया है, अतिशयोक्ति होगी; लेकिन यह बात ज़ोर देकर कही जा सकती है कि हमारे अधिकांश साहित्यकारों ने इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ सुनी हैं। निश्चयपूर्वक उन्होंने उसके स्वर को समझने का प्रयत्न किया है, लालसा, आवेग और छटपटाहट के साथ। वे शत-प्रतिशत सफल नहीं हो सके हैं, इसका कारण यह नहीं है कि वे आत्म-निष्ठ, पलायनवादी या दिग्भ्रमित हैं, बल्कि इसलिए कि प्रश्न असाधारण, और बहुत पेचीदा है। उनकी मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह, तीखापन और रोमांस के जिस विचित्र सम्मिश्रण को स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी-साहित्य की संज्ञा दी जाती है, वह स्वाद में पहले से बहुत भिन्न है, इतना निर्विवाद है। प्रायः जिस वस्तु पर बल कम दिया जाता है, वह यह है कि एक अपरिचित और अप्रत्याशित स्थिति में आज का साहित्यकार बराबर अपनी औसत प्रतिक्रिया का मार्ग खोज रहा है। उपलब्धियों और पराक्रमों से उसका मूल्यांकन करना जल्दबाज़ी होगी; देखने की बात यह है कि उसका प्रयास सच्चा है या नहीं। जैसा परिवेश हमारे चारों ओर है, उसमें साहित्यकार का

अतिवादी हो जाना असम्भव नहीं। अब भी अधिकांश साहित्यकार अतिवादी नहीं हैं, यह इस बात का सबूत है कि मूलतः हमारा साहित्यिक मानस स्वस्थ और संयत है। विरोधाभास साहित्यकार के मानस में नहीं है, विरोधाभास हमारे उस भावनात्मक परिवेश में है जिससे साहित्यकार को जूझना पड़ रहा है। इसका मूल हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में है। उचित होगा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हम अपनी राष्ट्रीय भूमिका के भावनात्मक परिणामों की ओर दृष्टिपात कर लें।

सम्भवतः यह कहना सच होगा कि १९४७ की आज़ादी हमारे लिए एक अप्रत्याशित आयात के रूप में आई। कम-से-कम इतनी बड़ी आज़ादी के साथ जो भावनात्मक समानुपात होना चाहिए था, वह न हो सका। आज़ादी के तुरन्त बाद ही तीव्र गति से जो घटनाएँ घटीं और जिनकी परिणति महात्मा गाँधी की हत्या में हुई, उन्होंने भी न केवल भावनात्मक सामंजस्य को कुण्ठित किया, बल्कि एक दर्दनाक ढंग से उसकी सम्भावना को भी थोड़ी देर के लिए अविचारणीय बना दिया। दो-तीन वर्षों के बाद जब हम सोचने की स्थिति में हुए तो हमने देखा कि इस ऐतिहासिक संक्रमण में न हम विजेता हुए, न शहीद; न हम किसी के विरुद्ध तीखी घृणा कर सके और न किसी के सहयोग के लिए उत्कट धन्यवाद ही दे सके। यह नहीं कि इस आज़ादी में वे तत्त्व नहीं थे जो हमें आकर्षित करते। असल में भावनात्मक अनुभव की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई। हर क्रान्ति के साथ भावनाओं के एक वृहत् कोष का विस्फोट होता है जो पिछले सम्बन्धों के टूटने के बाद नये सम्बन्धों के लिए घृणा, द्वेष, प्रेम, भय, आक्रोश, धैर्य, निष्ठा आदि को नई दिशाएँ, झटके के साथ नया आवेग, देता है। १९४७ की आज़ादी ने यह नहीं किया। संसार की यह सबसे अधिक पूर्णग्रहहीन क्रान्ति थी।

किसी राष्ट्र के लिए पूर्वग्रहहीन होना शायद सबसे खतरनाक स्थिति होती है, क्योंकि अक्सर इसकी परिणति अनास्था, अविश्वास और कुण्ठा के लांछनों में होती है। पहले के युगों में सम्भवतः इन भ्रान्त लांछनों के पीछे ईमानदारी होती थी। दुर्भाग्य से आज के युग में इनके पीछे बेईमानी की ही मात्रा अधिक है।

हमारे चारों ओर का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बहुत ही उलझा हुआ है। इतिहास ने हमें जिस भूमिका में काम करने को विवश किया है, यह किसी राष्ट्र के लिए ईर्ष्या की वस्तु नहीं हो सकती। इतना स्पष्ट है कि हमारा उद्भव एक विशिष्टता के साथ हुआ है! परम्परागत चौखटे में कसे जाने से हमारी पूर्वग्रहहीनता ही हमें रोकती है : पूर्वग्रहहीनता, अर्थात् द्वेषहीनता, जो

आज की दुनिया में एक अकल्पनीय दोष बन गई है। इतिहास में पहली बार हमें वह मादक और गौरवपूर्ण अनुभव हो रहा है जब संसार की आँखें हमारी ओर लगी हुई हैं, आशापूर्ण, शायद उससे भी अधिक कुतूहलपूर्ण। हम यह सोचना पसन्द करेंगे कि इन आँखों में आशा ही है· कि पश्चिम ने सचमुच अपने से हार मानकर हमारा महत्त्व स्वीकार कर लिया है, लेकिन सबसे अद्भुत और वेदनापूर्ण अनुभव यह है कि आज भी इन उत्तेजित शक्तियों की सभ्यता में जिन मूल्यों का महत्त्व है, उनमें से एक भी हमारे पास नहीं है। न शक्ति है, न सैन्य है, न विश्व-विजय की आकांक्षा, न अर्थ और न शायद बौद्धिक चमक-दमक ही। कहाँ है वह हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व जो धूमकेतु की भाँति हमारे इस उन्मादक अभियान की सार्थकता सिद्ध कर सके? यही वह प्रश्न है जो आज भारत के बुद्धिजीवी-वर्ग की सबसे बड़ी पहेली है। एक विचित्र विरोधाभास है : मृत्युपाश में गुथी हुई दो विस्फोटक शक्तियों के छोर पर खड़े होकर सीटी बजाने का अभूतपूर्व अनुभव है। हमारा आदर किया जाता है, लेकिन सत्कार की आँखों में तुच्छता की छाया नहीं छिपती। हमारी बात ध्यान से सुनी जाती है, परन्तु सलाह मानने के उद्देश्य से नहीं। हिन्दुस्तान की तूती बोल रही है, लेकिन दुनिया के नक़्क़ारख़ाने में।

भावनात्मक रूप से हम इस वातावरण से दूर हैं। न तो हम उनकी आत्मघाती छटपटाहट की सार्थकता या अनिवार्यता ही समझते हैं और न वे हमारी पूर्वग्रहहीनता की भाषा को ही। किन्तु भौतिक रूप से हम उसमें उलझे हुए हैं। यह सम्पर्क भी एक विचित्र विरोधाभास को जन्म देता है। हमारा देश नया, कमज़ोर और आकांक्षाओं से भरा हुआ है। इस 'ठण्डे युद्ध' में हमारे लिए तो दोनों ओर से ख़तरा है। इस 'ठण्डे युद्ध' की समाप्ति शायद तभी सम्भव है जब इन विरोधी शक्तियों में दुनिया के बँटवारे के लिए कोई समझौता हो जाय। और यदि हुआ तो हम इसे कैसे रोक सकेंगे कि हम भी उस 'बँटी हुई सम्पत्ति' में से एक न हो जावें? दूसरी ओर यदि इन शक्तियों का विरोध-विग्रह बढ़ते-बढ़ते विस्फोट का रूप धारण करता है, तो उसकी एक चिनगारी भी हमें जलाकर राख कर देने के लिए पर्याप्त होगी। यह हमारा भाग्य है कि इन शक्तियों में एक सन्तुलन है : लेकिन कितना ख़तरनाक और अनिश्चित! हम एक 'टाइम-बम' की छाया में रह रहे हैं।

यह हमारी ऐतिहासिक स्थिति है, मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह, तीखेपन और रोमांस से भरी हुई। इतिहास के साथ हमारा पहला यथार्थवादी सम्पर्क है। आज सारे राष्ट्र की भावना और स्पृहा का निर्माण इसी

वातावरण में होता है। हमारे हर साहित्यकार की आकांक्षाओं में इसकी छाप पड़ती है, इसकी प्रतिक्रिया होती है।

आज से लगभग चार दशक पहले नये युग के उत्थान के साथ हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रश्न को अपने सबसे अनगढ़ रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने पूछा था, लेकिन जिस आघात की यह प्रतिक्रिया थी, वह आघात वास्तविक था। 'भारत-भारती' का आरम्भ इसी प्रश्न से होता है :

हम कौन हैं, क्या हो गये थे,
और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर
ये समस्याएँ सभी।।
यद्यपि हमें इतिहास अपना
प्राप्त पूरा है नहीं।
हम कौन थे इस ज्ञान को
फिर भी अधूरा है नहीं।।

'हमारा' 'इतिहास' के साथ यह पहला स्पर्श नसों में बिजली की तरह दौड़ गया। परन्तु युग का यह प्रथम प्रयास था। इसलिए इसमें आश्चर्य ही क्या कि प्रश्न भी अनगढ़ था और उसका उत्तर भी अनगढ़ ही। 'भारत-भारती' का 'हम' एक संकुचित हम है और उसका इतिहास भी 'ऐतिहासिक अतीत'-मात्र।

लेकिन जैसे ताल में कंकड़ पड़ने से वृत्तों का फैलना प्रारम्भ होता है जो किनारे पर पहुँचकर ही दम लेते हैं, उसी प्रकार इस 'हम' का विस्तार भी अनिवार्य था। छायावाद के आते-आते यह 'हम' फैलकर सारे राष्ट्र से एकात्म हो जाता है। सत्याग्रह-युग (१९२०-४५) का साहित्यकार प्रश्न को कुछ और गहराई से पकड़ना चाहता है। वह कुछ गहन-गम्भीर प्रश्न पूछने का अभिलाषी है—क्योंकि उसका 'हम' विस्तृत है। लेकिन मूलतः साहित्यकार की वृत्ति एक उदार भावुकता पर ही आधारित रही जो हमारे स्वतन्त्रता-संघर्ष की रचनात्मक देन थी। इसलिए गम्भीरता के बावजूद प्रश्न अब भी सरल ही था, और उत्तर देने में कठिनाई नहीं पड़ी। सारे राष्ट्र की भावनाओं का एक नया 'महत्तम समापवर्तक' खोज निकालने के बाद ऐतिहासिक व्यक्तित्व का प्रश्न पूर्व-बनाम-पश्चिम अर्थात् आध्यात्मिक-बनाम-भौतिकता के रूप में पूछा जाने लगा। इस विरोधाभास को पकड़ने में सबसे बड़ी आसानी यह थी कि हमें अपने स्थान पर स्थायित्व तो प्राप्त हो ही जाता था, साथ ही सोचने की प्रखर पीड़ा सहने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। यह गुलामी और

ग़ुलाम बनाने वालों के प्रति एक उदात्त क्रोध का युग था। कितना आसान और सन्तोषप्रद था यह समझ लेना कि वह सब जो हमें ग़ुलाम बनाये हुए है, भौतिक है, अतः हेय है, और हम जो कि ग़ुलाम हैं, आध्यात्मिक हैं, अतः श्रेय हैं। इस धारणा से शक्ति मिलती थी, विश्वास मिलता था और अपने को पहचानने और विशिष्टता स्थापित करने का आसान गुर हाथ में आ जाता था। सत्याग्रह-युग के उपन्यासकारों की सरल भावुकता, कवियों का उदात्तीकरण, समालोचकों की संस्कृति-निष्ठा, सबमें इसी भावनात्मक परिवेश का रंग झलकता है।

इस युग का प्रश्न उतना अनगढ़ नहीं है। वह सुथरा और अधिक आकर्षक बन गया। और उत्तर भी उसी मात्रा में सुथरा और सीधा दिया गया। लेकिन यह बराबर लगता है जैसे 'शार्ट-कट' का प्रयोग किया जा रहा हो। प्रेमचन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। यह 'शार्ट-कट' तभी तक उपादेय और प्रयोजनीय रहा जब तक आज़ादी की लड़ाई में हमें किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक व्यक्तित्व अपने ऊपर ओढ़ लेने की जल्दी थी। इससे मिला हुआ सन्तोष इस कारण नहीं था कि लबादा हमारे डील-डौल के अनुसार बिलकुल ठीक था। उसका गौरव कुछ उस ख़ानदानी कोट की भाँति था जो बिगड़ी हालत में भी रईसों की मर्यादा-रक्षा का काम दे जाता है।

पुनर्जागरण-युग का 'हम' सीमित था। सत्याग्रह-युग में 'हम' समूचे राष्ट्र में फैल गया। लेकिन दुनिया के बीच एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में खड़े होते ही इस 'हम' का एक अत्यन्त त्रासद रूप हमारे सामने आया। धक्के के साथ हमारी कल्पना में एक व्यापक स्वप्न झलका : इस 'हम' का अर्थ सारी मानवता भी हो सकती है। इस आकस्मिक अनुभूति के साथ आज की मानवता की अपराध-भावना भी हमारी चेतना में कौंध गई। व्यापकता का स्वप्न जितना दिव्य था, उतना ही तीखा और क्लेशपूर्ण भी। हमारे नये सन्दर्भ ने पुराने स्वरूपों को अनावश्यक बना दिया। अपने भविष्य के प्रति एक उत्साह, धुँधला, अस्पष्ट-सा आभास तो मिला, लेकिन उससे अधिक कुछ नहीं। केवल आध्यात्मिकता-बनाम-भौतिकता, अथवा पूर्व-बनाम-पश्चिम का प्रश्न स्पष्टतः अधूरा, बासी और बंजर हो गया। वर्तमान उत्तेजक तो था, परन्तु भविष्य की दिशा निर्मित करने में अशक्य।

इसकी पहली प्रतिक्रिया भय और आतंक में हुई। पश्चिम का मृत्यु-पाश एक भयानक द्वन्द्व था, इसमें सन्देह नहीं। इस दृष्टि से देखने पर समकालीन साहित्यकारों के उस वर्ग की घबराहट और आकुलता स्वाभाविक ज्ञात होती है जिन्होंने हताश होकर हिम्मत हार दी और नारा लगाया, 'हमें दो में से

एक गुटों में शामिल हो जाना चाहिए।' एक घबराहट की चीख थी जिन्हें उन विचारकों और शक्तियों से भी सहयोग मिला जिनका इस नारे से आर्थिक एवं राजनीतिक लाभ भी था। भावनात्मक रूप से इस नारे से वे सभी समस्याएँ दूर हो गईं जिनमें सोचने की प्रखर पीड़ा की सम्भावना थी। नई भावभूमि में फिर उसी 'शार्ट-कट' का जादू खोजने का प्रयास था जो प्रेमचन्द और उनके समकालीन साहित्यकार कर चुके थे। इसीलिए इस नये वर्ग ने बड़े ज़ोर-शोर से सत्याग्रह-युग की परम्परा को अपनाने का अभिनय किया। परन्तु ध्यान इस बात का रखा कि 'परम्परा' के अन्तर्गत 'शार्ट-कट' का ही समावेश हो, उस युग की गहराई और चिन्तनशीलता का नहीं। प्रश्न को इस प्रकार झुठलाकर आत्मबोध की क्षणिक उत्तेजना तो हुई। परन्तु जितने शीघ्र इस हताश चीख का वितान छिन्न-भिन्न हुआ, उससे स्पष्ट हो गया कि हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व में अब 'शार्ट-कट' का युग नहीं रह गया।

लेकिन वह वर्ग बहुत छोटा-सा था। हमारे अधिकतर साहित्यकारों ने सचाई और विश्वास के साथ ही एक नया रास्ता निकालने का बोझिल उत्तर-दायित्व झेलने का निश्चय किया। उन्होंने स्वीकार किया कि अब इस विराट् विवाद को स्थगित नहीं किया जा सकता। और यही उनका सबसे शक्तिशाली तथा आश्चर्यजक गुण है जो उनके प्रति हमारे विश्वास को दृढ़ करता है। इसी गुण ने उनको इतनी प्रेरणा दी है कि वह तमाम लांछनों और आरोपों के बावजूद सीधी रीढ़ के साथ खड़े हो सकें। क्योंकि हमारे अभियान की सीमा नहीं है, चाहे हमारा पहला प्रयास विफल ही क्यों न हो।

इस भँवर का सामना हमारे उदार मानववादी साहित्यकारों ने सब-कुछ की स्वीकृति करके दिया। एक ओर भारत के परिवेश में मानव-प्रगति-सम्बन्धी आदर्श के प्रति आस्था, और दूसरी ओर उन्हीं मूल्यों का पश्चिम में विघटन। चूँकि दोनों में से किसी का अनुभव अयथार्थ और झूठा नहीं है, इसीलिए बड़ी गम्भीरता के साथ भारत का कवि असम्भव छोरों को भी मिलाने की बात कह जाता है :

"संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन-रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद, दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचारधारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामों से प्रादुर्भाव, निर्माण, विकास और ह्रास के द्वन्द्व संचरणों पर विश्वास रखती है। अतः नवीन युग की भावना केवल कपोल-कल्पना नहीं है। पदा

और चेतना को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[१]

भारत के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की वह एक आतुर खोज है जिसे आज के यूरोप में 'गोल घेरे के अन्दर चौकोर खूंटी गाड़ने' का असम्भव प्रयास कहकर उड़ा दिया जाता। फ़ायरबाख़ ने भी कुछ ऐसा प्रयत्न किया था और मार्क्स ने उसका निषेध किया।

मानववादी परम्परा की इस व्यापक युद्धोत्तर स्थिति के सबसे सटीक उदाहरण पन्त जी हैं। मानववादी अनिवार्य रूप से आस्थावान होता है; कभी-कभी कट्टर आस्थावान। यदि यह आस्थाशीलता कट्टर हुई तो जैसे-जैसे यथार्थ की चोट पड़ती है, वह रहस्यात्मक रूप धारण करती जाती है। ईसा मसीह की वापसी की आस्था की तरह, मानववादी का मन अखण्ड विश्वास के साथ कहता है कि कोई-न-कोई ऐसा करिश्मा होगा कि सब ठीक हो जायगा। पन्त जी के साथ यही हुआ है। और इसी दृष्टि से वह इस परम्परा के सबसे बोलते हुए उदाहरण हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट क्षणों में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, महादेवी आदि सभी यहीं पहुँचते हैं :

> 'ऐसे मरणोन्मुख जग को कहता मेरा मन
> और कौन दे सकता नवजीवन आश्वासन
> शान्ति, तृप्ति—निज अन्तर्जीवन के प्रवाह से
> भारत के अतिरिक्त आज—जो शाश्वत अक्षर
> अन्तर ऐश्वर्यों का ईश्वर है वसुधा पर :
> कहता मेरा मन, भारत के ही मंगल में
> भू मंगल, जन मंगल, देवों का मंगल है ![२]

यह स्वर कभी-कभी इंगलैण्ड के विक्टोरियन आशावादियों की याद दिलाता है। लेकिन दोनों में कितना बड़ा फ़र्क है। विक्टोरियनों के लिए यह समृद्धि और तुष्टि की भावना का विलास था। आज के भारतीय कवि के लिए यह जीवन-राग है जिसके भीतर कितनी करुणा, कितना दर्द गूंज रहा है।

इस 'गुडविल-मिशन' में कहीं कोई गड़बड़ी नहीं है, सिवा इसके कि यह मन में उतरती नहीं। इस अभाव का अनुभव सबसे अधिक अन्तिम पीढ़ी के उन लेखकों और साहित्यकारों ने किया है जिनकी रचनाओं को किसी बेहतर नाम के अभाव में 'नई कविता' या 'नया साहित्य' कहकर पुकारा जाता है।

---

१. पन्त—'युगवाणी'

२. पन्त—कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

इतिहास का सारा आघात सीधे उन्हीं के सीनों पर आ पड़ा। सबसे बड़ा ख़तरा भी उन्हीं का था, क्योंकि वे ही इस वात्याचक्र की उपज थे। किन्तु जो आश्चर्यजनक बात इन साहित्यकारों के प्रति विश्वास जगाती है, वह यह है कि इस सबके बावजूद भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक अतिवादिता से अपनी रक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सामने समस्या बड़ी गहन है, परन्तु एक तर्क जो उनके पक्ष में सबसे प्रबल है, वह यह कि उन्होंने ईमानदारी के साथ अपनी समूची आत्मशक्ति को दाँव पर लगाया है। वह आत्मशक्ति स्वयं कितनी बड़ी है, इसका उत्तरदायित्व सारे समाज पर है। किन्तु इतना सत्य है कि हमारी जनवादी आस्था और साथ ही विश्व-मानव की पीड़ा—इसके बीच न तो आज के साहित्यकार ने आँख मूँदने का प्रयास किया है और न सीधा सरल समन्वय निकालकर ही सन्तोष किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अक्सर आज के 'ज़ीवन के दबाव की अभिव्यंजना का मार्ग उसे नहीं दीखता।' लेकिन इसके लिए वह 'शार्ट-कट' का आकांक्षी भी नहीं बनना चाहता। बार-बार वह पूछता है :

> कौन-सा पथ है ?
> मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही ने पुकारा—
> कौन सा पथ है ?[1]

'भारत-भारती' से 'नई कविता' तक एक बड़ा सफ़र है जिसमें न जाने कितनी मंज़िलें पड़ी हैं। एक युग था जब मैथिलीशरण गुप्त के लिए यह प्रश्न काव्य की प्रथम पंक्ति थी। आज का कवि वहाँ अपनी कविता समाप्त करता है जहाँ पहले कवि ने आरम्भ किया था। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने हमारे इस अन्वेषण में पूरी सफलता नहीं प्राप्त की है, परन्तु उस पर निषेध का आरोप भी नहीं किया जा सकता—क्योंकि वह सही प्रश्न पूछ रहा है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, इस अन्धकार को भेदने के लिए साहस की आवश्यकता है जो सम्भवतः सम्मान और विवेक को भी दाँव पर लगाने को तैयार हो। नये लेखक ने आरम्भ दृढ़ता के साथ किया है। क्या वह इतने ही साहस के साथ इस अन्वेषण को जारी रख सकेगा ? हमें निराश होने का कोई कारण नहीं दीखता। नये लेखक ने एक बार अतिवाद का सामना करने का परिचय दिया है, वह आगे भी उसी दृढ़ता के साथ बढ़ सकता है।

अप्रैल, १९५४

---

१. भारतभूषण अग्रवाल

'जनवादी' साहित्य-१

साहित्य और समाज में गहरा सम्बन्ध है, इस विषय में कोई मतभेद सम्भव नहीं। परन्तु जैसे ही हम एक क़दम आगे बढ़कर इस सम्बन्ध की विशेष छानबीन करने लगते हैं, कठिनाई उत्पन्न होने लगती है। कई प्रश्न खड़े होते हैं। यह सम्बन्ध किस प्रकार का है? 'समाज' से क्या अर्थ लिया जाय? और सबसे गहन यह कि यह सम्बन्ध किन स्तरों पर और किन रूपों में साहित्य में अभिव्यक्त होता है? अन्त में उस अभिव्यक्ति की भूमिका किसी कृति अथवा कृतिकार की श्रेष्ठता एवं महत्ता सिद्ध करने में क्या होती है? आज तक साहित्य में सामाजिक सम्बन्धों का अनुशीलन करने वाले जो आलोचकगण रहे हैं, उन्होंने अधिकतर इस सम्बन्ध की कभी कम और कभी अधिक अभिव्यक्ति का अन्वेषण-मात्र करके सन्तोष किया है अथवा उपपत्तियों के रूप में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है, जिन्हें निष्पक्षता के कारण आत्यन्तिक अथवा सर्वव्यापी मानने से उन्हें स्वयं संकोच होता रहा है। इस संकोच के एकमात्र अपवाद मार्क्स के वे अनुयायी हैं जिनका न्यस्त स्वार्थ किसी राजनीतिक दल अथवा राजसत्ता से सम्बद्ध है।

उनके अनुसार इस समस्या का अन्तिम हल उन्हें प्राप्त हो गया है। यह हल क्या है, इस सम्बन्ध में अब मतभेद की सम्भावना नहीं है। साहित्यकार अथवा समीक्षक के लिए काम सिर्फ़ इतना रह गया है कि वह इस हल के पक्ष में शीघ्रातिशीघ्र कमर कस कर तैयार हो जाय और जो भी इस हल के विरुद्ध हैं, उनका विनाश कर डाले। एक ऐसा पत्थर हाथ लग गया है जो कसौटी और पारस, दोनों का काम देता है। प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन भी हो जाता है और भविष्य के लिए सेना भी सज्जित हो जाती है। इसमें दूसरा कार्य अधिक आवश्यक है और इस सेना की सज्जा में सत्य को छिपाने, घटाने, बढ़ाने, सब प्रकार के प्रयोग क्षम्य हैं। कम्यूनिस्ट आलोचक वी० जे० जेरोम के शब्दों में :

"मार्क्सवादी सिद्धान्त का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जायँ, बल्कि इसलिए कि वे 'जन' के साथ जुड़ जायँ। अपने वर्ग के शत्रुओं के साथ मार्क्सवादी अपने मत-वैषम्य को सामने रखते

हैं; जो साथी हैं, अथवा हो सकते हैं, उनके साथ मत-साम्य को आगे रखते हैं।"[१]

इस कसौटी को आजकल 'जनवाद' का नाम दिया जाता है और यह साहित्यिक दृष्टि 'जनवादी' साहित्यिक दृष्टि कहकर पुकारी जाती है। चूंकि इस 'जनवादी' दृष्किोण के दावे बहुत विशाल हैं और सामयिक हिन्दी आलोचना में इस विषय में उलझन और अस्पष्टता है, अतः इसकी छानबीन करना आवश्यक है। अनेक बार 'जन' शब्द के समान 'जनवादी साहित्य' को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया जाने लगता है और उस समय सामान्य जनता के लोक-साहित्य के रूप में इसे स्वीकार करने का भ्रम किया जाता है। दूसरी सीमा अव्याप्ति दोष की भी है जहाँ कुछ विचारक साहित्य में प्राचीन आचार्यों के साधारणीकरण की व्याख्या इस रूप में करने का प्रयत्न करते हैं।

कुछ दिन पहले तक इस 'जनवादी' शब्द से हिन्दी के पाठक अपरिचित थे। अंग्रेज़ी या अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी इसका या इसके पर्यायवाची शब्द का प्रचार बहुत पुराना हो, ऐसा नहीं है। स्पेनिश गृहयुद्ध के आसपास साहित्य में 'पापुलर फ्रण्ट' की जो लहर आई, उसमें ही पहले-पहल इस जनवादी नारे का असली शोर सुनाई पड़ा। अधिकतर रिवाज़ अपने को 'प्रोग्रेसिव' या 'प्रगतिशील' कहने का था। कभी-कभी जनवादी का भी नाम आ जाता था। ये 'प्रगतिशील' साहित्यकार भी बडे आँके-बाँके सजीले नौजवान थे। इन्होंने बड़े-बड़े सपने देखे, आतंककारी दैत्य खड़े किये, एक-एक इश्तिहार पर हज़ारों वर्ष तक आने वाली मानवता का क्रय-विक्रय किया, एक कविता या कहानी पर पुरानी मित्रताएँ बिगाड़ दीं, एक वक्तव्य पर परम्परागत शत्रुताएं भुला दीं और गम्भीरता के साथ मानवता की रक्षा करने पर तुल गए। वे ईमानदार थे, साहसी थे और सचमुच भविष्य के सम्बन्ध में जी-जान से चिन्तित थे। उनमें से कितनों ने स्पेनिश प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए अपने प्राण होम किये, कितनों ने कविता लिखना बन्द कर गुप्त पुलिस में नौकरी की, अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में शामिल हुए; जो न हो सके, उन्होंने चीख-पुकार भरे पैम्फ़लेट ही लिखकर सन्तोष किया और और कुछ ऐसे भी थे जो इन सब के बीच, आने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए, सोवियत् रूस के समर्थक एकत्र करते रहे, जो वी०जे० जेरोम के अनुसार ज़्यादा ठोस काम था।

यह सब ऐतिहासिक नाटक सरीखा लगता है जिसकी यवनिका रूस-जर्मनी पैक्ट ने गिराई। इस ज्वर से आक्रान्त होकर जिन लेखकों की विभूति

१. वी० जे० जेरोम : कल्चर इन ए चेंजिग वर्ल्ड, पृष्ठ ७८।

युद्धग्रस्त साहसिकता या अख़बारी कलाबाज़ी से कुण्ठित होने से बच रही, उनमें से कुछ तो आज तक स्पेण्डर, आडेन या कोस्लर की तरह तीखे दर्द से छटपटा रहे हैं; कुछ शायद शान्ति-सम्मेलनों या अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालयों में दिखाई पड़ेंगे और कुछ शायद फार्मोसा या कोरिया में अपनी उस 'जनवादी' शिक्षा का दाय चुकता कर रहे होंगे जो उन्होंने स्पेनिश गृहयुद्ध में सीखा था। गृहयुद्धों के प्रेमी इन 'जनवादी' कलाकारों से उलझें, तो वे बड़े-बड़े तर्क उपस्थित करेंगे। पर इतना निश्चित है कि उनके तीन-चौथाई तर्क समान होंगे, चाहे वे बीसवीं देशान्तर रेखा के उत्तर में पाये जायँ अथवा दक्षिण में।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'प्रगतिशील' या 'समाजवादी यथार्थवाद' जैसे शब्दों का चलन कुछ कम हो गया है। चीन की 'पीपुल्स डेमाक्रेसी' के उदय के बाद हिन्दी में नये आवेश के साथ 'जनवादी साहित्य' का रिवाज़ चला है, यद्यपि भारतवर्ष की नई-पुरानी मिली-जुली मुद्रा की भाँति पुराने सिक्के बाज़ार से बिलकुल ग़ायब नहीं हुए हैं। शब्द चूँकि नया है, अतः उसका स्वाद भी नया है और कभी-कभी तो हमारे सम्मान्य आलोचक भी भूल कर जाते हैं कि शब्द बदल देने से वी० जे० जेरोम की स्थापना में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

सबसे पहला प्रश्न इस 'जन' शब्द को ही लेकर उठता है, क्योंकि इन्द्र-जाल का एक बड़ा भाग इस जन के ही तात्पर्य में निहित है। रूसो ने जब बड़े ज़ोर-शोर से दार्शनिक एवं सामाजिक चिन्तन-धारा में इस 'जनसाधारण' की अवतारणा की, तभी उसमें रहस्यवाद के कण मौजूद थे, इतना तो मार्क्स और उनके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। बाद में चलकर, कम-से-कम यूरोप में, यह 'जन' दो स्पष्ट वर्गों में बँट गया। मार्क्स ने स्पष्टीकरण के नाम पर सर्वहारा वर्ग और उसके 'जन' होने की घोषणा की। यह सर्वहारा वर्ग 'जन' क्यों है- इसका प्रमुख कारण मार्क्स ने उसकी बहुसंख्या नहीं बतलाया, यद्यपि स्थान-स्थान पर वह बहुसंख्या का संकेत भी करता है। मार्क्स के अनुसार कतिपय ऐतिहासिक नियम, जिनकी विवेचना मूलतः दार्शनिक है, सर्वहारा वर्ग के सिर पर 'जन' का सेहरा बाँधने के लिए ज़िम्मेदार हैं। इन नियमों के अनुसार सर्वहारा समस्त जन के 'ऐतिहासिक उत्तरदायित्व' का वहन करता हुआ 'जन' का प्रतीक बन जाता है। आगे चलकर मार्क्स के कम्युनिस्ट अनु-यायियों ने यह भी जोड़ा कि सर्वहारा स्वयम् उस ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का वहन कर, 'जनत्व' को प्राप्त होने में अक्षम है। इस 'दार्शनिक-ऐति-हासिक' भूमिका को सम्पन्न करने का कार्य कम्युनिस्ट पार्टी ही कर सकती है जो दार्शनिक-ऐतिहासिक नियम की जानकारी से सन्नद्ध है। यह भी, कि

यह 'जनत्व' को प्राप्त कराने वाला मंत्र हर कोई नहीं जानता। जो जानता है, वह कम्युनिस्ट हो जायगा; यदि नहीं होगा तो नहीं जानता। दर्शन तक तो बात ठीक थी, किन्तु कार्यक्षेत्र में अवतरित होने पर स्पष्टीकरण का यह प्रयास इस तरह गुरुमुखापेक्षी और रहस्यवादी हो गया कि रूसो की स्थापना इससे कुछ अधिक स्पष्ट जान पड़ती है। आज आवश्यकतानुसार इस 'जन' का अर्थ सर्वहारा, किसान वर्ग, निम्न-मध्यम वर्ग, राष्ट्रीय पूँजीपति और अब तो हर उस व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्था से लिया जाने लगा है जो कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत् रूस के पक्ष में है।

हिन्दी की सामयिक आलोचना के क्षेत्र में यह दावा किया जाता है कि 'जनवादी' साहित्य अथवा साहित्यिक दर्शन सूक्ष्म, भ्रान्तिबहुल और अस्पष्ट अनिर्वचनीयता के विरुद्ध साहित्यिक उद्देश्य के रूप में एक ठोस, प्रत्यक्ष और पकड़ में आने वाला मानदण्ड प्रस्तुत करता है। इस ठोस मानदण्ड की स्थापना डॉ० रामविलास शर्मा इन शब्दों में करते हैं :

"प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।"

यदि हम इस महान् सूत्र की चकित कर देने वाली गहराई और नवीनता पर ध्यान न भी दें तो भी इसमें ठोसपन कहाँ है, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसको ठोस बनाना हमारे 'जनवादी' आलोचक चाहते भी नहीं। वे किसान-मज़दूर 'संघर्ष' की बात करते हैं, प्रगतिशील 'ताक़तों' का हवाला देते हैं, ह्रासोन्मुख 'शक्तियों' का भय दिखाते हैं और साहित्यकार एवं समीक्षक से माँग करते हैं कि वह इन्हें पहचाने और साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दे। हमारे पिछले सम्पादकीय पर कृपादृष्टि करते हुए सहयोगी कम्युनिस्ट मासिक पत्र ने लिखा है—

"शोषित पीड़ित जनता की आत्मोपलब्धि की संवेदना से तादात्म्य स्थापित करना, समाज की कुत्सा की आलोचना करना, समाज को परिवर्तित करने वाली समाज-चेतना को संगठित होने में सहायता देना—आज के उपन्यासकार ने अपने लिए यही कर्तव्य निर्धारित किये हैं ?"

प्रश्न उठता है कि आप समाज को बदलने वाले मज़दूरों के किस संगठन की बात कर रहे हैं, आई० एन० टी० यू० सी०, हिन्द मजदूर सभा, या आई० ए० टी० यू० सी० की ? जिस शोषित-पीड़ित जनता की ओर आपका संकेत है, वह कौन-सी है ? जिसने आन्ध्र के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दिये, या कांग्रेस को या सोशलिस्ट पार्टी को ? हम अपने गम्भीर एवं

साहित्यिक पाठकों से क्षमा चाहते हुए कहना चाहते हैं कि ये प्रश्न चिन्तन की इस स्थिति में स्वाभाविक और आवश्यक हैं, क्योंकि 'जनवादी' साहित्य के चरम उद्देश्य एवं श्रेष्ठता की समस्या इनके उत्तर पर ही निर्भर करती है, क्योंकि वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद, जनशक्ति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इन सबका अर्थ तभी निकलेगा जब उसकी कड़ी वर्तमान, प्रत्यक्ष 'जनजीवन' के साथ जोड़ दी जायगी और क्योंकि हमारे 'जनवादी' बन्धुगण जान-बूझकर स्पष्टतः इन बातों का उत्तर नहीं देना चाहते।

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें साधक को सचमुच ज्ञात नहीं होता कि उसका प्रेय है क्या। वह केवल उसका आभास मात्र पाता है और भक्ति करता है। ऐसे रहस्यवादी हमारे संत थे। यह ऋजु रहस्यवाद है। दूसरा रहस्यवाद वह होता है जिसमें साधक ख़ूब अच्छी तरह जानता है कि वह क्या चाहता है, किन्तु उसे साफ़-साफ़ कहना शर्म या ख़तरे की बात समझकर शब्दों का आडम्बर खड़ा करता है। हिन्दी में 'जनवाद' के प्रणेता, ये सामाजिक रहस्यवादी, इसी श्रेणी में आते हैं। यह किस कोटि का रहस्यवाद है, इसका उल्लेख करने की हम आवश्यकता नहीं समझते।

'जनवादी' आलोचकों के समस्त ग्रन्थों एवं वक्तव्यों का मनन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में नितान्त असफल रहे हैं कि हिन्दी साहित्यकार अथवा साहित्य की एकमात्र कसौटी यही है कि वह कहाँ तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को आगे बढ़ाता है, उसके विकास में सहायक होता है।

सैद्धान्तिक विवेचना के सिलसिले में 'जनवादी' आलोचकों के तर्कों का प्रारम्भ कला की उपयोगिता से होता है। वे कला के दो परस्पर-विरोधी शिविर स्थापित करते हैं जिनमें, उनके अनुसार, इतना वैषम्य है कि किसी भी प्रकार का सामञ्जस्य सम्भव नहीं। एक तो वे हैं जो 'कला कला के लिए' मानते हैं, दूसरे कला को जन के लिए, समाज के लिए। 'कला कला के लिए' मान लेना ही उनकी दृष्टि में प्रतिक्रियावाद, जन-विरोध, फलतः विनाश का लक्षण है। साथ ही यह भी कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि 'जनवादी' साहित्य की विशेषता है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि जिस 'जन' के लिए कला को उपादेय बनाया जा रहा है, वह स्वयम् सामाजिक रहस्यवाद के कुहासे में लिपटा हुआ है। अब उपयोगितावादी तलवार की विशेषता एवं इतिहास में किन व्यक्तियों के हाथ से वह चलाई जा चुकी है, उसको भी देख लिया जाय। इस सम्बन्ध में हम प्लेखानाव का एक उद्धरण देने का लोभ नहीं संवरण कर सकते

"मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि प्रत्येक राजसत्ता, जहाँ तक उसकी कुछ भी दिलचस्पी कला में होती है, सदा कला की उपयोगितावादी दृष्टि के ही पक्ष में होती है और यह बात समझ में भी आती है; यह तो उसके स्वार्थ में ही है कि सभी विचारधाराएँ उस उद्देश्य को सिद्ध करें जिसकी सिद्धि में वह स्वयम् संलग्न है। और चूँकि राजनीतिक सत्ता, जो कभी क्रान्तिकारी होती है, अधिकतर रूढ़िवादी बल्कि प्रतिक्रियात्मक होती है, अतः यह मानकर चलना बहुत ही ग़लत होगा कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि क्रान्तिकारियों अथवा अग्रगामी विचारकों की अनोखी विशिष्टता है। रूसी साहित्य का इतिहास चित्र की भाँति इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि हमारे साम्राज्य-वादी 'अभिभावकगण' इस कलात्मक दृष्टि के विरुद्ध बिलकुल नहीं थे। इसमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :

सन् १८१४ ई० में वी० टी० नेरेज्नी के उपन्यास 'रूसी गिलब्लास' के प्रथम तीन खण्ड प्रकाशित हुए। इस उपन्यास को फ़ौरन शिक्षा-मन्त्री राजुयोवस्की की आज्ञा से ज़ब्त कर लिया गया और इन महानुभाव ने इस अवसर पर जीवन तथा साहित्य के सम्बन्ध पर इन शब्दों में अपने उद्‌गार व्यक्त किये :

'ऐसा अक्सर होता है कि उपन्यास-लेखकगण दुराचारों का प्रतिरोध करते हुए भी उनका चित्रण ऐसे रंगों में करते हैं या उन्हें इतने विस्तार से वर्णन करते हैं कि नवयुवक इन दुराचारों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं जिनका वर्णन न करना ही बेहतर था। किसी उपन्यास के साहित्यिक गुण जो भी हों, उनका प्रकाशन तभी होना चाहिए जब उसका कोई नैतिक उद्देश्य हो।'"[१]

यह प्रश्न आज भी महत्वपूर्ण है। हिन्दी के सम्मान्य आलोचकों में से कितने हैं जो ज़ार के शिक्षा-मन्त्री के इन पवित्र विचारों से सहमत हैं? और यह निर्णायक अधिकार वर्तमान या भविष्य के किसी ज़ार के शिक्षा-मन्त्री को देने के लिए तैयार हैं? इसके विपरीत एक वक्तव्य यह है कि किसी उपन्यास की नैतिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थापना जो कुछ भी हो, भ्रष्टता के उच्छृङ्खल उदाहरणों के अतिरिक्त उसके प्रकाशन को रोकने का अधिकार तो किसी शिक्षा-मन्त्री को होना ही नहीं चाहिए। हम सशक्त जनमत में विश्वास करते हैं और अपने नवयुवकों अथवा जनसाधारण को दुश्चरित्रता के लिए इतना लालायित नहीं मानते कि एक उपन्यास प्रकाशित हुआ और उनका आचरण बिगड़ा, अथवा उनका मतिभ्रम हुआ। इसके साथ ही हम समाज के

१. प्लेखानाव — कला और सामाजिक जीवन, पृष्ठ १७८।

कल्याणकामी लेखकों और विचारकों से इस बात की पूरी आशा रखते हैं कि वे अपने प्रभाववान उदाहरणों से इन कुत्सित पुस्तकों को नगण्य बना दें। परन्तु इस भय से हम किसी भी मंत्री के हाथ में इतना खतरनाक हथियार सौंपने के लिए तैयार नहीं हैं। कितने साहित्यकार एवं समीक्षक हैं जो इस वक्तव्य से सहमत हैं ?

स्पष्ट है कि उपयोगितावाद का तर्क अपने में पूर्ण नहीं है, बल्कि निरर्थक भी है। उसी प्रकार हम निवेदन करना चाहते हैं कि 'कला कला के लिए' की निष्पत्ति भी साहित्य अथवा साहित्यकार की समूल व्यर्थता सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक नहीं है। यूरोप के साहित्य में जर्मनी, फ्रान्स, इंगलैण्ड आदि में कभी भी उपयोगितावाद का इतना आग्रह नहीं था। यह धारा रूस से आई है, इसलिए कि रूस को कभी भी मुक्त विचारों की प्रतिद्वन्द्विता का स्वाद नहीं मिला। सोवियत क्रान्ति के बाद यह परम्परागत पूर्वग्रह और भी प्रबल हो गया। इसी तरह प्राचीन संस्कृत आचार्यों अथवा मध्यकालीन भारतीय सन्तों को कभी भी 'स्वान्तः सुखाय' और 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' में इतना घोर विरोधाभास नहीं दिखाई पड़ा। फ़ारसी साहित्य में तो, लगता है, निष्प्रयोजन अथवा रहस्य-दर्शन के निमित्त लिखने वाले कवि ही अधिक लोकप्रिय और जनता के निकट हुए हैं। उपयोगितावादी तो अधिकतर दरबारों में ही पाये जाते थे जो कभी अनवरी की तरह प्रतिष्ठा का अमृतपान करते थे और कभी फ़िरदौसी की भाँति अपमान और ग्लानि में प्राण भी दे देते थे। परन्तु रूस ने ज़ार या कमिस्सार की नैतिक पराकाष्ठा द्वारा कोई ऐसा लक्ष्यवेध किया हो जो यूरोप, भारत अथवा ईरान के आचार्यों के बस की बात न रही हो, ऐसा अभी तक तो नहीं सिद्ध हो सका है।

इस विश्लेषण से कुछ आवश्यक निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम तो यह कि प्रचलित अथवा प्रचालित अर्थ में 'जन' शब्द अत्यन्त भ्रामक, अस्पष्ट और अन्तर्विरोधपूर्ण है; द्वितीय यह कि उस 'जन' की उपयोगिता सामान्य नैतिकता अथवा सामान्य मानव-संवेदना या सहानुभूति से किस प्रकार भिन्न होगी, यह अस्पष्ट है; और इसीलिए उपयोगितावाद का सारा इन्द्रजाल ही थोथा है; कम-से-कम समीक्षात्मक अन्वेषण को पहले से अधिक प्रत्यक्ष नहीं बनाता। तृतीय, 'जनवादी' सिद्धान्तशास्त्रियों के पास इसका निर्णय देने की कोई कसौटी नहीं है कि इस उपयोगिता की अभिव्यक्ति साहित्य में, अन्य वैचारिक माध्यमों से अलग, किस आधार पर होगी और वह आधार साधारणीकरण, प्रभविष्णुता, सौन्दर्य अथवा अन्य प्रचलित कसौटियों से किस प्रकार भिन्न है।

स्पष्ट शब्दों में वह क्या है जो साहित्य को साहित्य बनाता है, श्रेष्ठ साहित्य बनाता है, इस प्रश्न का कोई भी उत्तर 'जनवादी' समीक्षकों के पास नहीं है। सच तो यह है कि वे इस प्रयास में कोई रुचि रखते भी नहीं—केवल रहस्य-वादी वाग्जाल खड़ा करके अपने 'जनवाद' और 'श्रेष्ठता' के मानदण्डों को गड्डमड्ड कर देना चाहते हैं। काम जिगरे का है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि शास्त्रार्थ द्वारा सिद्ध करना है कि जो कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में है, वह श्रेष्ठ है; कम-से-कम जो पक्ष में नहीं है, या विरोध में है, वह अश्रेष्ठ तो है ही। इसके लिए सामाजिक रहस्यवाद में एक और गहरी डुबकी लगाने की आवश्यकता पड़ती है।

वस्तुतः यदि 'जनवादी' साहित्य के प्रणेतागण अपने को एक साहित्यिक धारामात्र मानकर सन्तोष कर लेते, उसी प्रकार जैसे साहित्य में रोमाण्टिक, क्लासिकल, छायावादी अथवा रीतिकालीन धाराएँ होती हैं तो सिद्धान्तों की इतनी विसंगतियाँ न उत्पन्न होतीं। किन्तु 'जनवादी' का प्रयोग साहित्य-विशेष की अक्षुण्ण श्रेष्ठता का मान स्थापित करने के लिए होता है। जैसा हमने ऊपर कहा है, काम जिगरे का है, इसलिए अधिकतर यह संकेत अव्यक्त रहता है। इस दुहरी धारा का सबसे उत्साहपूर्ण उपयोग सामयिक साहित्य-कारों के कण्ठ पर विभिन्न प्रकार की छुरियाँ चलाने और मालाएँ पहनाने के लिए किया गया जिससे हिन्दी के पिछले दस वर्षों के पाठक भली भाँति परिचित होंगे। किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे अधिक कष्टप्रद प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं। न उनसे मनचाहा वक्तव्य दिलाया जा सकता है, न उनकी श्रेष्ठता से इन्कार किया जा सकता है। परिणाम यह है कि 'जनवादी' आलोचना प्राचीनों के सम्बन्ध में प्रश्न से पलायन, अन्तर्विरोध एवं रहस्यवाद का कोष बन गई है। इस सम्बन्ध में सब एक से हैं, चाहे वह शब्दाडम्बर के बीच एक-दूसरे को कितना ही 'कुत्सित समाजशास्त्री' क्यों न कहें।

डॉक्टर रामविलास शर्मा इस प्रश्न से सीधे कतरा कर निकल जाते हैं। उनके मत में इस प्रकार के प्रश्न पूछे ही नहीं जाने चाहिएँ, शायद इसलिए कि इनका उत्तर देने में उन्हें कठिनाई पड़ती है। उनका निर्णय है :

"प्रगतिशील होने से ही क्या साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है, यह प्रश्न भ्रामक है। इसी तरह श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील रहता है, इस धारणा का शुद्ध कला वाला आधार भी भ्रामक है।"

उसी प्रकार श्री शिवदानसिंह चौहान की समीक्षा-पद्धति का आत्म-साक्षात्कार इन शब्दों में होता है :

"दूसरा प्रश्न है कि क्या वह प्राचीन साहित्य (बीते काल में रचे गए साहित्य) का सही मूल्यांकन कर सकती है ? प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण हैं अथवा नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है।"

श्री चौहान जी से हम विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि आपका वचन मृषा है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी सिद्ध करने का मूल्यवान कार्य उन आपके 'प्रतिक्रियावादी' आलोचकों ने किया है जिनकी अथक सौन्दर्य-तृष्णा पुरानी और भूली हुई हस्तलिखित प्रतियों की खोज में उन्हें देश-विदेश घुमाती है और यह साहस प्रदान करती है कि मानवता की समस्त सांस्कृतिक उपलब्धि का वे मूल्यांकन करें। हम आलोचक का दायित्व इससे कहीं अधिक मानते हैं कि उत्सव के बाद हर प्राचीन महान् कलाकार से अपने 'जनवाद' का नेग माँगने के लिए उपस्थित हो जाय।

जब 'जनवादी' आलोचक प्राचीनों के विषय में समय का हवाला देते हैं, अथवा प्रश्न से कतराते हैं, तो उनका तात्पर्य या तो यह होता है कि आलोचक एक रहस्यवादी ऐतिहासिकता के पक्ष में हथियार डाल दें, या फिर वे अपने को समसामयिक कलाकारों के लिए उस ब्रह्म जैसे अनिर्वचनीय समय का ठेकेदार मानते हैं, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया गया है कि समय की यह रहस्यवादी कसौटी जो आज तक के कलाकारों पर लागू होती आई है, आज के या भविष्य के कलाकारों पर लागू नहीं होगी। और यदि ऐसा नहीं है तो श्रेयस्कर हो कि ये 'जनवादी' आलोचक तब तक ख़ामोश रहें जब तक समय अपना निर्णय हम सब के विषय में न दे दे। इस बीच कम्यूनिस्ट पार्टी के सहायतार्थ पचासों अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वे कर सकते हैं और साहित्य का वातावरण भी कुछ अधिक निर्मल हो जायेगा।

वस्तुतः जनहित के उद्देश्य को कोई भी विवेकपूर्ण कलाकार अपनी कला से बहिष्कृत नहीं कर सकता। परन्तु जनहित के इस उद्देश्य में सामयिक संघर्ष में विरोधी लगने वाली विचारधाराओं का समावेश अनिवार्य होगा। दूसरे, जनहित में काम करने वाली अन्य सामाजिक शक्तियों से, विशेषतः राज्य से, जो सम्प्रति इसका सशक्त माध्यम है या हो सकता है, साहित्य के 'जनहित' के आदर्श को पृथक् रखना होगा। इसलिए नहीं कि राज्य द्वारा अभीप्सित जनहित और साहित्य के जनहित में परस्पर विरोध है। परन्तु

दोनों के क्षेत्र, प्रेरणास्रोत, आग्रह एवं कार्यविधि में इतना अन्तर है कि आज तक विश्व में जहाँ कहीं भी सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है, वहाँ अनिष्ट ही अधिक हुआ है। फलतः साहित्य को इस प्रकार की केन्द्रित शक्तियों से आघात ही पहुँचा है, चाहे इसका प्रतिपादन प्लेटो, कैथोलिक चर्च, फ़ासिज्म, मार्क्स अथवा किसी अन्य के नाम पर किया गया हो। तीसरे, जनहित की कल्पना लेखक की गहराई, आत्म-साक्षात्कार और दृष्टि-विस्तार द्वारा भी नियोजित होगी। यह सब-का-सब इतना ही निश्चित कर सकता है कि एक प्रवृत्ति, संयमन, आशंसा, जागरूकता—व्यापक मानवीय संवेदना—के रूप में यह 'जनहित' साहित्यकार के मानस में विद्यमान रहे। हम जानते हैं कि इतना बड़ा दायरा रखने पर 'जन-अहित' अथवा सम्प्रति जन-अहित दीखने वाला वस्तु भी इसमें आ सकती है। किन्तु दायरे को छोटा, ठोस और नियामक बना देने पर अधिक अनिष्ट की सम्भावना है और यह अत्यन्त विवादग्रस्त वस्तु सारी समीक्षा का इति-अन्त तो नहीं ही बन सकती।

जनवरी, १९५५

'जनवादी' साहित्य-२

पिछले अंक के सम्पादकीय में विवेचन के उपरान्त हमने देखा कि जनवाद और जनहित की धारणा केवल अप्रत्यक्ष आशंसा के रूप में ही साहित्यकार के मानस में वर्तमान रह सकती है, उसका कोई ठोस और निश्चित आधार नहीं बनाया जा सकता, या कोई ऐसी कसौटी नहीं प्रस्तुत की जा सकती जिस पर निस्संशय होकर हर कृति को कसा जा सके। इस जनहित का स्रोत साहित्यकार के मन के भीतर ही है, वस्तुपरक ऐतिहासिक स्थिति उसका संकेत-मात्र दे सकती है। यहाँ तक कि कभी-कभी हमें अपनी व्यापक धारणा में जनहित अथवा जन-अहित लगने वाली वस्तुओं का समावेश करना भी आवश्यक होगा। साहित्य एवं कला की गति ही ऐसी है। इस दृष्टि और यूरोपीय उपयोगितावाद में, जो जनवाद का प्रथम तर्क है, ज़मीन-आसमान का अन्तर है।

गांधीवादी विनोबा भावे ने भी यह बात स्वीकार की है। गांधी और विनोबा के उपयोगितावादी होने में कोई सन्देह नहीं कर सकता। उन्होंने शिक्षा और संस्कृति सभी के लिए पहला प्रश्न यही पूछा है: इसकी उपयोगिता क्या है? कम लोग होंगे जो विनोबा की विचारधारा और उनके भूदान आन्दोलन को जनहित के विरुद्ध अथवा जनहित-निरपेक्ष समझते होंगे। गत मार्च में पुरी के सर्वोदय सम्मेलन में विनोबा ने कहा :

"···जिस बोध से अनेकविध तात्पर्य निकलते हैं, वही साहित्य-बोध है। ···गीता उत्तम साहित्य है, रामायण उत्तम साहित्य है, क्योंकि उनके तात्पर्य के विषय में मतभेद हैं। जिस साहित्य के तात्पर्य के विषय में मतभेद न हो और तात्पर्य निश्चित कहा जा सके, तो उसमें साहित्य-शक्ति कम प्रकट होती है···। ईश्वर के बारे में भक्तजन कहते हैं कि वह प्रेम अहेतुक होता है, उसमें हेतु नहीं होता। प्रेम करना ईश्वर का स्वभाव है। वैसे ही साहित्य में भी कोई हेतु नहीं होता; साहित्य एक स्वयंभू वस्तु है। लेकिन हेतु रखने से जो नहीं सध सकता, वह साहित्य में बिना हेतु रखकर सधता है, यह ख़ूबी है।"

हमने संकेत किया था कि मध्यकालीन भारतीय संतों ने स्वान्तःसुखाय और जनहिताय में कोई भेद स्वीकार नहीं किया। विनोबा का दृष्टिकोण भी वही है। उन्नीसवीं शताब्दी तक यूरोप में भी ऐसा आत्यन्तिक विभाजन नहीं

हुआ था। वस्तुतः यूरोपीय साहित्य के समकालीन ह्रास का कारण इस समन्वित, सुनियोजित दृष्टि का विभाजन है।

प्रेमचन्द ने कहा था कि प्रगतिशील साहित्य, यह शब्द ही ग़लत है। क्योंकि श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि श्रेष्ठता पर हमारा आग्रह बना रहे। साहित्य की साहित्यिक शक्ति प्रमुख पूँजी है। उसे क्षीण न होने देना चाहिए। प्रेमचन्द की उक्ति जनवादी शब्द पर भी लागू होती है, क्योंकि जनवादी और प्रगतिशील समानार्थी शब्द हैं। कम-से-कम साहित्यिक आन्दोलन की विशेष शब्दावली में, उनका प्रयोग एक ही अर्थ में होता है।

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने एक निराला पथ अपनाकर प्रगतिशील और प्रगतिवादी दो प्रकार के साहित्यों की कल्पना की है। प्रेमचन्द की भाँति वे प्रगतिशील शब्द को ग़लत नहीं समझते। उनके अनुसार :

"हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला क़दम सामूहिक मुक्ति का है। सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य ! परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब-तब साहित्य नये काव्य-रूपों की उद्‌भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। उसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी की एक निश्चित तत्त्ववाद पर आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है। 'प्रगतिशील' शब्द व्यापक है, किन्तु 'प्रगतिवाद' एक निश्चित तत्त्ववाद को सूचित करता है।"[१]

इस प्रकार द्विवेदीजी प्रेमचन्द से सहमत नहीं हैं कि प्रगतिशील शब्द ग़लत है और किसी ऐसी विशेषता को सूचित नहीं करता जो श्रेष्ठ साहित्य के अन्तर्गत उपस्थित न हो। आवश्यक है कि द्विवेदीजी की स्थापना की छानबीन की जाय।

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक धाराओं के पुनर्विभाजन तथा पुनर्नामकरण की क्षमता विख्यात है। किन्तु आश्चर्य है कि 'प्रगतिशील'

---

१. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४६५।

और 'प्रगतिवादी' इन दोनों विभाजनों का न तो उन्होंने स्पष्टीकरण ही किया है और न इसके लिए प्रमाण ही दिये हैं। इतना ही नहीं, द्विवेदीजी आगे चलकर 'प्रगतिवादी' साहित्यकारों के भी दो वर्ग बनाते हैं। एक जो कम्युनिस्ट पार्टी साबद्ध हैं और उनके अंगुलि-निर्देश पर लिखते हैं और दूसरे 'जो पार्टी से सम्बन्धित नहीं हैं, पर इन विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं।' इनमें भी कुछ सम्प्रदायवादी हैं जिनके सम्प्रदायवाद से द्विवेदीजी को शिकायत है। शेष, द्विवेदीजी की आशा एवं प्रशंसा के पात्र हैं।

यह प्रगतिशील साहित्य 'एक नवीन आदर्श से चालित है।' 'नवीन' का एक ही अर्थ हो सकता है : यह आदर्श सन्तों में नहीं था, भारतेन्दु-युग में नहीं था, द्विवेदी-युग में नहीं था, छायावाद में नहीं था। यूरोप में भी शायद यह शेक्सपीयर, बालज़ाक, गेटे में नहीं था। पोप और ड्राइडन में तो शायद नहीं ही था। न केवल नवीन ही, बल्कि इसने एक 'अधिक व्यापक और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह' दिया है। किसकी तुलना में ? एक अर्थ तो यह हो सकता है कि आज तक के समस्त साहित्य की तुलना में। दूसरा शायद यह है कि खड़ीबोली के आधुनिक साहित्य की तुलना में। और तीसरा शायद छायावादी और तदुपरान्त नये साहित्य की तुलना में। हम तीसरा अर्थ, जो सबसे सीमित है, उसे ही मानें, तब भी विचारणीय है कि ऐसा कौन-सा आदर्श 'प्रगतिशील' साहित्यकारों ने प्रस्तुत कर दिया है जो समकालीन वे साहित्यकार नहीं प्रस्तुत कर सके हैं जो प्रगतिशील नहीं कहे जाते, या कहलाया जाना पसन्द नहीं करते।

'अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की क्षमता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी'—शायद यही वाक्य उस अभूतपूर्व व्यापक आदर्श को सूचित करता है। किन्तु इसमें नवीन क्या है ? क्या कोई ऐसा श्रेष्ठ साहित्य है जो मनुष्य की क्षमता और मुक्ति में विश्वास न रखता हो ? यूरोप की उन्नीसवीं शताब्दी में तो यह धारणा सर्वव्यापी थी और संसार के समस्त मानववादी चिन्तकों, स्वप्न-द्रष्टाओं तथा कलाकारों की मूल प्रेरणा रही है। हिन्दी के आधुनिक सन्दर्भ में भी इस दृष्टि का एकाधिकार एक विशेष धारा को ही प्राप्त हो, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दीखता। परोक्षतः इसका यह अर्थ है कि 'प्रगतिशीलों' के अतिरिक्त जो लोग लिख रहे हैं, वे इसके विपरीत हैं, जो सत्य नहीं होगा। यदि द्विवेदीजी का तात्पर्य समसामयिक समस्त हिन्दी-धारा से है जिसमें सभी साहित्यकार आते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे इस पूरे युग को प्रगतिशील कहना चाहते हैं। यह बड़ा दावा है, और अन्ततः हम प्रेमचन्द के ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यदि 'प्रगतिशील'

में इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र, अज्ञेय और वे सभी सम्मिलित हैं जो आज लिख रहे हैं तो फिर इस 'प्रगतिशील' शब्द को रखने से क्या लाभ ? अच्छा यही हो कि युग के नामकरण का उत्तरदायित्व आने वाली पीढ़ियों पर ही छोड़ दिया जाय। अब तक तो यही होता आया है; यों द्विवेदीजी आचार्य हैं। 'प्रगलिशील' शब्द चाहे जितना भी व्यापक हो, एक विशेष अर्थ में संकुचित हो चुका है। यही बात 'जनवादी' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

'प्रगतिशील' लेखकों को 'प्रगतिवादियों' से द्विवेदीजी ने अलग किया है। पर इनमें कौन-कौन हैं जो 'महान् आदर्श से चालित और निश्चित तत्त्ववाद से अलग' हैं, इसे उन्होंने नहीं गिनाया। नाम गिनाना उन्हें अभीष्ट न हो, ऐसा भी नहीं, क्योंकि प्रगतिवाद के दस नाम उन्होंने दिये हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात (या बात का अभाव) है। हम देखेंगे कि 'प्रगतिवादी' और 'प्रगतिशील' दो भिन्न प्रकार नही हैं। द्विवेदीजी ने ख़ाह्-म-ख़ाह् बाल की खाल निकाली है। सम्प्रति हम विवश होकर यही मानते हैं कि 'प्रगतिशील साहित्य' एक ऐसे 'महान् आदर्श से परिचालित' साहित्य है जिसके एक भी लेखक का नाम हमें ज्ञात नहीं है।

किन्तु द्विवेदीजी ने मुक्ति के पहले 'सामूहिक' विशेषण लगाया। यह 'नवीन' जान पड़ता है। इस 'सामूहिक' के लिए वे एक सूत्र देते हैं 'व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य'। यह जानना कठिन है कि यह प्राधान्य किस प्रकार सिद्ध होता है और इसके क्या लक्षण हैं। कम्युनिस्ट विचारधारा में तो इस सूत्र की एक विशेश रूप से व्याख्या की गई है और मार्क्स के नाम पर इसका प्रयोग पार्टी की तानाशाही के लिए किया जाता है। बेचारे मार्क्स का इसमें कहाँ तक अपराध है, इस पर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु उस व्याख्या को तो द्विवेदीजी तत्त्ववाद पर आश्रित सम्प्रदाय-मात्र मानते हैं। अतः यह उनके 'प्रगतिशील' की सम्यक् परिभाषा नहीं है। इसके उपरान्त तो यह सूत्र फ़ासिज्म, गांधीवाद, कम्युनिज्म, रूसो, हीगेल, नीत्शे या स्पैंग्लर सब पर समान रूप से लागू किया जा सकता है। यहाँ तक कि सूत्र का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। शायद अमेरिका का 'सामूहिक सुरक्षा' का तर्क भी इससे सिद्ध किया जा सकता है।

विवश होकर हम दूसरे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदीजी का 'प्रगति-शील' साहित्य एक ऐसे महान् आदर्श से चालित है जिसके सिद्धान्तों का हमें पता नहीं है; शायद मूल्यों का भी पता नहीं है, क्योंकि उस ओर भी द्विवेदी-जी ने कोई संकेत नहीं किया है।

इसके बाद 'प्रगतिवादी' बचते हैं। ये शायद वही हैं जिस पर हमने पिछले अंक के सम्पादकीय में विचार किया है। इनमें कहीं-कहीं सम्प्रदायवाद की गन्ध द्विवेदीजी को महसूस होती है। किन्तु सम्प्रदायवाद की परिभाषा विचित्र है। द्विवेदीजी ने कुछ सूत्र गिनाये हैं। इन सूत्रों से, लगता है, उनका कोई मतभेद नहीं है। शिकायत यह है कि इन सूत्रों का प्रयोग खरे-खोटे की पहचान के लिए किया जाता है। इसी से सम्प्रदायवाद का जन्म होता है। 'फ़ारमूला का प्रयोग किया जाय तो प्रसादजी प्रतिगामी होंगे, महादेवी अप्रगतिशील बन जायँगी और राहुल सांकृत्यायन को भी जाति-बहिष्कृत होना पड़ेगा।' इसलिए सिद्ध हुआ कि फ़ारमूला ग़लत नहीं है; फ़ारमूले का प्रयोग ग़लत है!

किन्तु द्विवेदीजी का सबसे निरर्थक और अयथार्थ विभाजन उन प्रगतिवादियों के बीच है जो कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध हैं तथा वे जो नहीं हैं; किन्तु उसके 'विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं।' सम्बद्ध से आशय यदि सदस्यता से है तो ध्यान में रखना होगा कि कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता लेखक की नहीं, वरन् पार्टी की इच्छा पर निर्भर करती है। फिर इस भेद से साहित्य में क्या अन्तर पड़ता है यदि सभी लेखक पार्टी के 'विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते रहें?' क्या सदस्यों से इससे अधिक की आशा की जाती है? जहाँ तक अंगुलि-निर्देश का प्रश्न है, वह कम्युनिस्ट विचारधारा का केन्द्रीय सिद्धान्त है। द्विवेदीजी ने आशा व्यक्त की है कि कम्युनिस्ट पार्टी अपने अंकुश और अंगुलि-निर्देश को उठा लेगी। जिस दिन पार्टी ऐसा करेगी, वह कम्युनिस्ट न रह जायगी, स्तालिन, ज़्दानोव और माओत्से तुंग से विरत हो जायगी। अ-सदस्य प्रतिवादियों से शायद द्विवेदीजी का तात्पर्य उन लेखकों से है जो कम्युनिस्ट शब्दावली में फ़ेलो-ट्रेवलर्स, सहगामी, कहलाते हैं। ज्ञातव्य है कि इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता, साहित्यिक उद्देश्य अथवा व्यवहार के क्षेत्र में, संसार की कोई कम्युनिस्ट पार्टी नहीं स्वीकार करती। उनकी तुलनात्मक स्वतन्त्रता कम्युनिस्ट पार्टी की दुर्बलता पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त को पार्टी स्वयम् स्वीकार करती है। उनकी अन्तिम परिणति या तो पार्टी के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, अथवा लेखक वर्ग से बहिष्करण में है। इस मूल सिद्धान्त पर माओत्से तुंग, रेवाई, ज़्दानोव या स्तालिन में कोई मतभेद नहीं है।

अंगुलि-निर्देश अथवा पार्टी के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का आग्रह कम्युनिस्ट पार्टी की किसी वामपक्षी या दक्षिणपक्षी ग़लत धारा का परिणाम नहीं है। वह उसी मूल सूत्र से उपजता है जिसे द्विवेदीजी इस जनवादी आन्दोलन का

महान् आदर्श बतलाते हैं : 'व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य'। क्योंकि बेचारा लेखक व्यक्ति-मानव है और कम्युनिस्ट पार्टी समष्टि-मानव।

द्विवेदीजी की इन आश्चर्यजनक स्थापनाओं का परिणाम क्या निकलता है ? एक कल्पित वर्ग है जो अच्छा है, महान् आदर्शों से चालित है। यह 'प्रगतिशील' है। शेष प्रगतिवादियों में जो फ़ेलो-ट्रेवलर है, वह भी ठीक है। अब जो सीधे पार्टी का सदस्य है, उसमें भी जो सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ सकता है (और ऐसे व्यक्तियों की ओर द्विवेदी जी ने ज़ोर देकर संकेत किया है), वह भी ठीक है। बुरा केवल वह है जो घोर सम्प्रदायवादी है और फ़ारमूलों का प्रयोग करता है। इसमें अपने को समझकर कोई भलामानस बुरा न मान जाय, अतः द्विवेदीजी ने दस-बारह नाम गिना दिये हैं जो प्रौढ़ हैं, चिन्तनशील हैं। केवल 'प्रगतिशील' नामक वृत्त में दो-चार आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचने और विभाजन करने का अभूतपूर्व लाभ यह हुआ कि कई पालियों में सभी 'जनवादी' आलोचना की वैतरणी पार कर गए। किसी को बुरा मानने की गुंजायश न रही। यदि द्विवेदीजी एक प्रगतिशील वर्ग ऐसों का भी बना देते जो प्रगतिशील कहा जाना पसन्द नहीं करते तो एक और खेवे में सभी पार निकल जाते और आचार्यप्रवर निस्संशय होकर सबके समान समर्थन (श्रद्धा और समादर नहीं, क्योंकि वह तो उन्हें समान रूप से प्राप्त है ही) के भोक्ता बन जाते।

अब हम जनवादी साहित्य के अन्तर्गत 'व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव के प्राधान्य' पर आते हैं जिसके लिए बेचारे मार्क्स का नाम हिन्दी के आलोचकों में इतना सुनाई पड़ता है कि हमें पूर्ण विश्वास हो गया है कि हिन्दी के समकालीन लेखकों में मार्क्स को पढ़ने का कष्ट क्या कम्युनिस्ट, क्या ग़ैर-कम्युनिस्ट कोई भी नहीं करता।

मार्क्स अपने सामाजिक दर्शन में मानव-व्यक्तित्व को जीवन की उपलब्धि और सौन्दर्य का प्रमुख आधार मानता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत इस व्यक्तित्व के ह्रास की ओर उसने बारम्बार संकेत किया है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को उसने कभी भी 'व्यक्ति-मानव के ऊपर समष्टि-मानव के प्राधान्य' के रूप में नहीं देखा। यहाँ विस्तृत उद्धरण देना तो स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, किन्तु मैं कुछ अंश प्रस्तुत करता हूँ :

"मशीन के व्यापक प्रयोग और श्रम-विभाजन के कारण मज़दूरों के कार्य

ने अपना व्यक्तिगत चरित्र बिलकुल खो दिया है···और इसके फलस्वरूप मजदूरों के लिए काम की सरसता भी लुप्त हो गई है।"[1]

इसके आगे :

"अतः बूर्जुवा समाज में पूँजी स्वतन्त्र है और अपना व्यक्तित्व रखती है। किन्तु जीवित व्यक्ति परतन्त्र है और व्यक्तित्वहीन है। इस परिस्थिति के विनाश को बूर्जुवा वर्ग व्यक्तित्व तथा स्वतन्त्रता का विनाश कहता है। ठीक भी है। बूर्जुवा व्यक्तित्व, बूर्जुवा स्वतन्त्रता और बुर्जुवा स्वाधीनता का विनाश निस्सन्देह उद्दिष्ट है।···अतः आपको मानना पड़ेगा कि व्यक्ति से आपका आशय मध्यमवर्गीय सम्पत्ति-स्वामी के अतिरिक्त और किसी से नहीं है। निस्सन्देह इस व्यक्ति को रास्ते से हटाना और उसे असम्भव बनाना पड़ेगा। कम्युनिज़्म किसी व्यक्ति की समाज द्वारा उत्पादित वस्तुओं के स्वामित्व की शक्ति का अपहरण नहीं करता, वह केवल उस शक्ति का अपहरण करता है जिसके द्वारा ऐसा स्वामित्व दूसरों को पराधीन बनाता है।"

एक और :

"हम केवल थोड़े से उदाहरण उन आपत्तियों के देंगे जो इस निबन्ध में कम्युनिज़्म के विरुद्ध उठाई गई हैं :

कम्युनिस्ट विभिन्न अणुओं को एक समन्वित पूर्णता (organic whole) में नियोजित नहीं करता।

बेशक, इन अणुओं को एक समन्वित पूर्णता (organic whole) में नियोजित करना उतना ही कम वांछनीय है जितना एक वृत्त को चौकोर वर्ग बनाने का प्रयास करना !"[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मार्क्स ने व्यक्ति-मानव और समष्टि-मानव इन दो प्रकार के मानवों की कल्पना नहीं की है। वस्तुत, वह सदैव 'व्यक्ति' अथवा 'व्यक्तित्व' को अविभाज्य इकाई के रूप में प्रयुक्त करता है। एक बूर्जुवा व्यक्तित्व है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति और उस सम्पत्ति को दूसरों के शोषण का आधार बनाने की क्षमता से उत्पन्न होता है। इसका विनाश

---

१. कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो।

२. जर्मन आइडियालोजी : ट्रू सोशलिज्म। यहाँ मार्क्स-एंगेल्स उन जर्मन समाजवादियों का खण्डन कर रहे हैं जिन्होंने फ्रेंच कम्यूनिज़्म पर आपत्तियाँ की थीं। अणु का अर्थ 'व्यक्ति-मानव' है और समन्वित पूर्णता का अर्थ 'समष्टि-मानव' है।

वांछनीय है। इसके लिए इस क्षमता का अपहरण करना होगा और कुछ नहीं। दूसरा साधारण मानवीय व्यक्तित्व है जो हर मानवीय इकाई का नैसर्गिक एवं आत्मिक गुण है। न केवल इसका विनाश अवांछनीय है, बल्कि समाजवाद का प्रमुख उद्देश्य इस व्यक्तित्व को पुनः स्थापित करना है। उसकी उपलब्धि से आनन्द, सुख और जीवन की सरसता प्राप्त होती है। इस व्यक्तित्व का निर्माण कार्य में 'व्यक्तिगत चरित्र' की छाप पड़ने से होता है। जितनी निकटता व्यक्ति और उत्पादित वस्तु में होगी, उतनी ही उपलब्धि प्रखर होगी। जितनी दूरी होगी उतना ही व्यक्तित्व खण्डित होगा और कार्य-प्रणाली नीरस होती जायगी। इस व्यक्तित्व का आधार सम्पत्ति नहीं, बल्कि मानव-मन की नैसर्गिक वृत्तियाँ हैं। अन्त में, अणुओं का गन्तव्य समग्र पूर्णत्व में एकाकार हो जाना नहीं है, बल्कि अपनी अणुता, अपने व्यक्तित्व को अधिक-से-अधिक निखारने का अवसर प्राप्त करना है - व्यक्तिगत सम्पत्ति जिसके मार्ग में अवरोध बनकर आ खड़ी हुई है।

समस्या यह नहीं है कि व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव को प्रतिष्ठित किया जाय, बल्कि किस प्रकार उसे पुनः स्थापित किया जाय। अतः स्पष्ट है कि जो भी समष्टिगत प्रयास उस स्वाभाविक मानव-व्यक्तित्व के विकास को रोकता है, उस सीमा तक वह ह्रासशील और प्रतिक्रियावादी है। और ऐसा कोई भी प्रयास जो व्यक्ति-मानव या मानव-व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुँचाता है, अर्थात् उत्पादक और उत्पादित वस्तु की निकटता और 'व्यक्तिगत चरित्र' को अक्षुण्ण रखता है, मार्क्सीय समाजवाद के विरुद्ध नहीं हो सकता।

व्यक्तित्व की इस परिकल्पना में कलाकार का स्थान कहाँ है ? एंगेल्स ने पूँजीवादी समाज में व्यक्तित्व के खण्डित होने का उदाहरण आलपीन के उत्पादन से दिया था। एक आलपीन के बनाने में हज़ारों मज़दूरों के हाथ लगते हैं, तो स्पष्ट है कि कोई मज़दूर उस पर अपनी, केवल अपनी, छाप नहीं देख सकता। अत. मशीन तथा श्रम-विभाजन उत्पादित वस्तु और उत्पादक के बीच एक दूरी स्थापित करता है। इसके पुनस्संयोजन का उपाय यही है कि समाजीकरण द्वारा आलपीन पुनः अपने उत्पादकों के पास लौट आये, न कि किसी एक की सम्पत्ति हो जाय।

किन्तु कलाकृति के उत्पादन में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बड़ी-से-बड़ी मशीनरी के आविष्कार के उपरान्त भी उसका सामूहिक उत्पादन नहीं हो सकता। यह एकमात्र प्रक्रिया है जिसमें श्रम-विभाजन सम्भव नहीं। हम भविष्य में किसी ऐसे युग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें कोई उपन्यास

दस हज़ार उपन्यासकारों द्वारा इस प्रकार लिखा जाय कि कोई भी न कह सके कि उस पर किसकी छाप है। साथ ही, कलाकृति में 'व्यक्तिगत चरित्र' की अभिव्यक्ति अन्य उत्पादन-सामग्रियों में सबसे अधिक होती है। अन्य वस्तुओं का उत्पादन सामूहिक श्रम द्वारा होता है और उनका उपभोग व्यक्तिगत। इसके ठीक विपरीत कलाकृति का उत्पादन एक व्यक्ति करता है और समूह उसका उपभोग करता है। अतः कलाकार की वैयक्तिक सत्ता, अपनी कृति के सम्बन्ध में अक्षुण्ण है, अप्रतिहत है। उसकी अभिव्यक्ति और उसका विकास किसी प्रकार प्रगति का बाधक नहीं बन सकता।

तब क्या कलाकार का व्यक्तित्व खण्डित नहीं होता? होता है, दो प्रकार से। एक तो समाज के अंग के रूप में शोषण-उत्पीड़न आदि की अनिवार्य विकृतियाँ उसे मजबूर करती हैं। वस्तुतः उसका कलात्मक प्रयास इस कलाहीन विच्छिन्नता से ऊपर उठने का चमत्कारपूर्ण प्रयास है; लेनिन के शब्दों में नरक के बीच स्वर्ग का निर्माण करने का प्रयास है। जितनी बड़ी प्रतिभा उसके पास होती है, उतना ही वह उसके ऊपर उठकर हमें पूर्णता की दृष्टि प्रदान करता है। यह पूर्णता की उपलब्धि किस स्तर पर होगी, यह प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य कारणों पर भी निर्भर करता है जिनका विवेचन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

दूसरे, कलाकार का व्यक्तित्व तब खण्डित होता है जब उसके अन्तस् से अननुभूत कोई बाह्याचार, शैली, विचारधारा, जीवनदृष्टि अथवा प्रचारात्मक पक्षधरता उसके ऊपर लाद दी जाती है, जब वह उन्मुक्त होकर यह नहीं कह सकता कि इस कृति का सृजन मैंने, केवल मैंने, किया है, इस पर आदि से अन्त तक मेरी, केवल मेरी, छाप है।

जो भी सामाजिक संगठन कलाकार की इस उन्मुक्तता पर आघात करता है, उतने अंश तक वह अन्यायपूर्ण और साहित्य-विरोधी होता है। प्रसिद्ध समाजवादी स्वप्नद्रष्टा सेंट साइमन ने, जिसका प्रभाव मार्क्स पर अत्यधिक है, मरते समय अपने शिष्यों से कहा था :

"मेरा सारा जीवन केवल एक सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है : प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के मुक्ततम विकास करने का आश्वासन मिलना चाहिए।"

यही समस्या मार्क्स के जीवन का भी केन्द्र रही है।

यहाँ व्यक्तित्व और व्यक्तिवाद में अन्तर करना आवश्यक है। इसलिए कि व्यक्तिवाद एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है जिसमें सम्पत्ति-सम्बन्धों की

कल्पना अवश्यम्भावी है। फिर भी, 'प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभाविक विकास' की माँग को यदि कोई व्यक्तिवाद कहे तो हमें उस व्यक्तिवाद पर आपत्ति नहीं है और उसे हम समष्टि-मानव के विरुद्ध नहीं मानते।

मार्क्स के व्यक्ति-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जनवादी साहित्य के अन्तर्गत मार्क्स का नाम लेकर अक्सर साहित्य के समाजीकरण की माँग भी की जाती है। 'व्यक्ति-मानव पर समष्टि-मानव के प्राधान्य' का अर्थ सर्वोच्च रूसी चिन्तकों या कमिस्सारों ने यह लगाया है कि समष्टि-मानव की आवाज़ बुलन्द करने वाला एक माध्यम हो—(जो राज्य या पार्टी ही हो सकती है) और उसका प्राधान्य व्यक्ति-मानव अर्थात् कलाकार के ऊपर स्थापित किया जाय।

साहित्यकार की वैयक्तिक सत्ता पर आक्रमण करने के लिए चार प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग होता है। जनवादी साहित्य के नमूने के लिए आदि-कालीन जंगली अथवा बर्बर जातियों की कला की बात सबसे अधिक की जाती है—इस उद्देश्य से कि कला अथवा साहित्य सामूहिक उत्पादन की वस्तु है। लोकगीतों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है : सचेत कलाकार के सामने अक्सर महान् साहित्य के नमूने के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है—शायद इस उद्देश्य से कि यह सब भी सामूहिक उत्पादन की वस्तु है। कहा जाता है कि पूँजीवादी समाज की बढ़ी हुई मशीनों के कारण साहित्य के उत्पादन में प्रेस, मशीनें, मज़दूर आदि लाखों व्यक्तियों तथा सामाजिक शक्तियों का बहुत बड़ा योगदान हो गया है—शायद इस उद्देश्य से कि इस युग में साहित्य को वैयक्तिक उत्पादन की वस्तु मानना सम्भव नहीं है। और चौथे, यह कि साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व से सीमित है, उसके विचार स्वतन्त्र नहीं हैं। यदि वह अपनी बात कहना चाहता है तो पलायनवादी है अथवा प्रतिक्रियात्मक है। शायद इस उद्देश्य से कि उसका कोई अपना निर्णायक विवेक भी नहीं है।

ये सभी तर्क साहित्यकार के व्यक्तित्व के क्षरण और नैतिक रूप से उसे जर्जर एवं आत्म-विश्वासहीन बनाने के लिए उपस्थित किये जाते हैं। सतही तौर से देखने वाला भी समझ सकता है कि बर्बर जातियों का उदाहरण आधुनिक संदर्भ में बिलकुल अनावश्यक और प्रमाणहीन है। मानव-व्यक्तित्व के आज तक के विकास को झुठलाया नहीं जा सकता। आज उन परि-स्थितियों में लौट जाना असम्भव है। कला का विशेषीकरण मानव-जाति की प्रगति और प्रौढ़ता का चिह्न है। इसके अतिरिक्त आधुनिकतम समाज-शास्त्रीय अन्वेषणों के प्रकाश में कला की आदिम सामूहिकता भी सन्दिग्ध है।

उसी प्रकार लोकसाहित्य का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो सामूहिक केवल इस कारण लगता है कि उसे लिखा नहीं गया, उसके लेखक लुप्त हो गए। जो कुछ युगों के प्रवाह में गढ़ा गया है वह उस पत्थर की भाँति है जो समुद्र की लहरों द्वारा सुडौल होता है। एक कलाकार से उस प्रकार की कृति उत्पन्न करने की आशा करना अयथार्थ है। फिर, लोक-साहित्य की सीमाएँ हैं जिनको याद रखना आवश्यक है। सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न 'जनहित' से सम्बद्ध है। इस पर हम अपने पिछले लेख में विचार कर चुके हैं।

कला के सृजनात्मक स्रोत तथा पूर्ण होने पर सामाजिक उपभोग, इन दोनों सन्दर्भों में हमने 'जनवादी साहित्य' की प्रमुख स्थापनाओं पर विचार किया। इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना रहा नहीं जा सकता कि हिन्दी में प्रचलित 'जनवादी साहित्य' का दृष्टिकोण मार्क्सीय नहीं है, वैज्ञानिक भी नहीं है, समाज को आगे बढ़ाने वाला तो नहीं ही है, कम्युनिष्ट भले हो हों।

अन्त में हम फिर प्रेमचन्द की उक्ति की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे—प्रगतिशील साहित्य, यह शब्द ही ग़लत है।

अप्रैल, १९५५

लेखकों का दुःख-सुख : 'उग्र' के नाम ख़त

१४ बैंक रोड
इलाहाबाद १-११-५५

प्रिय संपादक जी,

अपनत्व से भरा हुआ आपका छपा हुआ पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। हिन्दी पंच को पुनर्जीवित करने का निश्चय बहुत ही उत्तम और समयानुकूल है। आपने सहसा साहित्य में पुरागमन की घोषणा करके हम सबको आशान्वित और उत्कण्ठित कर दिया है। आपके सहयोग से इस योजना की घोषणा साम्प्रतिक साहित्यिक वातावरण की एक बड़ी कमी की पूर्ति करती है।

वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी में उच्च स्तर की हास्य-पत्रिका का अभाव हम लेखकों को ही नहीं, साधारण पाठकों को भी खटकता रहा है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि आपके हाथों यह कार्य बड़ी उपयुक्तता से सम्पन्न होगा।

आपके पत्र में जो सबसे अच्छी और निश्छल बात लगी, वह हमारे दु.ख-सुख के विषय में आपकी रुचि। इस प्रश्न को उठाकर आपने हम में से बहुतों को सोचने के लिए, एक नए ढंग से सोचने के लिए, सामग्री दी है। मेरा आपसे व्यक्तिगत परिचय नहीं है, किन्तु आपके पत्र का स्वर मुझे इस विषय पर कुछ लिखने का साहस प्रदान करता है। मैं अपने को हिन्दी में नवागत, और अंग्रेज़ी तथा नयी पीढ़ी के वातावरण में पला होने के कारण अपरिचित ही मानता हूँ। हिन्दी साहित्यकार के सम्बन्ध में कुछ कहना मेरे लिए शायद अनधिकार चेष्टा हो : किन्तु इस विचार से कि हिन्दी साहित्य के विशाल प्रांगण में प्रवेश करने के बाद मेरी अनुभवहीन आँखों को जो चकाचौंध, और जो दृश्य दिखलाई पड़ता है, वह शायद नया हो, और शायद हिन्दी राष्ट्रभाषा होने पर मेरे जैसे नवागन्तुकों का समूह बढ़ता जाए, इसलिए जैसा मुझे दिखता है, लिखने का साहस करता हूँ, आशा करता हूँ, महत्त्वपूर्ण न सही रोचक तो होगा ही।

मुझे लगता है कि अब हिन्दी के साहित्यकारों का दुःख-सुख एक-जैसा नहीं रह गया है; जैसा, सुनता हूँ, आज़ादी के पहले, जब हिन्दी दास-भाषा थी, तब था। मुझे दीखता है, जैसे चारों ओर इनाम और ख़िलवतें बँट रही हैं और उनमें से किसी न किसी प्रकार कुछ भी पा जाने के लिए होड़ लगी हुई है।

राजनीतिक पीड़ितों ने जिस तरह जेल जाने के सर्टिफ़िकेट इकट्ठा करने शुरू किये, कुछ उसी तरह हर आदमी जो कभी किसी हिन्दी पत्र में सब-एडिटर भी रहा है—या दो-चार सतरें भी मौज़ूँ कर ली हैं—वह जल्द-से-जल्द अपनी शहादत को नक़द में भुना लेने के लिए उतावला है। रेडियो, इन्फ़ार-मेशन-विभाग, संग्रहालय, टेक्स्टबुक कमीटियाँ, अनुवाद समितियाँ, शिक्षा-विभाग—एक अजीब दौड़ है। दिल्ली गया, वहाँ तो यह दौड़ पागलपन की सीमा तक दिखलाई पड़ रही है। राजनीतिक पीड़ित की भाँति हर आदमी हिन्दी-पीड़ित, हिन्दी-पीड़ित का नारा लगा रहा है। यह सब क्या हो रहा है? क्या साहित्य-सृजन भी आज़ादी की एक मंज़िल मात्र है जो अब पूरी हो गई है और अब जिसके आगे इसके अतिरिक्त सोचने को कुछ शेष नहीं रह गया है कि कैसे शीघ्रातिशीघ्र दफ़्तरों में हिन्दी का प्रचलन हो और उच्चतर शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाय?

मुझे घुटन महसूस होती है। ख़ास तौर से इसलिए कि इस रेस में दौड़ने वालों में उनको भी देखता हूँ जिन्हें साहित्य-क्षेत्र में अपना बन्धु मानने के लिए विवश हूँ। और जी में आता है, काश इनसे अपने को अलग कर पाता। लेकिन यह हवा पार्लामेंट की मेम्बरी से लेकर बेसिक रीडर के संकलन तक फैली हुई है। सुना है कुछ लोग एक 'राष्ट्रकवि'—पोएट लारियेट के वज़न पर—संस्थापित करने की चेष्टा में संलग्न हैं। सुनकर जी दु:खी हो गया। झूठे सम्मान और मुद्रा-प्राप्ति का लोभ हमें कहाँ तक ले जायगा? पोएट लारियेट बनाने की प्रणाली इंगलैण्ड के सामन्ती वातावरण की एक सड़ी हुई और कुत्सित प्रणाली है जो वहाँ अब तक किसी तरह जीवित है। लेकिन कोई आत्माभिमानी कवि इसे स्वीकार नहीं करता। जैसे ही मैंने यह सुना, मुझे वर्ड्सवर्थ की परिणति याद आ गयी और साथ ही शेली की वह तिल-मिलाहट से भरी हुई चोट—'उसने, उसने, एक शिरोपेच के लिए हम सबको बेच दिया!'

सबसे अधिक दु:ख और आश्चर्य यह देखकर होता है कि पिछली पीढ़ी के साहित्यकार, जिनकी थाती स्वीकार करने के लिए मैं आया, और मेरे जैसे कितने ही नये लेखक आये होंगे, सबसे ज़्यादा इस होड़ में विचलित हो गये हैं। ज़िन्दगी-भर 'हिन्दी-सेवा' का नारा लगाने के बाद जैसे उन्हें स्वयम् यह विश्वास हो गया कि 'हिन्दी-सेवा' के अतिरिक्त उनके लिखने का उद्देश्य ही नहीं था। जैसे उन्हें सचमुच कुछ कहना कभी था ही नहीं, केवल हिन्दी की वर्णमाला ही उनके कर्तव्य की इतिश्री थी। जैसे भीतर से उठते हुए किसी सत्य ने उन्हें कभी पागल ही नहीं किया, केवल माध्यम का आवरण ही उनकी

जादूगरी का अन्त हो। जैसे सब रीते हों, खोखले हों, निरर्थक हों। और अब, जब हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई—हिन्दी की सेवा सरकार से वेतन पाने वाले तारबाबू और कलक्टरी के पेशकार भी करने लगे—तब वे केवल यह कह सकते हैं, 'सबसे पहले हमने किया : सबसे पहले हमने किया।'

मैंने व्यक्तिगत रूप से आपको कभी नहीं जाना। लेकिन आपके साहित्य से परिचित होने के कारण—एक पाठक के रूप में अच्छी तरह जानने का दावा करता हूँ। और मुझे जिस बात ने सबसे अधिक प्रभावित किया है, वह यह कि आपने लिखा है, इसलिए कि हमेशा आपको कुछ कहना रहा है। और अपने उस सत्य को कहने में आपने कभी साहस का अभाव नहीं दिखलाया। और जब तक आपके पास कुछ कहने को नहीं था, तब तक आपने मात्र 'हिन्दी-सेवा' के लिए क़लम चलाने की आवश्यकता नहीं समझी। मैं नहीं जानता कि मेरी बात कहाँ तक सच है, किन्तु आपके साहित्य को पढ़कर मेरे ऊपर ऐसा ही प्रभाव पड़ा है।

मैं कह नहीं सकता कि आप साहित्यकार के दु:ख के निवारण की कौन-सी रीति बरतेंगे। लेकिन आज जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता मुझे प्रतीत होती है, वह इस भ्रमित कर देने वाली गूदड़ी-बाज़ार में से ऐसों को अलग करने की है जो लिखते हैं, इसलिए कि उन्हें कुछ कहना है; इसलिए नहीं कि वह इनामों और ख़िलवतों के लिए आसान रास्ता है। मेरा विश्वास है कि नयी पीढ़ी में ऐसे बहुत से प्रतिभाशाली लेखक मिलेंगे जिनकी आत्माओं पर गूदड़ी-बाज़ार का यह अजीब शोर एक हताश कर देने वाली घुटन के साथ जकड़ता जा रहा है।

किसी हद तक हिन्दी के बड़े नामों से मैं प्रभावित हो पाने में समर्थ नहीं हो पाया हूँ। इसलिए नहीं कि मुझमें आस्था या श्रद्धा की कमी रही है। मैं साहित्य के क्षेत्र में लेखक से अधिक पाठक ही रहा हूँ। लेकिन जिस तरह चोटी के लेखकों को तृतीय श्रेणी की रचनाएँ प्रस्तुत करते देखता हूँ और सब धान बाईस पसेरी बिकते देखता हूँ : देखकर हैरान रह जाता हूँ। अंग्रेज़ी का अध्यापक और पाठक होने के नाते मन में सोचता था कि शायद 'पाश्चात्य सभ्यता' के प्रभाव से मेरी ही दृष्टि विकृत हो। कुछ तो इस 'पाश्चात्य सभ्यता' की बुराई इतनी सुनी थी कि हिन्दी-क्षेत्र में आते ही मुझे भय लगने लगा। अत: विशेष ध्यान देकर मैंने अपने को सब कुछ स्वीकार करने के लिए तैयार किया। और हर बड़े साहित्यकार से मिला। जो अनुभव हुआ, उसने आश्चर्य-चकित कर दिया। हर बड़े के मुँह से एक ही माँग, एक ही शिकायत सुनी—उसका समुचित आदर नहीं किया गया है, उसकी समुचित दुन्दुभी

नहीं पीटी गई ! और माँग यह कि जब तक शायद उसकी दुन्दुभी पीटने का कार्यक्रम नहीं पूरा हो जाता, तब तक किसी नये को लिखने का, ख़ास तौर से अच्छा लिखने का अधिकार नहीं है ।

एक प्रसिद्ध उपन्यासकार से मिला । उन्हें हम नयी पीढ़ी के लेखकों से ख़ास शिकायत थी । चूँकि उनकी राय और अनुभव को महत्त्व देना था, अतः उनसे मिलकर पूछना कर्तव्य समझा गया । बोले, 'आज नयी पीढ़ी के लेखकों में साधना की कमी है ।'

मैं ईमानदारी से कहता हूँ कि साहित्य में 'साधना' का क्या अर्थ है, मैं नहीं समझ पाता । शायद यह पिछली पीढ़ी की भाषा हो जिसे हम नहीं जानते । शायद हमारे-उनके बीच में ऐसी खाई हो जिसे पाटना असम्भव हो । 'प्रतिभा' का मन्तव्य और महत्त्व तो समझता हूँ । क़ायल भी हूँ । लेकिन यह 'साधना' क्या है ? योगाभ्यास तो नहीं है ? फिर वर्षों का अनवरत परिश्रम और जीवन का अवलोकन है ? शायद हाँ । तो फिर इसका अर्थ सीधा यह तो नहीं है कि मेरा एकमात्र दोष यही है कि मेरी उम्र साठ वर्ष की नहीं है, कि मेरे बाल सफ़ेद नहीं हो गये ? मुझे सन्देह होता है कि यह नारा सबसे अधिक ख़तरनाक और हर उगती हुई प्रतिभा के लिए घातक है । संसार के साहित्य की ओर दृष्टिपात करता हूँ और देखता हूँ कि उत्कृष्ट साहित्य-सृजन की औसत आयु चालीस वर्ष से नीचे रही है, तो सोचता हूँ कि साधना के नाम पर बूढ़ों का यह षड्यन्त्र हिन्दी में ही क्यों है, और कब तक चलता रहेगा ।

लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं था । अग्रणी और अग्रज उपन्यासकार ने बातचीत के दौरान में बताया कि किस तरह आज तक आलोचकों ने उनका समुचित मूल्यांकन नहीं किया और हमारी पीढ़ी से जो उनकी आशाएँ थीं, वह साधना के अभाव में नष्ट हो रही हैं । तब बात बिजली की तरह मेरे मन में कौंध गई कि पहले मेरा कर्तव्य है कि उनकी औपन्यासिक कला पर मैं आलोचना की पुस्तक लिखूँ (क्योंकि मेरी प्रतिभा से उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं), उनकी प्रशस्ति में ज़मीन-आसमान एक कर दूँ । मैंने जो कुछ योरपीय साहित्य पढ़ा है, उसको भुलाकर उन्हें टालस्टाय, डास्टाव्स्की, डिकेन्स और बालज़ाक के ऊपर सिद्ध कर दूँ—तब मेरी साधना पूरी होगी, नहीं तो हम सब कुण्ठित, अहंवादी, पलायन-ग्रस्त, साहित्य को भ्रष्ट करने वाले, दुराचारी और ह्रासोन्मुख ही बने रह जायँगे । नतीजा यह होगा कि कोई हमें टके को भी नहीं पूछेगा ।

यह मन भारी कर देने वाला निष्कर्ष था, लेकिन बात साफ़ थी । आप बतलाइये, ऐसी स्थिति में नया लेखक लिखे तो क्या लिखे । अभिनन्दन करना

जहाँ नये लेखक का पहला कर्तव्य माना जाता हो, वहाँ अग्रजों से मतभेद प्रकट करना तो सरासर पाप ही है। यह सब हमारी समझ में नहीं आता। दुनिया के साहित्य में देखता हूँ कि नयी पीढ़ी आती है, पिछली मूर्तियों, मान्यताओं, ऋचाओं पर हथौड़े से चोट करती है, लेकिन कहीं इस तरह का सामाजिक सेन्सर नहीं काम करता। हम नये हैं, तोड़ना नहीं चाहते। लेकिन पुराने श्लोक नहीं पढ़ेंगे, इतना निश्चित है। इतने को ही यदि सूली चढ़ाने के लिए काफी समझा जायगा तो हम विवश होकर विद्रोह करेंगे, सब खंडित कर डालेंगे, सब कुछ कूड़े में फेंक देंगे, जो बातें श्रद्धा या अदब के कारण नहीं कहते, वह भी कहेंगे—इतनी सीधी बात हमारे अग्रज क्यों नहीं देखते ?

मैं आशा करता हूँ कि हमारे इस दुःख का निवारण आप अपनी पत्रिका में करेंगे—वास्तविक प्रतिभाओं को खोज कर, 'साधना' के नारे को, जिसका अर्थ केवल साठ वर्ष की उम्र रह गया है, तिलांजलि दे कर। लिखने की आवश्यकता इसलिए महसूस करता हूँ कि आप इधर अर्से से साहित्यिक वातावरण से दूर रहे हैं। मैं नहीं जानता कि आपके समय में क्या-क्या विवाद सबसे महत्त्वपूर्ण थे, कौन-सी समस्याएँ ज्वलन्त थीं, कौन से प्रयोजन सर्वाधिक उत्साहवर्धक थे। लेकिन आपको अधिकतर साहसी और रूढ़ि छोड़कर चलने वाले के रूप में ही जानता हूँ। आवश्यक है कि जो बातें हमारे मष्तिष्क में घूम रही हैं, उनसे खुलकर परिचित हों; जो दीवारें हमें घेर रही हैं, उन्हें तोड़ने में सहायक हों।

क्षमा कीजियेगा, पत्र आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया। मैंने अपने मन को खोलकर रखने का प्रयास ही किया है। आशा करता हूँ कि यह सब अनावश्यक और वास्तविकता से परे नहीं होगा। यह भी नहीं कह सकता कि यह अनुभव केवल मेरा है या सभी ऐसा सोचते हैं। बहुतों से मिल कर बातें करने का सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सका हूँ। स्वभावानुसार शायद कर भी नहीं पाऊँगा। फिर भी मुझे जैसा लगता है, लिख दिया।

इस विस्तार में अपनी रचना भेजने का कर्तव्य छूटा जा रहा है। उसकी प्रति तैयार करने में लगूँगा तो यह पत्र विलम्ब में पड़ जायेगा। अतः पत्र तो भेजता ही हूँ, क्योंकि उत्तर की प्रेरणा अधिक बलवती है। रचना की प्रति तैयार करके भेजूँगा। इस बीच अगर आपका प्रथम अंक आ भी गया तो कोई बात नहीं। अगले के लिए सही। शायद आपका अंक शीघ्र ही प्रकाशित हो। मेरे पते पर देखने को मिले तो क्या बात है—नहीं तो यहाँ किस बुक-स्टाल पर मिलेगा, इसकी सूचना भेजें।

भवदीय

३१, जनवरी — विजयदेवनारायण साही

'हिन्दी पंच' के प्रकाशन का निश्चय करते ही उग्र ने हिन्दी के साहित्यिक बन्धुओं को एक परिपत्र लिखा था। पूछा था :

१. आपकी रचनात्मक गतिविधि क्या है ?
२. आपकी राह में कोई बाधा तो नहीं है; अगर है, तो क्या ?
३. क्या हम आपकी कोई सेवा करने योग्य हैं ?

इन प्रश्नों के उत्तर में यह पत्र भेजा गया था।

हिन्दी की दो पीढ़ियाँ और युग-परिवर्तन

हिन्दी के ख्याति-प्राप्त साहित्यकार और पत्रकार श्री उग्र ने पिछले वर्ष 'हिदी पंच' नाम से एक पाक्षिक निकालने की घोषणा की। लेखकों को उन्होंने एक छपा हुआ पत्र भेजा जिसमें उनसे अपने सुख-दु ख के विषय में भी लिखने को कहा गया था। मैंने सामयिक हिन्दी साहित्य और साहित्यिक वातावरण पर अपनी प्रतिक्रिया-स्वरूप कुछ बातें कहते हुए एक पत्र उग्रजी को लिखा। उग्रजी ने मेरा वह पत्र ३१ जनवरी, ५६ के हिन्दी पंच में प्रकाशित किया।

संक्षेप में मेरा कहना था कि साहित्यकारों की पिछली पीढ़ी राज्याश्रय और भोगलाभ की होड़ में विचलित हो गयी है। साहित्य में एक रिक्तता और अविवेक का वातावरण भर गया है। नये लेखकों के प्रति इस पीढ़ी का दृष्किोण गहन वितृष्णा का है और उनका आरोप है कि नयी पीढ़ी में साधना की कमी है। वे नयी पीढ़ी से केवल अभिनन्दन प्राप्त करने की आशा करते हैं, जो न मिलने पर नयी पीढ़ी को सामाजिक सेन्सर का शिकार बनाते हैं। मेरा यह कहना था कि साहित्य में साधना का कोई अर्थ नहीं होता। प्रतिभा की बात तो समझ में आती है। किन्तु साधना पुरानी पीढ़ी की शब्दावली में एक झूठा नारा है जिसका अर्थ बूढ़ी उम्र के अतिरिक्त कुछ नहीं। मैंने यह भी चेतावनी दी थी कि नयी पीढ़ी नयी बातें कहने और नयी मान्यताएँ प्रस्तुत करने को कृतसंकल्प है। दोनों पीढ़ियों में एक खाई हो गई है और यदि नयों को दबाया गया तो वे सब कुछ खण्डित कर डालेंगे। पुरानी पीढ़ी के पास अपने स्खलन से उबरने के लिए कुछ नहीं रह गया है। अतः आज हर एक को दृढ़ता और स्पष्टता के साथ नयी प्रतिभाओं की खोज करनी चाहिए।

मेरे पत्र का उत्तर प्रयाग से श्रीमती महादेवी और श्री इलाचन्द्र जोशी के सम्पादकत्व में निकलने वाले मासिक पत्र 'साहित्यकार' के फरवरी, १९५६ के अंक में छद्म-नाम स्तम्भकार श्री अनुस्वार ने दिया जिसमें उन्होंने मेरे पत्र के तल में काम करती हुई मेरी निजी भावनाओं की ओर संकेत किया। उन्होंने मेरे पत्र में वीरत्व और ओज की झंकार भी देखी जिसे उन्होंने अवांछनीय ठहराया। इसके अतिरिक्त उन्होंने तर्क, उदाहरण और प्रगल्भता से मेरे निष्कर्षों को असत्य और ख़तरनाक भी बताया। यह भी विचार प्रकट

किया कि मैंने नयी पीढ़ी का 'स्वनिर्वाचित प्रतिनिधित्व' जो अपने पर ओढ़ रखा है, वह झूठा और निराधार है।

उन्हें मेरे पत्र में तटस्थ सत्यान्वेषी की दृष्टि नहीं, बल्कि वकील का पूर्वग्रह दिखलायी पड़ा।

श्री अनुस्वार का लेख पढ़कर लगा कि एक बन्धु से भेंट हुई। तीखी और विवादपूर्ण बात उठाने वाले की सबसे बड़ी अभिलाषा यही होती है कि कोई उसका विरोध करे। 'उग्र' जी को पत्र लिखते समय यह आशा नहीं थी कि विचारोत्तेजन की मेरी आकांक्षा पूर्ण होगी। जिस तटस्थ शैली में अनुस्वार बन्धु ने मेरा उत्तर दिया है, उसके फलस्वरूप मैंने सबसे पहले यही विचार किया कि उग्रजी को लिखे गये अपने पत्र में से क्या-क्या वापस ले सकता हूँ। इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बहुत थोड़ा ही अंश वापस ले सकता हूँ। यद्यपि वह थोड़ा-सा महत्त्वपूर्ण नहीं है, फिर भी बात वास्तविक तथ्य से बहककर गौण धाराओं में न चली जाय, अतः वापस लेना आवश्यक है। मैंने कहा है कि नहीं कह सकता कि कि यह अनुभव केवल मेरा है या सभी ऐसा सोचते हैं। फिर भी मेरे पत्र में जहाँ भी यह आभास मिलता हो कि मैं नयी पीढ़ी का स्वनिर्वाचित प्रतिनिधि हूँ, उसे वापस लेता हूँ। मैं अपने को एक नये युग, नये वातावरण का व्यक्ति अवश्य समझता हूँ। और साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मुझे जो कुछ जैसा लगता है, उसे ईमानदारी से कहना अपना कर्तव्य समझता हूँ। आशा यह करता हूँ कि मेरी भावनाएँ, धारणाएँ चूँकि मेरे वातावरण से उत्पन्न मेरी मानसिक प्रक्रियाएँ हैं, अतः मेरे युग का स्वर उनमें होगा। यदि हम किसी युग के निकृष्टतम से अप्रभावित और असहमत होते हैं, तो मूलतः हमारी भावनाएँ उस युग से अलग नहीं हैं। किन्तु जब हम किसी युग के उत्कृष्टतम से असहमत और अप्रभावित होते हैं, तब वह स्थिति होती है जिसे मैंने अपने पत्र में युगों के बीच दुर्लभ खाई के नाम से व्यक्त किया है। जितने अंश तक मैं पिछली पीढ़ी के उत्कृष्टतम से असहमत हूँ, उतने अंश तक मेरी धारणाएँ वैयक्तिक होने के साथ नवीन धाराओं का अंग हैं। स्वनिर्वाचित प्रतिनिधित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरे, मैंने अपने पत्र में अपने को लेखक से अधिक पाठक ही माना है। इसमें भी लेखक होने का जो अंशतः दावा छिपा हुआ है, उसे भी वापस लेना चाहता हूँ। यदि इस अन्वेषण में मैं केवल नयी पीढ़ी का पाठक ही रहूँ तो भी मेरा काम चल जायेगा और अनुस्वार बन्धु को मूल समस्या के साथ-साथ मेरी प्रातिनिधिक समर्थता और 'तल' में काम करती हुई 'अपनी कुछ निजी भावनाओं' की छानबीन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि यह न

मेरे ही गौरव के अनुकूल है और न अनुस्वार बन्धु के। कम से कम मेरे गौरव के अनुकूल तो नहीं ही है। जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे सत्य और यथार्थ हैं या नहीं; जिन प्रतिमानों पर आक्रमण किया गया है, वे छूँछे और थोथे हैं या नहीं, केवल यही विचारणीय है।

इसके अतिरिक्त एक और बात भी वापस लेना चाहता हूँ जिसकी ओर अनुस्वार बन्धु ने संकेत नहीं किया है, लेकिन जिसका वापस लेना आवश्यक है, क्योंकि उससे मेरे तात्पर्य में कुछ जुड़ता नहीं, और मूल प्रश्न पर पर्दा पड़ने की आशंका है। मैंने अपने पत्र में जो कुछ 'एक प्रसिद्ध उपन्यासकार' के लिए कहा है, उसे उस सीमा तक वापस लेता हूँ जहाँ तक उसमें व्यक्तिगत आरोप की ध्वनि है। जहाँ तक इस उदाहरण से उस पीढ़ी अथवा एक युग की मनोवृत्ति और उससे भी बढ़कर साहित्यिक दृष्टि पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ तक उस आशय को रहने देना चाहता हूँ।

बहुत मनन करने के उपरान्त अभी तक इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा कि अपने पत्र में से और भी कुछ वापस ले सकता हूँ। इसके विपरीत अनुस्वार बन्धु के लेख से मेरी धारणाएँ काफ़ी हद तक दृढ़ ही हुई हैं।

आवश्यक है कि मैं अपने पत्र की स्थापनाओं और निष्कर्षों को फिर से दुहरा दूँ, ताकि मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाय। तथ्यों की स्थापना यों है—

एक, कि हमारी पिछली पीढ़ी उपभोग की होड़ में विचलित हो गई है। दो, कि नयी पीढ़ी के प्रति एक घोर असन्तोष, जो सामाजिक सेन्सर की सीमा तक जाता है, उसमें विद्यमान है। तीन, कि इस असन्तोष का औचित्य सिद्ध करने के लिए साधना के अभाव का तर्क दिया जाता है।

इन स्थापनाओं में अभिव्यक्त या अभिव्यंजित मेरे निष्कर्ष यों हैं—

एक, कि पिछली पीढ़ी का यह स्खलन एक अवांछनीय दुर्घटना है और इस पर हमें क्षुब्ध होना चाहिए। क्षुब्ध होने का तात्पर्य यह है कि हम इसको खुलकर कहें, आँख बचाने की चेष्टा न करें, और इसके कारण मानव-मूल्यों पर जहाँ आघात पहुँच रहा है, उसकी विवेचना करें, ताकि आगे की पीढ़ी घुटन न महसूस करे, या चकाचौंध में पड़कर अवांछनीय को वांछनीय न समझने लगे। दो, कि ऐसी विचलित पीढ़ी को नयी पीढ़ी के प्रति नैतिक महत्ता दिखलाने का साहस या अवसर हो, यह और भी चिन्ता का विषय है और 'बड़े मुँह छोटी बात' सा लगता है। तीन, कि नयी पीढ़ी पर आरोप के सन्दर्भ में साधना के अभाव का कोई मतलब नहीं है। यह आरोप असत्य और निरर्थक है। कुल मिलाकर मैं इसे दुःख की स्थिति मानता हूँ और इसलिए लेखकों के दुःख-सुख के अन्तर्गत कहने की बात समझता हूँ।

एक अन्य निष्कर्ष भी मेरे पूरे पत्र की विचार-विधि में व्याप्त है कि इस स्थिति में स्खलित व्यक्तियों को बुरा-भला कहने से काम नहीं चलेगा। वस्तुतः यह अन्तर प्रतिमानों का अन्तर है। इस देश में दो पीढ़ियाँ एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ी हैं। दोनों में पारस्परिक अविश्वास है, तनाव है, क्षोभ है। हम लगभग दो भाषाएँ बोलते हैं, दो दुनियाओं में रहते हैं। हमारे आधारभूत अनुभव भिन्न हैं, मानसिक प्रेरणाएँ पृथक् हैं। अतः एक-दूसरे को समझने का आधार श्रद्धा या आदर नहीं हो सकता। सामाजिक सेन्सर तो नहीं ही हो सकता। यदि कोई आशा है तो वह विवेक में है। समन्वय में नहीं, उस विवेक में जो नीर और क्षीर को पृथक् करता है। इस दशा में बेलाग-लपेट दोटूक बात कहना मेरे लिए व्यक्तिगत शौर्य का विलास नहीं है कि इतराऊँ और अपनी पीठ ठोकूँ, बल्कि यह एक तीखा, दर्द-भरा और नैतिक उत्तरदायित्व है कि जो प्रतिमान झूठे और सारहीन हो गये हैं, उन्हें खोलकर उनका थोथापन दिखलाऊँ, नये प्रतिमानों का अन्वेषण करूँ, ताकि भविष्य का पथ प्रशस्त हो सके। यदि प्रिय सत्य कहना पिष्टपेषण और एकांगी हो जाय तो अप्रिय सत्य कहना धर्म हो जाता है।

इस दृष्टि से वीरत्व और ओज की झंकार उतनी अवांछनीय वस्तु नहीं रह जाती जितना बन्धु अनुस्वार ने समझा है। यों विवाद के बीच मैं तेजस्विता का विरोधी नहीं हूँ। उसे मैं विचारोत्तेजन का गुण ही मानता हूँ, बशर्ते कि विवाद तर्कपूर्ण और मर्यादाओं तथा प्रतिमानों को लेकर हो। आज की नयी पीढ़ी अग्रजों पर आक्रमण नहीं करती, ऐसा बन्धु अनुस्वार का कहना है। मैं मान लेता हूँ, क्योंकि मेरा कहना तो यह है कि आक्रमण तो पुरानी पीढ़ी करती है। फिर भी मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि आक्रमण करने भी लग जायें तो इससे किसी का हित नहीं होना है। आक्रमण से मेरा तात्पर्य है प्रखर तार्किक जिज्ञासा, नीर-क्षीर विवेक। कुछ ऐसे मूल्य थे, सत्य थे, अर्थ थे जिन्होंने हमसे पहले की पीढ़ी को अनुप्राणित किया, प्रेरित किया, उन्हें अदम्य उत्साह से भर दिया। वे मूल्य या उनको वहन करने वाले शब्द हमें प्रेरित नहीं करते, हमें उत्साहित नहीं करते। वे शब्द, वे मूल्य मृत भी नहीं हैं। केवल हमारा रास्ता रोककर खड़े हैं। यही नहीं, वे पिछली पीढ़ी को भी स्खलन और गतिरोध से बचाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। एक प्रबुद्ध सत्यान्वेषी की दृष्टि से मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि अपनी पूरी शक्ति से उन मूल्यों पर चोट करूँ, देखूँ कि उनमें क्या कमी है जो हमें अप्रभावित छोड़ जाती है, ताकि अपनी पीढ़ी को पिछली पीढ़ी के परिप्रेक्ष्य में देख सकूँ और अपनी प्रेरणा के स्रोत संचित कर सकूँ। ऐसा आक्रमण सदा से जीवित

और जागरूक पीढ़ियों ने हर देश में किया है और इससे केवल उनका ही नहीं, पिछली और पंगु पीढ़ी का भी हित हुआ है। अनुस्वार बन्धु यदि 'विधान सभा' के सदस्य हो जायें तो अपने तर्क द्वारा ज़मीन का नया क़ानून बनाते समय यह कहेंगे कि पुरानी पीढ़ी का जो ज़मीनदारी का क़ानून है, उस पर आक्रमण करने या उसे खण्डित करने से क्या लाभ ? तुम अपना नया क़ानून बनाओ। इस प्रकार देश में ज़मींदारी और ज़मीनदारी-उन्मूलन दोनों ही के क़ानून स्वस्थ रचना के नाम पर चलते रहेंगे।

अब मैं अनुस्वार बन्धु के निष्कर्षों पर आता हूँ। प्रसन्नता की बात है कि अनुस्वार बन्धु ने मेरे तथ्यों में से किसी को अस्वीकृत नहीं किया है। केवल उनके निष्कर्ष भिन्न हैं। इससे मेरा काम सरल हो जाता है, क्योंकि वास्तविक जीवन से उदाहरण देकर अप्रिय यथार्थ कहने के अरुचिकर उत्तरदायित्व से मैं बच जाता हूँ। अनुस्वार बन्धु के निष्कर्ष यों हैं—

एक पिछली पीढ़ी के स्खलन पर हमें क्षोभ नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्खलन तो सारे देश का हो रहा है जिसमें नयी पीढ़ी भी शामिल है। दो, मैं अपने दृष्टिकोण के कारण उन कतिपय पथभ्रष्ट नवयुवकों का समर्थन करता हूँ जो साहित्य में साहित्येतर उपायों से प्रतिष्ठा और यश पाने की चेष्टा कर रहे हैं। तीन, जिन महानुभाव ने साधना करने की सलाह दी थी, उनकी बात बहुत सटीक और महत्त्व की है।

एक अन्य निष्कर्ष जो अनुस्वार बन्धु की विचार-विधि में व्याप्त है, वह यह कि मूल्यों की दृष्टि से नयी और पुरानी पीढ़ी में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा मैं दो कारणों से समझता हूँ। एक तो उन्होंने कहा है कि नयी पीढ़ी स्वस्थ रचना में विश्वास करती है। अग्रजों पर आक्रमण नहीं करती। इस उक्ति में यह धारणा छिपी हुई है कि स्वस्थ रचना का अर्थ जो पहले था, अब भी है। जो साहित्यिक रचना में पहले उत्कृष्ट और स्फूर्तिदायक था, वही अब भी है। अतः आज जो स्वस्थ है (इस स्वस्थ का क्या अर्थ अनुस्वार बन्धु साहित्यालोचन में समझते हैं, इसका स्पष्टीकरण वे करें तो बड़ा रोचक होगा), वह प्रसंगतः पहले के स्वस्थ से भिन्न, उसका प्रतिरोधी बनकर नहीं खड़ा होता। दूसरे, उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि साहित्यिक व्यवहार में जो दोष पुरानों में व्याप्त है, वैसा ही नयों में भी है। इसमें धारणा यह है कि जो पहले निकृष्ट और क्षोभकारी था, आज भी है। इस प्रकार वे युग-परिवर्तन और बदली हुई समस्याओं, साहित्य और साहित्यकार सम्बन्धी हमारी धारणाओं में परिवर्तन के सत्य को अस्वीकार करते हैं।

मोटे तौर पर स्थिति यह है कि बातें जो मैंने कहीं हैं, सब सच हैं। देखना यह है कि किसके निष्कर्ष वकील की-सी पूर्वग्राहिता लिये हैं, और किसकी बात दुराग्रह की सीमा तक जाती है, मेरी या अनुस्वार बन्धु की; कौन कठ-हुज्जती और हठधर्मी कर रहा है : मैं या अनुस्वार बन्धु ?

सबसे पहले मैं साहित्य में साहित्येतर उपायों की प्रतिष्ठा का आरोप लेता हूँ, क्योंकि यह बिलकुल निराधार है। यहाँ तक कि इसमें मतभेद की गुंजाइश भी नहीं है। कैसे अनुस्वार बन्धु इस परिणाम पर पहुँचते हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता। हिन्दी के नये पाठक होने के नाते मेरे पत्र का उद्देश्य स्वयम् उग्रजी को सामयिक वातावरण की एक झाँकी देकर यही कहना था कि वे यदि रोक सकें तो हिन्दी साहित्य में सब धान-बाईस पसेरी-पन को रोकें, अपनी लेखनी और अपने सम्पादकीय विवेक द्वारा। पहले की बात को पुनः उद्धृत करना मुझे पसन्द नहीं, किन्तु इसके अतिरिक्त अनुस्वार जी के उल्टे निष्कर्ष की असत्यता दिखाने का कोई तरीका नहीं है। अतः कुछ वाक्य उद्धृत करता हूँ—मैं कह नहीं सकता कि आप साहित्यकार के दुःख के निवारण की कौन-सी रीति बरतेंगे। लेकिन आज जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता मुझे प्रतीत होती है, वह इस भ्रमित कर देने वाले गूदड़ी-बाज़ार में से ऐसों को अलग करने की है जो लिखते हैं, इसलिए कि उन्हें कुछ कहना है; इसलिए नहीं कि वह इनामों और ख़िलवतों के लिए आसान रास्ता है। मेरा विश्वास है कि नयी पीढ़ी में ऐसे बहुत-से प्रतिभाशील लेखक मिलेंगे जिनकी आत्माओं पर गूदड़ी-बाज़ार का यह अजीब शोर एक हताश कर देने वाली घुटन के साथ जकड़ता जा रहा है।......जिस तरह चोटी के लेखकों को तृतीय श्रेणी की रचनाएँ प्रस्तुत करते देखता हूँ और, और सब धान बाईस पसेरी बिकते देखता हूँ : देखकर हैरान रह जाता हूँ।......मैं आशा करता हूँ कि हमारे इस दु.ख का निवारण आप अपनी पत्रिका में करेंगे—वास्तविक प्रतिभाओं को खोजकर, साधना के नारे को, जिसका अर्थ आज केवल साठ वर्ष की उम्र रह गया है, तिलांजलि देकर।

साहित्य के क्षेत्र में यश और प्रतिष्ठा के तीन स्रोत हैं : शासकगण, सम्पादक और आलोचक। शासकों के विषय में चर्चा आगे करूँगा। पत्र मैंने एक सम्पादक को लिखा था। जिस सीमा तक सम्पादक चुनाव करता है, वह आलोचक का भी उत्तरदायित्व निभाता है। साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी देख सकता है कि मेरा सारा आग्रह साहित्य में सहित्येतर उपायों द्वारा प्रतिष्ठा के विरुद्ध है। वस्तुतः मेरा कथ्य यही है कि 'हिन्दी-सेवा' और

'साधना' ये दो ऐसे साहित्येतर मूल्य हैं जिन्होंने बहुत दूर तक पिछली पीढ़ी को सच्ची साहित्यिक दृष्टि और बौद्धिक सन्तुलन से वंचित रखा है।

क्या इसके लिए उदाहरण देने की आवश्यकता है कि पिछली पीढ़ी जिस वातावरण से गुज़री है, उसमें 'हिन्दी सेवक' और हिन्दी साहित्यकार में कोई भेद नहीं था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा नामों से ही यह स्पष्ट हो जायेगा। मैं चाहूँगा कि अनुस्वार बन्धु शुद्ध साहित्यिक कृतित्व के आधार पर हिन्दी के प्रतिष्ठित नामों को कसौटी पर कसकर देखें—किसकी पाँत में अधिकतर अयथार्थ या अपूर्ण प्रतिष्ठित मुलम्मे दिखलायी पड़ेंगे ? नयी पीढ़ी में या पुरानी पीढ़ी में ? वस्तुतः हिन्दी को पिछले अस्सी वर्षों में 'हिन्दी-सेवा' और 'हिन्दी-विरोध' की ऐसी दो व्याधियों के बीच से गुज़रना पड़ा है जिसने एक ओर जहाँ साहित्यकार को अवसर दिया, वहीं दूसरी ओर हमारी साहित्यिक दृष्टि और सृजनात्मक प्रतिभा में सब-धान-बाईस-पसेरी-पन भी पैदा किया। शेक्सपीयर यदि मात्र अंग्रेज़ी की सेवा के लिए लिखता तो उसकी क्या परिणति होती, यह सोचने की बात है। मैं यह ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि यदि हम उनसे जो 'हिन्दी की सेवा' करते हैं, हिन्दी के साहित्यकार को अलग नहीं करते तो आगे कई वर्षों तक हमारा कृतित्व अधूरा, कैशोर्यग्रस्त और एकांगी रह जायेगा। एक ऐसे वातावरण की आवश्यकता है कि हिन्दी का साहित्यकार अपना सहज बन्धु दैनिक अख़बारों के सम्पादक को, या हिन्दी टेक्स्ट बुक लिखनेवालों, या साहित्य सम्मेलन का उद्‌घाटन करनेवालों को न मानकर तामिल, तेलुगु, बंगाली, मराठी, उर्दू या विदेशी भाषाओं के कृतिकारों को मानें। बहुत स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो हिन्दी के साहित्यकार के सहज बन्धु बर्नार्ड शा अधिक हैं, बाबुराव विष्णु पराड़कर कम। किसी के प्रति अनादर के लिए मैं ऐसा नहीं कहता, साहित्य के प्रति आदर के लिए कहता हूँ।

साहित्यकार अपने युग की विशिष्ट चेतना की अभिव्यक्ति करता है। उस विशिष्ट चेतना की गन्ध उसे अपने चारों ओर के वातावरण में मिलती है। और जहाँ-जहाँ वह चेतना उसके समानधर्मा कृतिकारों को झंकृत करती है, वह सब उसका क्षेत्र है। यह धारणा नयी भले हो, अनुस्वार बन्धु को ठेस भले ही पहुँचाये, किन्तु साहित्येतर मूल्य की प्रतिष्ठा इससे कैसे होती है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

मैंने सोचने की कोशिश की है। यदि मैं प्रतिभा के सम्मान की बात कहता हूँ तो क्यों अनुस्वार बन्धु को नयी पीढ़ी के 'पथभ्रष्ट नवयुवकों' की याद आती है ? इसका उत्तर केवल शायद यही हो सकता है कि उन्हें डर है

कि प्रतिभा की कसौटी पर वृद्ध खोटे उतरेंगे, और यदि खरे उतरेंगे तो शायद ये पथभ्रष्ट नवयुवक। क्या सचमुच ऐसा है? यदि नहीं तो क्यों, आख़िर क्यों......? और यदि ऐसा है तो फिर बहस आगे बन्द हो जाती है। मेरा प्रश्न है कि साधना की लाठी के सहारे खड़े होने की ज़रूरत क्यों पड़ती है? किसे पड़ती है? साधना के नारे को समाप्त कर देने से किसकी हानि होगी? उनकी, जो सचमुच प्रतिभाशील साहित्यकार हैं, चाहे पुरानी पीढ़ी के हों या नयी पीढ़ी के? या उनकी, जो वस्तुतः प्रतिभाशील नहीं हैं, या जिनकी प्रतिभा समाप्त हो चुकी है—और जो अब केवल साधना के नाम पर टिके हैं? या जिनकी प्रतिभा का घेर तो छोटा है, लेकिन साधना ने जिन्हें आवश्यकता से अधिक फुला रखा है? मैं इन प्रश्नों को पूछता हूँ, तटस्थ सत्यान्वेषी की भाँति पूछता हूँ और जो उत्तर मुझे दीखता है, साहित्य में साहित्येतर की प्रतिष्ठा के विरुद्ध ही पड़ता है, पक्ष में नहीं। मैं समझता हूँ कि मुझे अपनी बात खोलकर उदाहरण समेत कहने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ पहुँच कर बात तीसरे और शायद सर्वाधिक विवादपूर्ण निष्कर्ष—साधना के तात्पर्य पर आती है। अनुस्वार बन्धु ने अपने लेख का बड़ा भाग मेरे इस निष्कर्ष के खण्डन में लगाया है। और इसके खण्डन के सिलसिले में जो रीति उन्होंने अपनायी है, उससे मैं चकित रह गया हूँ। मैंने कहा है कि नयी पीढ़ी पर आरोप के सन्दर्भ में साधना के अभाव का कोई अर्थ नहीं है। और अनुस्वार जी इसका खण्डन यों करते हैं कि साधना तो अच्छी चीज़ है। इससे भड़कने की क्या ज़रूरत है? यह कुछ इस प्रकार का तर्क है कि मैं अनुस्वार जी पर आरोप लगाऊँ कि आपको अपना चरित्र सुधारना चाहिए। अनुस्वार जी भड़ककर यह कहें कि इस आरोप का कोई आधार या अर्थ नहीं है। तो मैं कहूँ कि चरित्र तो अच्छी चीज़ है, उसको सुधारने की बात कहने पर भड़कने की क्या ज़रूरत है?

मैं अनुस्वार बन्धु की ईमानदारी पर सन्देह नहीं करता जो सहसा मूल प्रश्न को टालकर अलग तर्क देने की उनकी प्रणाली से भासित हो सकता है। क्योंकि जैसे भी हो, उन्होंने साधना के अर्थ को टटोलने का प्रयास अवश्य किया है। उनके इस प्रयास को सार्थकता की कसौटी पर जाँचने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में उनके दो संकेत हैं और एक स्पष्ट व्याख्या है। एक संकेत यों है: 'एक ही प्रतिभा-सम्पन्न रचयिता की प्रारम्भिक और प्रौढ़ रचनाओं में जो अन्तर होता है, उसका मुख्य कारण यही साधना है।' दूसरा संकेत वहाँ है जहाँ उन्होंने भारती जी का उल्लेख करते हुए कहा है कि प्रयाग

की संस्थाएँ और गोष्ठियाँ मिलकर ऐसे वाचनालय की स्थापना करें जहाँ नये लेखक को देश-विदेश के समसामयिक साहित्य की पूरी जानकारी हो, विश्व भर के अमर ग्रन्थ जहाँ सुलभ हों, ताकि नये लेखक अपने मन को सम्पन्न बना सकें और साधना एवम् मनोयोग से साहित्य-रचना की प्रेरणा पा सकें। तीसरी व्याख्या है, 'साधना का अर्थ है अपने कर्म में पूरे मन से प्रवृत्त रहना, निरन्तर विकास के मार्ग खोजते रहना, प्रत्येक सफलता को अगली सफलता की मंज़िल मानना।' इसके अतिरिक्त एकाध स्थल पर उन्होंने 'सच्ची' साधना का प्रयोग किया है। शायद उनके दिमाग़ में साधना का वर्गीकरण सच्ची और झूठी दो कोटियों में हो। चूँकि इस पर विस्तार से कुछ कहा नहीं गया, अतः इसकी मैं उपेक्षा करता हूँ। वैसे यह वर्गीकरण है बड़ा रोचक।

पहले संकेत को मैं पहले लेता हूँ। साधना को प्रौढ़ता का पर्याय न सही, तो मुख्य कारण अवश्य कहा गया है। प्रौढ़ता दो प्रकार की होती है। एक तो विचारों और युग की प्रौढ़ता, जिस अर्थ में शेली के समस्त काव्य को मानसिक कैशोर्य का काव्य कहा जाता है। उस अर्थ में यह कैशोर्य प्रौढ़ता के अभाव का द्योतक है। इसी अर्थ में विक्टोरियन युग की छिछली भावुकता को भी प्रौढ़ता के अभाव का सूचक माना जाता है। यहाँ व्यक्ति-रूप में शेली या टेनीसन की आयु या कलात्मक सम्पन्नता से तात्पर्य नहीं है। मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध 'क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल एकानामी' की भूमिका में ग्रीक कला और साहित्य को मानवता के शिशुत्व की कला कहा है। और यह विचार व्यक्त किया है कि जिस प्रकार हम प्रौढ़ होने पर अपने शिशुत्व की झाँकियों की ओर आकर्षित होते हैं : शायद उसी प्रकार आज सभ्यता की प्रौढ़ अवस्था में हम ग्रीक कला की ओर आकर्षित होते हैं। इस अर्थ में प्रौढ़ता से तात्पर्य है बौद्धिक जागरूकता, संसार की समस्याओं के प्रति जटिलता और गहराई को जानकारी, जीवन को सरल रेखाओं में बाँटकर सीधे समाधान प्रस्तुत करने की भावुकता से परहेज। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो मैं निस्संकोच कहना चाहूँगा कि समसामयिक पीढ़ी पिछले अस्सी वर्षों के साहित्यिक वातावरण से कहीं अधिक प्रौढ़ और जटिलता के प्रति जागरूक है। सत्य यह है कि नये कवि और नये काव्य पर लगाये जाने वाले आरोपों में बौद्धिकता का आरोप सबसे ऊँचा सुनायी पड़ता है। यह बौद्धिकता और चाहे जो कुछ हो, प्रौढ़ता के अभाव का द्योतक तो नहीं ही है। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले खड़ीबोली का समस्त साहित्य कैशोर्यग्रस्त है तो उसी अर्थ में जिसमें यह उक्ति शेली या टेनीसन के ऊपर लागू की जाती है।

आगे मैं युगों की चेतना की विवेचना में इसकी समुचित व्याख्या करूँगा। सम्प्रति हम यह कह सकते हैं कि किशोर-युग बड़े आदमियों की खोज करता है, प्रौढ़ युग बड़े विचारों की। किशोर-युग आदर्श के प्रभामण्डल की ओर दौड़ता है, प्रौढ़ युग यथार्थ की जटिल सार्थकता की ओर।

स्पष्ट है कि इस अर्थ में प्रौढ़ता का कारण अथवा पर्याय साधना को समझना मानसिक अपरिपक्वता या निरर्थकता का जाल है। एक सरल उदाहरण से यह बात समझ में आ जाती है। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने हिमालय के वैज्ञानिक योगी की जो अद्भुत कल्पनाएँ जोड़ी हैं, वह निश्चय ही मानसिक कैशोर्य की द्योतक हैं। यह कैशोर्य समस्त युग में व्याप्त है। प्रेमचन्द की साधना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आज हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि नयी पीढ़ी का छोटा लेखक भी इस तरह की विचित्र बातें गम्भीरतापूर्वक विश्वास किये जाने के उद्देश्य से कदापि नहीं लिखेगा, क्योंकि आज का युग पिछले युग से अधिक प्रौढ़ है।

कला के क्षेत्र में दूसरी प्रौढ़ता शिल्पगत होती है। इसको परखने की कसौटी कलात्मक सन्तुलन है। यह प्रौढ़ता कृति में परिलक्षित होती है, कृतिकार में नहीं। अतः इसमें भी कृतिकार की साधना का कोई तात्पर्य है, यह समझ में नहीं आता। कम से कम इस शिल्पगत प्रौढ़ता का स्वरूप हमें काल-क्रम में कृतिकार की कृतियों में देखने को मिले, ऐसा तो नहीं ही है। अनुस्वार बन्धु के लिए यह सिद्ध करना कि हर बाद में आने वाली कृति पहले की तुलना में प्रौढ़तर होती है, बड़ा कठिन होगा। 'कायाकल्प' का ही उदाहरण हम लें : क्या अनुस्वार बन्धु कहेंगे कि वह 'सेवासदन' और 'रंगभूमि' से प्रौढ़तर है? मैं इलाचन्द्र जोशी का उदाहरण देकर पूछना चाहूँगा कि 'संन्यासी' और 'सुबह के भूले' में कौन-सी कृति प्रौढ़तर है? वस्तुतः शिल्पगत प्रौढ़ता के सन्दर्भ में बिलकुल रहस्यमय, आत्मपरक तथा अर्थहीन साधना की बात कहना साहित्य की आलोचना में उसी साहित्येतर की स्थापना करना है जिससे बचने की गहरी आवश्यकता अनुस्वार बन्धु महसूस करते हैं। इस स्थिति में साधना की बात वे ही आलोचक या पाठक कर सकते हैं जो साहित्यालोचन और सौन्दर्यशास्त्र से परिचित नहीं हैं और मात्र श्रद्धा के दीपक लेकर आरती उतारने को निकल पड़े हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या शिल्प की इस दृष्टि से नयी पीढ़ी में प्रौढ़ता का अभाव है? क्या प्रतिभा का आग्रह इस प्रौढ़ता की उपलब्धि के लिए एकांगी है? क्या नयी पीढ़ी में इस रहस्यमय साधना की कमी है जो शिल्पगत प्रौढ़ता प्रदान करती है? दूसरे शब्दों में क्या नये कृतिकार शैली और शिल्प

के सन्तुलन की ओर जागरूक हैं ? मैं कहना चाहूँगा कि व्यापक रूप में शैली और शिल्प के प्रति जितनी जागरूकता मुझे आज दिखलायी पड़ती है, उतनी पहले नहीं थी। काव्य में तो अधिक कसाव आता ही जा रहा है, इतना तो सभी मानते हैं। बल्कि कुछ हद तक यह बात शिकायत के लहजे में कही जाती है। किन्तु गद्य की शैली इधर जितनी परिमार्जित और लचीली बनी है, उस ओर लोगों का ध्यान कम गया है। जो भी हो, मूल बात फिर भी ज्यों-की-त्यों है —इसमें साधना नामी वस्तु को घसीट लाने की क्या आवश्यकता है ? क्या सीधे-सीधे शिल्पगत प्रौढ़ता की बात नहीं कही जा सकती ?

अब मैं अनुस्वार जी के दूसरे संकेत की ओर आता हूँ जो उन्होंने भारती जी का उल्लेख कर के किया है। भारती जी की बात को उन्होंने कहाँ तक सच-सच रखा है, इस सम्बन्ध में मैं कुछ कहना नहीं चाहूँगा, क्योंकि मैंने सुना है कि भारती जी स्वयम् इस पर प्रकाश डाल रहे हैं। किन्तु एक बात अवश्य उल्लेखनीय है। 'झंकार' वाले अपने लेख में भारती जी ने कहीं भी 'साधना' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इससे भारती जी का प्रतिवाद करने के अनावश्यक जाल में फँसने से मैं बच जाता हूँ। जो भी हो, अनुस्वार बन्धु ने भारती जी के मुख से जितना उद्धृत किया है, उसे वे अपनी ओर से साधना का पर्याय समझते हैं, इतना तो स्पष्ट है। अतः मैं इसे उनका ही कथ्य मानकर जाँचना चाहता हूँ।

मैं सीधे पूछता हूँ – क्या 'नयी पीढ़ी में साधना के अभाव' का यह तात्पर्य है कि नये लेखक देश-विदेश के समसामयिक साहित्य की पूरी जानकारी नहीं रखते या नहीं रखना चाहते, विश्व भर के अमर ग्रन्थ नहीं पढ़ते या नहीं पढ़ना चाहते ? परोक्षतः अनुस्वार जी यह कहना चाहते हैं कि पिछली पीढ़ी के हिन्दी लेखकों का विशेष गुण यही था या है कि वे देश-विदेश के समसामयिक साहित्य की पूरी जानकारी रखते हैं और रखना चाहते हैं; विश्व भर के अमर ग्रन्थ पढ़ते हैं या पढ़ना चाहते हैं ? मात्र तथ्य की दृष्टि से यह आरोप कसा है और उसकी छानबीन हमें किस ओर ले जायेगी—उसके स्पष्टवादी उत्तर की कल्पना करके ही मैं काँप जाता हूँ। मैं चाहता हूँ कि अनुस्वार बन्धु उसका उत्तर स्वयम् सोचें और उतनी बड़ी बात करने के पहले अपने कथन की सीमा समझ लें। इससे अधिक कहने का साहस मुझमें नहीं है।

एक उदाहरण देना चाहूँगा। हिन्दी के एक शीर्षस्थ आलोचक ने, जो इतने शीर्षस्थ हैं कि उनका नाम लेना ख़तरे से ख़ाली नहीं है, हिन्दी साहित्य के इतिहास पर एक पुस्तक लिखी है। तिलिस्मी उपन्यासों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि उनमें एक लखलखा नाम की वस्तु होती है जिसे सूँघने से

आदमी बेहोश हो जाता है। आगे वे एक सुन्दर रूपक की रचना करके कहते हैं कि हिन्दी साहित्य के इस लखलखे ने बहुत दिन तक पाठकों को बेहोश रखा। जिस व्यक्ति ने एक बार भी तिलिस्मी उपन्यास पढ़े होंगे, उसे ज्ञात होगा कि लखलखा का प्रयोग बिलकुल विपरीत क्रिया बेहोशी से होश में लाने के लिए होता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अपनी भाषा के सम्बन्ध में भी अध्ययन के उपरान्त ही कुछ कहना और जिस क्षेत्र में अध्ययन न हो, उस पर चुप रहना या अज्ञान स्वीकार करना पुरानी पीढ़ी का विशेष गुण नहीं रहा है। और इसीलिए मैं कहता हूँ कि असहमत और अप्रभावित होने के लिए हमें उस पीढ़ी के निकृष्ट की ओर नहीं जाना होगा, उत्कृष्ट कहे जाने वाले में ही ढेर की ढेर सामग्री मिल जायेगी।

सौभाग्य से व्यक्तियों की अध्ययन-सम्बन्धी उपलब्धियों और अभावों की चर्चा बिना ही मूल्यों और युगों के बीच साहित्यिक आग्रह के विश्लेषण के आधार पर भी हम अपना अन्वेषण आगे बढ़ा सकते हैं। मोटे तौर से अनुस्वार जी का संकेत है कि साधना का अर्थ है अध्ययन और अध्यवसाय। इसमें यह भी धारणा निहित है कि इस अध्ययन और अध्यवसाय की छाप हमारे कलात्मक सृजन पर पड़नी चाहिए।

मैं कहना चाहता हूँ कि सत्याग्रह-युग की जिन मान्यताओं के बीच से हमारी पीढ़ी गुज़री है, उसमें अध्ययन और अध्यवसाय मानवीय व्यक्तित्व के आवश्यक गुण नहीं थे। यह एक नया आग्रह है जो बिलकुल नयी पीढ़ी का दिया हुआ है। स्वयम् अनुस्वार बन्धु इस नये आग्रह द्वारा साधना को सार्थकता देना चाहते हैं; इसी से स्पष्ट है कि नये मूल्यों का जादू कितने ज़ोरों से सिर पर चढ़कर बोलता है। पुरानी पीढ़ी ने तो पाश्चात्य के बहिष्कार के नाम पर देश-विदेश के समसामयिक साहित्य का मुँह काला कर देशनिकाला ही कर दिया था। क्या इसे कहने की आवश्यकता है कि शेखर और भुवन नये युग के चरित्र हैं, प्रेमचन्द के होरी और सूरदास नहीं, जो अध्ययन और अध्यवसाय से कोसों दूर हैं?

जी नहीं, पुरानी पीढ़ी के आदर्शों में त्याग, तपस्या, कर्मठता, दृढ़ता जो गुण आप चाहें गिनायें, अध्ययन और अध्यवसाय उस सूची में नहीं आयेंगे। बड़ा साहस करके जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल' में एक विजय उत्पन्न किया, लेकिन बेचारा युग के उस अंधड़ में किस तरह कुत्ते की मौत मरा! उन्होंने एक मनु को जन्म दिया जो हिमालय में जाकर 'साधनारत' हो गया। वस्तुतः पिछली पीढ़ी क़बीर के—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ा सो पण्डित होय ।।

के अधिक निकट है, तुलसीदास के 'निगमागम पुराण' के कम। इस सिलसिले में एक बात कहना चाहूँगा। अध्ययन और अध्यवसाय के प्रति हमारे देश में अतीत काल से लगभग दो दृष्टियाँ चली आती हैं। दोनों में कभी एक ऊपर हुई, कभी दूसरी। जो साधनावादी रहे हैं, उन्होंने पुस्तकों और पोथियों को गौण समझा है। जो अध्ययनवादी रहे हैं, उन्होंने पाण्डित्य को प्रथम महत्त्व दिया। दुर्भाग्य से पोथीवादियों में अधिकतर सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियात्मक रहे हैं और पोथा-बिरोधी अधिकतर सामाजिक विद्रोह और समानता के अगुआ। एकाध बार जब दोनों धाराएँ मिली हैं, तब वेग से प्रगति हुई। किन्तु फिर विच्छिन्नता आ गयी। परिणाम यह हुआ कि विद्रोह अज्ञान और अन्धविश्वास में खो गया और पण्डित वर्ग और जाति के कटघरों में। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर थोड़ी देर के लिए यह सामंजस्य उत्पन्न हुआ। लेकिन सत्याग्रह की आँधी में तितर-बितर हो गया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नयी पीढ़ी फिर उस दायित्व का अनुभव कर रही है, यह उसके पक्ष में एक बात है। लेकिन आवश्यकता है कि सचेत होकर वह इस दायित्व के परिणामों को सोचे। जो रहस्यमय है, भ्रामक है, निरर्थक है, उसकी तीक्ष्ण विवेचना कर उसे अनावश्यक केंचुल समझकर त्याग दे। और मेरा निश्चित विश्वास है कि 'साधना' का थोथा नारा ऐसा ही एक निरर्थक भ्रमजाल है जिसमें एक सीमा तक अध्ययन का निषेध निहित है, बन्धु अनुस्वार चाहे जितना भी दोनों की चूल बैठाने की कोशिश करें।

एक रोचक घटना से इस विषय पर काफ़ी प्रकाश पड़ेगा। पिछले वर्ष प्रयाग में परिमल के एक आयोजन में दिनकरजी पधारे। चूंकि अनुस्वार बन्धु को प्रयाग से निकलने वाली झंकार नामक लगभग गुमनाम पत्रिका तक की जानकारी है, अतः मैं मान लेता हूँ कि उन्हें उस आयोजन का भी ज्ञान होगा। दिनकरजी ने अपने सभापति पद के भाषण में प्रयाग की नयी पीढ़ी को सम्बोधित करके बड़े गरिमामय शब्दों में कहा था कि साहित्य विश्वविद्यालयों और पुस्तकालयों में खेला जाने वाला बैडमिंटन का खेल नहीं है, इसके लिए साधना करनी पड़ती है, जीवन में उतरना पड़ता है। दिनकरजी का जो भी आशय रहा हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि उनकी कल्पना में साधना और विश्वविद्यालय एवं पुस्तकालय दो नितान्त और असंगत और विरोधी वस्तुएँ हैं, उनके जीवन की परिभाषा में और कुछ जो भी हो अध्ययन और

अध्यवसाय का दर्शन दूर तक नहीं होता। और मेरा पूर्ण विश्वास है कि दिनकरजी अपनी पीढ़ी की भाषा अनुस्वार बन्धु से बेहतर तौर पर समझते हैं।

वस्तुतः साधना का तात्पर्य न प्रौढ़ता है और न अध्ययन एवं अध्यवसाय। क्योंकि फिर वही प्रश्न उठता है कि जो आशय नयी पीढ़ी का लेखक धर्मवीर भारती देश-विदेश के साहित्य की पूरी जानकारी जैसे प्रहेलिका और कुहेलिका-विहीन शब्दों में व्यक्त करना चाहता है उसके लिए साधना नाम के वायवी और निराधार रहस्यवादी शब्द का प्रयोग पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार क्यों करते हैं? इसका उत्तर बिलकुल स्पष्ट है। साधना शब्द कुछ ऐसे अर्थ अभिव्यंजित करता है जिसको पकड़ना कठिन है, लेकिन जो परोक्षतः कालान्तर—सिर्फ़ लम्बी उम्र की प्रतिष्ठा को स्थापित करते हैं। अभी हाल में ही 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में बाबू गुलाबराय का एक प्रकाशित पत्र देखा। उसमें उन्होंने 'साधना' शब्द का प्रयोग किया है। उनका वाक्य कुछ इस प्रकार है: 'चतुर्वेदी जी की कृपा मुझ पर हो इसके लिए शायद अभी मुझे इकतीस वर्ष तक और साधना करनी पड़ेगी।' इकतीस बरस—इस परिमाण पर ध्यान दीजिये। साधना की नाप देश-विदेश के साहित्य की जानकारी में नहीं है—बरसों में है। और वस्तुतः साधना के साथ यही नाप चलती भी है—बीस बरसों की, पचीस वर्षों की, या चालीस बरसों की साधना! इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि बीस देशों की, पचीस देशों की या चालीस देशों के साहित्य की जानकारी।

अब हम अनुस्वार बन्धु की व्याख्या की ओर देखें तो बिलकुल स्पष्ट हो जायेगा कि इस सारे भ्रमजाल के भीतर कौन-सा अर्थ झाँक रहा है, 'साधना का अर्थ है अपने कर्म में पूरे मन से प्रवृत्त रहना, निरन्तर विकास के मार्ग खोजते रहना, प्रत्येक सफलता को अगली सफलता की मंज़िल मानना।' और इसकी नाप होती है बरसों में। क्योंकि इसके अतिरिक्त और कौन-सा ढंग है जिससे दो साहित्यकारों के बीच या दो पीढ़ियों के बीच कहा जा सके कि कौन अपने कर्म में अधिक पूरे मन से प्रवृत्त रहा है। और जब पुरानी पीढ़ी नये साहित्यकार को कहती है कि तुममें साधना की कमी है तो इससे क्या भासित होता है? तुम अपने कर्म से पूरे मन से प्रवृत्त नहीं रहे हो, तुमने निरन्तर विकास का मार्ग नहीं खोजा है, तुमने प्रत्येक सफलता को अगली सफलता की मंज़िल नहीं माना है, अर्थात् तुम्हारा सबसे बड़ा दोष है कि तुम आरम्भ कर रहे हो और हमारी सबसे बड़ी विशेषता है कि हम समाप्त कर चुके हैं! और बिलकुल यही बात मैंने अपने पत्र में कही है:

"लेकिन यह साधना क्या है ? योगाभ्यास तो नहीं है। फिर क्या वर्षों का अनवरत परिश्रम और जीवन का अवलोकन है ? शायद हाँ। तो फिर इसका सीधा अर्थ यह तो नहीं है कि मेरे बाल सफ़ेद नहीं हो गये ? मुझे संदेह होता है कि यह नारा सबसे अधिक घातक और हर उगती हुई प्रतिभा के लिए ख़तरनाक है। संसार के साहित्य की ओर दृष्टिपात करता हूँ कि उत्कृष्ट साहित्य-सृजन की औसत आयु चालीस वर्ष से नीचे ही रही है तो सोचता हूँ कि साधना के नाम पर बूढ़ों का यह षड्यन्त्र हिन्दी में ही क्यों है, और कब तक चलता रहेगा ?"

मुझे स्पष्ट दीख रहा है कि अनुस्वार बन्धु ने मेरी मुख्य स्थापना के विरुद्ध कोई अकाट्य प्रमाण नहीं उपस्थित किया है, और बहुत कुछ सोचने के बावजूद भी साहित्य में साधना का क्या अर्थ है—मैं नहीं समझ पाया हूँ और जो कुछ समझ पाता हूँ, वह साहित्येतर ही दीखता है। बन्धु अनुस्वार एक अर्थहीन स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि नयी पीढ़ी के लेखकों में सबसे बड़ी कमी यह है कि वे भविष्य में लिखते नहीं रहेंगे कि वे अपनी एक सफलता को अगली सफलता की मंजिल नहीं मानेंगे कि आगे वे अपने विकास का मार्ग नहीं खोजेंगे। यह महत्त्वपूर्ण और रोचक विश्वास किस सूचना पर आधारित है, यह तो वही जानें, किन्तु भविष्यवाणी पर नयी पीढ़ी का मूल्यांकन करना, बन्धु अनुस्वार को वकील का पूर्वग्रह न लगता हो, मुझे तो अवश्य लगता है। फिर भी वे आरोप मुझ पर लगाते हैं कि मेरी दृष्टि तटस्थ सत्यान्वेषी की नहीं है।

इस 'साधना' का कुहासा से भरा हुआ क्षितिज कहाँ तक फैला हुआ है, यह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के उद्धरणों से जान पड़ेगा। ये उद्धरण उनकी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी से लिये गये हैं :

"यहाँ हम काव्य-साधना की बात कह रहे हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सालाना गद्दियों के लिए जो साधनाएँ की जाती हैं, यहाँ उन पर विचार नहीं किया जा रहा है। इस प्रसंग में हम उस साधना का उल्लेख कर रहे हैं जो हिन्दी की मरुभूमि में अन्तःसलिला की भाँति बहती, शुष्क जीवन को प्रसन्न बनाती है। यह साधना कोरी भावुकता के बल पर नहीं जीती, यह एक प्रकार का कर्मयोग है जिसमें भावना का मणिकांचन मेल मिला रहता है। यह जीवन का अन्तर्मुखी प्रवाह है जो संसार की आँखों की ओट ही रहना चाहता है। डॉक्टर सुहरावर्दी ने बंगाल के मुसलमानों को सचेत करते हुए कहा था कि यहाँ के हिन्दू रात-रात भर सरस्वती की आराधना करके बड़े

हुए हैं, तुम्हारी तरह सो-सोकर नहीं। यहाँ हम जिस साधना का उल्लेख कर रहे हैं, वह ऐसी ही है।" (पृष्ठ ३१)

एक अन्य स्थान पर :

"हमारे वेद दिव्य ज्ञान की लिखित प्रतिकृति हैं, हमारा समाज आदि से ही ऋषियों और ज्ञानियों की साधना रहा है, हमारे कवि सदा से इस दिव्य भावना का साक्षात्कार करते आये हैं और तन्मय होते आये हैं।" (पृष्ठ ३१)

बन्धु अनुस्वार से निवेदन है कि वे निरर्थकता और अयथार्थता के इस ऐन्द्रजालिक क्षितिज को तोड़ सकें तो तोड़ें, ताकि 'मैं भी देख लूं—उस पार क्या है।'

अन्त में एक बात और कहकर 'साधना' की इस विवेचना को समाप्त करना चाहूँगा। वस्तुतः साधना शब्द रहस्यवाद की देन है। जब हम साहित्यकार या कवि को ऋषि, ब्रह्मवेत्ता, स्वयम्भू, दैवी प्राणी मानते हैं तभी हम कला और कलात्मक प्रक्रिया को रहस्य के कुहासे में ढँकना प्रारम्भ करते हैं। कला-सृजन अथवा रचना, प्रक्रिया में साधना की रहस्यवादी कल्पना उस युग की सम्पूर्ण साहित्यिक दृष्टि का अंग है जिसे छोड़कर हम आगे बढ़ आये हैं। साहित्यकार न ऋषि है और न स्वयम्भू और न दैवी प्राणी है। वह एक साधारण, ठोस, अनुभूतिप्रवण मनुष्य है जो अपने व्यक्तित्व द्वारा अपने युग की विशिष्ट चेतना की उपलब्धि करता है। आज साधना की रहस्यमयी आभा ठोस व्यक्तित्व के धरातल पर आकर आलोकविहीन हो गयी है, उसकी जादूगरी जाती रही है। यह इसका एक और प्रमाण है कि युग बदल गया है। चकाचौंध जाती रही है, रहस्य का स्थान प्रखर बौद्धिक जिज्ञासा ने ले लिया है।

Whither is fled the visionary gleam
Where is it now, the glory and the dream ?

यदि हम कवि को मन्त्रद्रष्टा न मानकर यथार्थ के अप्रासंगिक अनुभवों के बीच तारतम्य खोजने वाला प्राणी मानते हैं, यदि हम रहस्यवाद को मानसिक कैशोर्य समझकर उसका परित्याग करते हैं तो हमें उस शब्दावली का मोह भी छोड़ना पड़ेगा। यह 'साधना' नामी शब्द अच्छे से अच्छे अर्थ में हमारे साहित्यिक कैशोर्य का भावुक और बुरे से बुरे अर्थ में कुत्सित शब्द है। यदि हमारा तात्पर्य प्रौढ़ता है तो हम प्रौढ़ता ही कहें, अध्ययन है तो अध्ययन ही कहें—कम से कम हम सार्थक शब्दावली का तो प्रयोग करेंगे।

अब मैं अपने पहले निष्कर्ष—पिछली पीढ़ी के स्खलन की बात पर आता हूँ। साधना के इस विवेचन को ध्यान में रखना इसलिए आवश्यक है कि एक समय था जब इसी शब्द ने बहुतों को त्याग और कष्ट सहने की शक्ति दी थी। लेकिन परिवर्तित काल में यह शब्द पिछली पीढ़ी के स्खलन को रोकने में उतना ही अशक्त सिद्ध हुआ जितना राजनीति के क्षेत्र में देशप्रेम की कल्पना ऐश्वर्य की होड़ को रोकने में।

पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार विचलित हो गये हैं, यह मेरे क्षोभ का एक पक्ष है। लेकिन मूल प्रश्न यह है कि वे स्वयम् इस पर क्षुब्ध नहीं हैं। यही नहीं, वे उस क्षोभ को समझने के लिए भी तैयार नहीं हैं जो नयी पीढ़ी इस विषय में अनुभव करती है। मैंने अपने पत्र में Poet Laureate वाली ख़बर का उल्लेल किया था। सबसे अधिक मानसिक धक्के की बात यह थी कि किसी को इस प्रकार की योजनाओं से विरक्ति न हो। अभी आजकल ख़बर गर्म है कि उत्तर प्रदेश सरकार साहित्यकारों का एक 'सेमिनार' करने जा रही है। हवा के ये तिनके किस प्रकार के भविष्य का संकेत देते हैं, यह सोच कर मन ग्लानि से भर जाता है और जब मैं देखता हूँ कि इस ग्लानि में वे लोग शामिल नहीं हैं, जिन्हें अनुस्वार बन्धु वयोवृद्ध कहते हैं तो मैं समझता हूँ कि इस वातावरण की बौद्धिक रिक्तता केवल उस स्थल से दिखलायी पड़ती है जहाँ में खड़ा हूँ और इसकी पूर्ण छवि में कुछ ऐसा है जो केवल वयोवृद्धों तक सीमित है।

यह तर्क कि सारा देश झूठे सम्मान और मुद्रा-प्राप्ति के लोभ में आत्म-सम्मान बेचने पर तुला हुआ है, अतः साहित्यकार भी ऐसा ही करे, मेरी बुद्धि में नहीं आता। साथ ही प्रश्न यह है कि क्या सचमुच वे उस सम्मान को झूठा मानते हैं ? क्या सचमुच कवि और उसके वातावरण के सम्बन्ध में नयी-पुरानी दृष्टियाँ एक-सी हैं ? यहीं हम फिर मूल्यों और प्रतिमानों के विश्लेषण की ओर लौटते हैं। अच्छा भी है। क्योंकि व्यक्तियों की चर्चा ख़तरनाक है और नयों में झूठे दर्प की भावना उत्पन्न करेगी जो मेरा उद्देश्य कदापि नहीं है। जब मैं दो युगों और दो पीढ़ियों की तुलना करता हूँ तो मेरा उद्देश्य व्यक्तियों के चरित्र और उनकी उपलब्धियों की नहीं, बल्कि उन आग्रहों की छानबीन करना है जो चरित्र और उपलब्धि को दिशा देते हैं।

इस त्रास और कायरता के वातावरण को पहचानने और उससे बचने की आवश्यकता हमारी मान्यता है। जो पाँत गयी सो गयी, जो बच गये हैं (अवसर के अभाव के कारण ही सही) वे ललचाई आँखों से किरीट-कुण्डल की ओर न देखें और वंचित होने को दैवी सुरक्षा और सौभाग्य की बात समझें। इस-

लिए आवश्यक है कि इस किरीट-कुण्डल के झूठे मुलम्मे को उधेड़कर उसके खोटेपन को पहचनवा दिया जाय। कहा गया है कि नयी पीढ़ी भी इस पतन से प्रभावित है। क्या बन्धु अनुस्वार गम्भीरतापूर्वक इसको तर्क रूप में पुरानी पीढ़ी के पक्ष में प्रस्तुत करना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो फिर कमाल का 'ठण्डा लहू' है।

सौभाग्य से नयी पीढ़ी के लिए यह बात उतनी व्यापक नहीं है। लेकिन इससे मेरे क्षोभ की आवश्यकता कम कैसे हो जाती है ? जीविका के लिए सरकारी नौकरी करना और मन्त्रियों की कृपा को साहित्यिक सम्मान का साधन समझना, ये दो बिलकुल भिन्न बातें हैं। मन्त्रियों की यह कृपा कितने रूपों और रास्तों से आज साहित्यिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो रही है, इसे सब जानते हैं। इसका शिकार नयी पीढ़ी के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ये ज़हरीले बादल चोटियों पर बरसने वाले हैं।

पुरानी पीढ़ी का एक बड़ा उत्तरदायित्व था। इसलिए कि वे युग के प्रतिनिधि थे। वे अगुआ थे। हमारे सम्मान और प्रेरणा के स्रोत थे। सेनानी जनरलों ने हथियार डाल दिये और बन्धु अनुस्वार मेरे क्षोभ को यह कहकर कम करना चाहते हैं कि उनका दोष नहीं था, कुछ सिपाहियों ने भी तो आत्मसमर्पण किया है। मज़ा यह है कि वे जनरल उन सिपाहियों की ओर देखकर, जिन्होंने आत्मसमर्पण नहीं किया है, बड़े आक्रोध से चीखते हैं, "तुम सब आत्मलीन हो, अहम्वादी हो, असामाजिक हो !" क्या बन्धु अनुस्वार इस चीख को भी नहीं सुनते ?

सत्य यह है कि दो महायुद्धों के बीच जिन मान्यताओं और व्यावहारिक परिस्थितियों से पिछली पीढ़ी गुज़री है, उसमें वे कण मौजूद थे जिन्होंने आज की स्थिति उत्पन्न की है।

अनुस्वार बन्धु ने आज की पीढ़ी में गोष्ठियों के दलदल का उल्लेख किया है। एक युग के उत्कृष्ट की दूसरे के निकृष्ट से तुलना करना कोई तुलना नहीं है। युगों का अन्तर हम तभी जान सकते हैं जब दोनों के उत्कृष्ट की और दोनों के निकृष्ट की तुलना की जाय। इस दृष्टि से गोष्ठियों की चर्चा बड़े महत्त्व की है और मैं बन्धु अनुस्वार का अभारी हूँ कि उन्होंने मुझे इस ओर सोचने की प्रेरणा दी। गोष्ठियाँ, साहित्यिकों के गिरोह, अड्डे या सम्प्रदाय, जो भी कह लीजिये, सदा से सभी देशों के साहित्य में होते आये हैं। वे अपने युग की साहित्यिक उदात्तता और लुच्चेपन, विचार-मन्थन और मूढ़ता, आस्था और फ़ैशन, उदारता और कमीनेपन का 'टिपिकल' उदाहरण प्रस्तुत

करते हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में अपने युग की टिपिकल गोष्ठी का चित्र खींचकर मेरे जैसे साहित्य से अधिक साहित्यिक वातावरण-प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। उसमें हम क्या पाते हैं। एक रईस पेट्रन या अर्धपेट्रन है (जिनको उस युग की भाषा में साहित्यानुरागी कहा जाता था) और उनके चारों तरफ़ साहित्यकार एकत्र होते हैं। प्रकृत रूप में उन गोष्ठियों की आत्मा श्रद्धा होती थी और आपसी सम्बन्ध गौरव-क्रम पर आधारित होते थे। युग-परिवर्तन ने रबर लेकर पेन्सिल से लिखे हुए अक्षरों की भाँति इन रईस साहित्यानुरागियों को साहित्यिक पृष्ठ से मिटा दिया। आज की गोष्ठियाँ साहित्यिक क्लब के रूप में चलती हैं और आपसी सम्बन्ध साम्य पर आधारित होते हैं। हमको उनका विकृत रूप दरबार-जैसा दिखता है। उनको हमारा विकृत रूप गुटबन्दी जैसा-दिखता होगा। हमको साहित्यिक पेट्रनेज से जघन्य कुछ दूसरा नहीं लगता। उनको गुटबन्दी से बड़ी उच्छृंखलता नहीं जान पड़ती होगी। पिछली होली में लखनऊ में श्री भगवतीचरण वर्मा से समकालीन साहित्यिक वातावरण और साहित्यिक धाराओं पर कई घण्टे बड़ी रोचक बातचीत हुई। उनको यह बात बहुत "शॉकिंग" लगती है कि कुछ साहित्यिक मिलकर पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपनी रुचि और मान्यताओं के अनुकूल एक 'नयी कविता' जैसी पत्रिका निकालें। उनको इसमें दलबन्दी की गन्ध दिखायी पड़ती है। मुझको यह बात शॉकिंग लगती है कि कुछ साहित्यिक मिलकर मन्त्रियों के पेट्रनेज में लेखकों का सेमिनार आयोजित करें। दूर भविष्य के शिखर पर बैठा हुआ मनु देख रहा होगा कि जिन दो आलोक-पिण्डों में भगवती बाबू और मैं खड़ा हूँ, वे एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। साहित्यिक वातावरण में किस रोग से मैं चिन्तित नहीं होता और किस रोग से वे चिन्तित नहीं होते, इससे बन्धु अनुस्वार को स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'स्वस्थ' की परिभाषा बदल गयी है।

मैं कह चुका हूँ कि साहित्यकार अपने युग की विशिष्ट चेतना या अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है। यह पीढ़ी की पीढ़ी जिस विचित्र युग से गुजरी है, वह हीरो बनाने और हीरो पूजने का युग था। सुनता हूँ जब किसी ज़माने में तिलक महाराज इलाहाबाद आये थे तो लोगों ने जगन्नाथ की तरह कन्धा लगाकर उनका रथ खींचा था। आज मुझको न केवल यह अजीब लगता है, बल्कि निश्चय ही मानव-गरिमा के विरुद्ध भी जान पड़ता है। आज भी पण्डितों को एकत्र होकर राजर्षि-ब्रह्मर्षि, बोलन्द-बद्रीनाथ या महाराज दशरथ की उपाधि देते देखता हूँ। कुतूहल और कुछ-कुछ विरक्ति होती है। यह भी देखता हूँ कि तमाम कोशिशों के बावजूद भी ये उपाधियाँ नाम-

धारियों से चपक नहीं पातीं। सूखे आटे की तरह पपड़ी पड़कर छूट जाती हैं। लेकिन जानता हूँ कि अभी-अभी एक युग गुज़रा है जिसमें महामना, महामान्य, दीनबन्धु, देशबन्धु आदि की भरमार थी। आकाश के सितारे धरती के आसपास मँडराते फिरते थे। जिसने ज़रा हाथ ऊँचा किया, एक तारा तोड़कर मस्तक पर धारण कर लिया और चक्रवर्ती हो गया। आज के युग में बहुत घटाकर कहूँ, तो यह सब बड़ा 'सिली' लगता है।

इस विशेष चेतना में छायावादी कवि प्रवेश करता है। युग ने अपने चरणों की धूल उसके मस्तक पर लगा दी और देखते-देखते कवि समाज-सुधारक से हीरो बन गया। भव्यता और वैभव उसका आदर्श बन गया। दुन्दुभी, जयध्वनि, राजकवि, जन-रव, मंगल-कलश, तोरण, पताका, ये सब उसके संगी-साथी हो गये। वह तूफ़ान के साथ उड़ता है, बिजली की तरह हँसता है, बादलों की तरह रोता है, दुःखी भी होता है तो घोषणा करके··· 'ओ अनन्त की नीहारिकाओ ठहर जाओ, अब माबदौलत दुःखी होना फ़रमाते हैं।' वह प्यार करता है तो अनन्त से, जागता है तो सिंह की भाँति, खड़ा होता है तो हिमालय की तरह, शस्त्र-समर्पण भी करता है तो यों कि 'सिंहों का समूह दिये देता है नखदन्त आज अपना!' संसार का सारा व्यापार उसको बड़ा महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ता है, बड़ा अद्भुत, बड़ा चटकीला। बच्चे की तरह वह हर तारे को देखता है और ताली बजाकर किलकता है—

Twinkle, twlnkle, little star,
How I wonder what you are!

इस दृष्टिकोण को छायावाद की भाषा में 'अद्भुत का अभ्युत्थान' कहते हैं। वस्तुतः छायावादी कवि प्रिय के प्रेम में उतना पागल नहीं है जितना कि प्रेम के प्रेम में।

हीरो कवि को यथार्थ का पहला धक्का जब लगा तो वह विद्रोही हो गया। अब वह अपना ही हीरो बनेगा। उसे किसी की चिंता नहीं है। वह दीवाना है, फक्कड़ है, मस्त है, जवान है, मौजी है, हीरो है। अब वह एक, कम से कम एक, प्रेमिका की खोज में लगा है। कातर स्वर में गिड़गिड़ाता है—इतनी ममतामय दुनिया में मैं ही केवल अनचाहा हूँ। तुम मेरा गान गा दो तो मैं हीरो बन जाऊँ। तुम्हीं से मुझे आशा है कि मरने के बाद पीनेवालों को बुलवाकर मधुशाला खुलवा दोगी। जशन-जलूस रहेगा। कुछ लोग तो मुझे याद करेंगे। हीरो का विशालकाय शरीर पिघलता जा रहा है, लेकिन जलूस का अरमान नहीं गया।

फिर प्रगतिवादी आये। प्रगतिवाद पिघलते हुए हीरो की आख़िरी छटपटाहट है। बड़े नाटकीय ढंग से वह अपनी प्रेमिका से विदा लेकर समरांगण की ओर दौड़ता है, क्योंकि उसे विश्वास नहीं है कि प्रेमिका जलूस इकट्ठा करने में सफल होगी। एक विचित्र ज्वर से आक्रान्त वह बाहर आता है। उसका चेहरा तमतमाया हुआ है, भुजदण्ड फड़क रहे हैं, नसें उभर आयी हैं, वह चीखता है, चिल्लाता है, उछलता है, कूदता है—वह हीरो है! यह वही छायावाद का हीरो है, केवल बौना हो गया है। ऊँचा दिखने के लिए बैसाखियों पर सवार है। सबके ऊपर सुनायी पड़ने के लिए गला फाड़कर बोलता है। भव्यता का अरमान अभी भी ज़ोर मार रहा है। छायावादी हीरो की इस नाटकीय परिवर्तन की विशिष्ट अनुभूति जगदीशचन्द्र माथुर के एकांकी 'भोर का तारा' में बड़े मार्मिक ढंग से हुई है। उस युग को समझने के लिए उस एकांकी को अवश्य पढ़ना चाहिए।

लेकिन प्रगतिवाद के सन्निपात से ग्रस्त होकर सत्याग्रह-युग के हीरो ने दम तोड़ दिया। एक विश्वव्यापी युद्ध हुआ। नयी पीढ़ी द्वारा आयोजित १९४२ की 'लघु क्रान्ति' हुई। भारत आज़ाद हुआ। इस तेहरी आँच में पक कर नयी पीढ़ी निकली। आज़ाद हिन्द फ़ौज के रूप में हीरोवाद का दीपक अपनी आख़िरी और सबसे चमकीली लौ फेंककर बुझ गया। नयी पीढ़ी ने आँखें घुमाकर देखा। कुछ हँसी आयी, कुछ दर्द उभरा, सचमुच जो युग अभी अभी गुज़रा है, वह बड़ा ही विचित्र था।

पता नहीं कि यह भारत की ही विशेषता थी या सारी दुनिया में ही यह हीरो बनाने वाली नैसर्गिक वायु बह रही थी क्योंकि पश्चिम ने भी हीरो पैदा किये। हिटलर, मुसोलिनी, लेनिन, स्टैलिन; अत्यन्त अनास्थावान इंगलैण्ड ने भी चर्चिल और अमेरिका ने रूज़वेल्ट। लड़ाई ख़तम होते ही इंगलैण्ड ने चर्चिल को समाप्त कर दिया, क्योंकि इंगलैण्ड प्रौढ़ों का देश है। हिटलर मुसोलिनी और तोजो गये—हीरो की नहीं, युद्ध-अपराधी की मौत! और बीसवीं शताब्दी के अन्तिम हीरो स्टैलिन का मुलम्मा उतरते हम अपनी आँखों से देख रहे हैं।

यदि मैं एक शब्द से नये युग और नयी पीढ़ी की मानसिक वृत्ति को प्रकट करूँ तो उसे हीरो-विरोधी (Anti-heroic) का नाम दे सकता हूँ। जिस मोहभंग की अवस्था से हम गुज़र रहे हैं, वह मूलतः हीरो और हीरो-वाद के प्रति चरम विरक्ति का द्योतक है। यह अलग बात है कि सब इस नये टेम्पर का अभिज्ञान और विश्लेषण न कर पाते हों। यह हमारे अनुस्वार

बन्धु जैसे आलोचक का काम है। किन्तु यह टेम्पर व्याप्त है और समकालीन साहित्य की विशिष्ट अनुभूति के रूप में स्पष्ट होता जा रहा है।

सब से पहले यह टेम्पर काव्य में व्यक्त हुआ। यह जो हम नयी कविता देखते हैं, वह बड़े वातावरण में बड़े आदमी की कविता न होकर 'छोटे वातावरण में बड़े आदमी' की कविता है। उन कवियों ने जिन्होंने 'आध्यात्मिक महाजनत्व' का लबादा न ओढ़कर अपने को 'राहों का अन्वेषी' कहकर आरम्भ किया, जाने-अनजाने एक नये प्रकार की कवि की उद्‌भावना की—जो साधारण मनुष्य है और एक-एक छोटी इकाई के रूप में संसार में जूझ रहा है। और कविता उसके लिए अपनी चरम नगण्यता में जीवन से सार्थक सम्बन्ध स्थापित करने का पीड़ामय बौद्धिक प्रयास है। पहली बार कविता आत्मीयता, ममत्व और साधारण मनुष्य की वाणी हुई। यह ज्ञान कि वह हीरो नहीं है, न उसके पास 'महाजन गमनोचित सम्बल है, न रथ है', न इन महाजन से पथ का निर्देश हो सकता है, उसे पहली बार और सम्पूर्णतः हुआ। साथ ही यह भी कि कोई हीरो नहीं है। हीरोवाद मूलतः एक कपटपूर्ण मिथ्या आडम्बर है। जितना ही नया कवि ईमानदार होने का प्रयास करता है, उतना ही इन महाजन-मूर्तियों को खण्डित करने की विवशता उसे घेरती जाती है। व्यवहार में जितने अंश तक वह महाजन-मूर्तियों का निर्माण करेगा उसी अंश तक बेईमानी का वह दोषी होगा।

कितनी गहराई से यह भावना नयी पीढ़ी के मानस में भरती जा रही है, इसका ताज़ा सबूत रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में मिलता है। इस उपन्यास के साथ सबसे रोचक व्यंग्य यह हुआ है कि इसको जल्दी-जल्दी में प्रेमचन्द की परम्परा में कहा गया है। 'मैला आँचल' में एक चरित्र है बावनदास। रेणु की विचित्र ही कृति है वह, हीरोइक रिडिकुलस, पैथटिक। इस अदम्य साहसी, निपट आस्थावान, आन्तरिक उत्स के साथ सत्य को पकड़कर सब कुछ की बाज़ी लगाने वाले चिरन्तन सत्याग्रही, निष्कलुष अनपढ़ के पीछे प्रेमचन्द का कौन-सा चरित्र झाँक रहा है? ज़रा ध्यान से देखिये। शायद शक्ल पहचानी लग रही है। जी हाँ, वह रंगभूमि का सूरदास है। केवल बौना, करुण और दयनीय हो गया है।

एक और विराट् मूर्ति खण्डित हो गयी है और जैसे युग-परिवर्तन के व्यंग्य को पूरा करने के लिए नयी पीढ़ी का लेखक रेणु उसे शहीद कर देता है। उसकी समाधि पर चीथड़ों का मेला लगवाता है और मुझे अनायास ही सत्याग्रह युग की वे झंकृत कर देनेवाली पंक्तियाँ याद आती हैं, वह भव्य

सपना याद आता है जिसने कितने वीर लाडले पैदा किये, कितनी वीर पूजाएँ पैदा कीं—

शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले !
वतन पर मिटनेवालों का यही बाक़ी निशाँ होगा !

कितना रास्ता, सचमुच कितना रास्ता, तय कर आये हैं हम लोग !

जब मैं कहता हूँ कि कुछ ऐसे मूल्य थे, सत्य थे, स्वप्न थे, जिन्होंने उन्हें अनुप्राणित किया और अब हमें अनुप्राणित नहीं करते तो मेरा यही तात्पर्य है। मैं जो नयी पीढ़ी, नये युग, नयी भावनाओं के बीच खड़ा हूँ, बिना अपनी ईमानदारी खोये हुए उन मूल्यों, उन ढंगों, उन शैलियों से अनुप्राणित होने का ढोंग नहीं रच सकता और यदि मुझे नये मूल्यों का अवगाहन करना है तो निर्मोही होकर पुराने मुलम्मे को छोड़ना पड़ेगा। मैं उस युग से केवल इतना कहना चाहता हूँ कि तुम्हारे लिए जो स्वस्थ था, वह मुझको मानसिक कैशोर्य जान पड़ता है। नये केवल परिभाषा बदलना चाहते हैं, लेकिन उनकी इस अनिवार्य ईमानदारी को यदि अनुस्वार बन्धु आक्रमण की संज्ञा देकर, सूली पर चढ़ाने का उपक्रम करेंगे तो मैं फिर वीरत्व और ओज की झंकार के साथ कहता हूँ—वे सब कुछ खण्डित कर डालेंगे, सब कूड़े में फेंक देंगे। इतनी सीधी-सी बात हमारे अनुस्वार बन्धु क्यों नहीं देखते ?

"भोर का तारा" में हीरक-जटित रथ पर सवार जनसेना को ललकारने वाले कवि की कल्पना भव्य है, जन-मंगल के लिए पावन है, देश की सेवा का प्रतीक है। लेकिन हम अनुभव से जानते हैं कि एक समय वह भी आता है जब जनमंगल, देश-सेवा कर्तव्य न होकर अधिकार हो जाती है। जब जनसेना को ललकारने के लिए हीरक-जटित रथ पर चढ़ने में समर्थ होना पहली शर्त हो जाती है, तब वह नया कवि जो ईमानदार है और उमड़ती हुई भीड़ के एक कोने में खड़ा है, अपने पड़ोसी को अलग ले जाकर ममत्वपूर्ण वाणी में कहता है : 'यह हीरक-जटित रथ और उससे उठती हुई ललकार सब अयथार्थ है, तुम इसके जूए में कन्धा डालकर इस मोह में इसे खींचना चाह रहे हो कि महाजनों के पंथ पर चलने का यही ढंग है, मानव-गरिमा के विरुद्ध काम कर रहे हो। वह जो सवार है या होना चाहता है, उसे भी कहो कि इस प्रकार रथ पर चढ़ना भी मानव-गरिमा के विरुद्ध है। भव्यता और आडम्बर में कोई अन्तर नहीं है।' मैं उस नये कवि के पक्ष में हाथ उठाना चाहता हूँ।

इस बदले हुए युग में पुरानी पीढ़ी की प्रतिक्रिया क्या हुई है ? गहन दुर्भाग्य की बात है कि पिछली पीढ़ी अब भी वीरपूजा और "महाजन गमनोचित

सम्बल और रथ" की शब्दावली में सोचती है। यह जो हम आये दिन नयी पीढ़ी के प्रति सारी खीझ, सारा आक्रोश, सारी झल्लाहट देखते हैं, वह इसी मानसिक ग्रन्थि के कारण है। वह युग जिसकी "साधना" की साहित्यिक दृष्टि हीरोवाद रही हो और साहित्यिक वातावरण रईस अर्थपेट्रन की छत्रच्छाया रही हो; वह राष्ट्रकवि पद और मन्त्रियों की कृपा को गौरव की बात समझे, इसमें दुःख की बात हो तो हो, आश्चर्य की बात क्या है ? जिसने जीवन और मृत्यु का सबसे उज्वल पुरुषार्थ चिता पर मेला लगना माना है, वह उतने ही आवेश से कमीटियों की ओर भी दौड़ेगा जब कमीटियों या पदवियों का अधिकारी होना ही मेला लगाने की एकमात्र गारण्टी रह जाय। बन्धु अनुस्वार कहते हैं कि इस स्खलन से बचने की आवश्यकता तो गहरी है, लेकिन वे उन मूल्यों पर विवेक और साहस के साथ प्रहार नहीं करना चाहते जिन्होंने इस स्खलन के लिए रास्ता तैयार किया है।

विवेक और साहस ! समन्वय नहीं विवेक ! श्रद्धा नहीं, साहस ! ये गुण हैं जो आज अपेक्षित हैं। आज तक उन्होंने आदर प्रकट करने का केवल एक ढंग देखा है, रथ में कन्धा लगाना, भव्य शब्दावली में "महाजन" का निर्माण करना। नये दूसरी भाषा में बोलते हैं, अच्छा हो कि वे समझें कि भव्यता का अभाव असम्मान नहीं होता ! श्रद्धा और अभिनन्दन का अभाव प्यार के मैले होने की निशानी नहीं होता। समानता की आवाज़ अराजकता का पर्याय नहीं होती।

अगर मैं तुमको
    ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
    यहि शरद के भोर की नीहार न्हायी कुंई
    टटकी कली चम्पे की
    वगैरः तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।

और हम उन्हें भी आमंत्रित करते हैं कि ललाती साँझ की नभ-तारिका के पीछे न दौड़ें—क्योंकि यह मानव-गरिमा के विरुद्ध है, "सिली" है।

अन्त में यह कहना चाहूँगा कि किसी व्यक्ति को लांछित करने का उद्देश्य मेरा नहीं रहा है, उत्तेजित करने का (विचारों को उत्तेजित करने का) उद्देश्य मेरा अवश्य है। लेकिन यदि कहीं उत्तेजन से अधिक लांछन की ध्वनि निकली हो, तो उसे मेरी शैली और भाषा की निर्धनता समझ कर क्षमा किया जाय। इसके अतिरिक्त मैं बन्धु अनुस्वार को विशेषतः धन्यवाद दूँगा जिन्होंने मुझे अपने को स्पष्ट, तेजस्वी और सार्थक ढंग से सोचने के लिए बाध्य किया।

मैं, आशा करता हूँ कि मैं सिद्ध कर सका हूँ, क्योंकि मैं उग्रजी को भेजे गये अपने पत्र से और कुछ भी वापस लेने की आवश्यकता नहीं देखता !

जून, १९५६

आजीविका और आश्रय

लगभग सौ बरस पहले की बात है। दिल्ली में एक शायर रहता था। उस शायर को अपने पर नाज़ था और बहुतों को (मुझको भी) उस पर अब तक नाज़ है। वह शायर बड़ा ग़रीब था। तब दिल्ली में फ़िरंगी का राज नहीं था। वहाँ अपने देश का आख़िरी राजा राज करता था। राजा का राज-पाट तो क्या ही था, लेकिन राजापन की बू जरूर थी। और इस बू के नाम पर उसके लाल क़िले में दरबार लगता था। उसमें मुसाहिब बनकर शायर इकट्ठा होते थे और जैसा सब दरबारों में होता है, खुशामद के भाव प्रतिष्ठा बिकती थी; प्रतिष्ठा के साथ कुछ दान-दक्षिणा भी। दान-दक्षिणा से दरबार वालों का पेट चलता था और मुसाहिबी के बल पर जितना इतरा सकते थे, इतराते फिरते थे। लेकिन मैं जिस शायर की बात कह रहा हूँ, वह बड़ा मानी था। उसे मुसाहिबी, प्रतिष्ठा और पद के भाव आत्म-सम्मान और अपनी स्वतन्त्रता बेचना गवारा नहीं था। लेकिन बिना इसके एक पैसा कहीं से मिलना मुमकिन नहीं था। क्योंकि जैसे आजकल, वैसे ही तब भी साहित्य के द्वारा रोज़ी चलना असम्भव था। आख़िरकार शायर दाने-दाने को मुहताज हो गया। फ़ाक़ामस्ती रंग लाने लगी। तब शायर मजबूर होकर पद और प्रतिष्ठा के लिए नहीं, पेट के लिए, राजा को दुआ देने और भीख माँगने के लिए तैयार हो गया।

लेकिन अपनी इस मजबूरी के लिए उसने अपने को क्षमा नहीं किया।

उसने यह नहीं कहा कि राजा तो अपने देश का है, अतः देश की संस्कृति कला और साहित्य के विकास के लिए यदि वह साहित्यकार से योगदान माँगता है तो इस सहयोग को न देना अपने कर्तव्य की उपेक्षा करना है। उसने यह नहीं कहा कि 'अपने यहाँ' तो अनन्त काल से मुसाहिबी की परम्परा चली आ रही है अतः मुसाहिबी के सम्बन्ध में हमें अपने दृष्टिकोण का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए। उसने यह नहीं कहा कि दरबार में कोरनिश करना देश के लिए हितकर और स्वास्थ्यप्रद है। उसने यह नहीं कहा कि जो इस दरबारदारी को देखकर क्षुब्ध होते हैं, वे सब द्वेषी हैं और असंयत भाषा का प्रयोग करने वाले हैं। संक्षेप में, उसने बेहयाई का उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। एक अजीब दर्द के साथ उसने सिर्फ़ इतना कहा :

ग़ालिब वज़ीफ़ा–ख़्वार हो दो शाह को दुआ।
वह दिन गये कि कहते थे नौकर नहीं हूँ मैं।

उस शायर का नाम ग़ालिब था और वह ईमानदार था। चूँकि उसने अपने को क्षमा नहीं किया। इसलिए आने वाले ज़माने ने उसको क्षमा कर दिया।

गरदिशे-दौराँ देखिये कि सौ बरस बाद फिर दिल्ली में दरबार लगा। फ़िरंगी गया और उसकी जगह देशी आया। पुराना राजा तो स्वयम् भी ग़ज़ल कहता था और ख़ूब कहता था। नये को तो नारेबाजी और प्रचार से ही छुट्टी नहीं। सब पूछियें तो उसे यह भी पता नहीं कि देश में कितने साहित्यकार हैं और क्या लिखते हैं। मगर साहित्यकारों की आवश्यकता उसे है। इसलिए नहीं कि उनकी अनुभूति और मनुष्यता के दर्द में भाग लेकर वह अपने व्यक्तित्व को पूर्णता और प्रखरता दे सके, बल्कि इसलिए कि वे उसकी प्रशस्ति गाकर उसको वोट दिलवा सकें कि वे उसकी राजनीतिक आवश्यकता को मानवता और महाजनत्व के घटाटोप से आच्छादित कर दें, और उस तमाम नयी पीढ़ी पर चौकीदारी कर सकें जिनकी आवाज़ से महाजनत्व का समर्थन नहीं होता है। नये राजा का राज-पाट बहुत बड़ा था और प्रतिम्ठा के लिए संसद और विधान सभा की सदस्यता से लेकर राजा के बग़ल में फ़ोटो खिचवाने के सौभाग्य तक एक-से-एक चमचमाती ख़िलवतें थीं।

जैसे किसान के भूखे बेटे को कारख़ाने की चिमनी बुलाती है, वैसे नये राजा ने चुम्बक की तरह फिर भूखे शायर को खींचा। भूखा शायर दौड़ा, गिरता-पड़ता भागा। इस दौड़ म माथे का तेवर बिगड़ गया, दिल की उमंग पीछे छूट गयी, आवाज़ की सचाई जाती रही, आँखों की आभा उतर गयी।

राजा ने पूछा, "तुम कौन हो?"

उत्तर मिला, "शायर हूँ। सुना आप कृपा बाँटते हैं, इसीलिए दौड़ा हुआ आया हूँ।"

"सिर्फ़ पेट भरने के लिए या सम्मान और शक्ति के लिए भी?"

"पेट तो कहीं साधारण नौकरी से से भर जाता है। असल में मुझे सम्मान और शक्ति की भूख है।"

"क्यों? सम्मान तो तुम्हें साहित्य के बल पर भी मिल सकता है?"

"अजी उस उधार के सम्मान का क्या भरोसा? मिला, मिला; न मिला, न मिला। फिर उसमें शक्ति नहीं है। दूसरों पर कृपा कर सकने की सामर्थ्य

नहीं है। आप के द्वारा मिली शक्ति और सम्मान की बात ही दूसरी है। उसमें चकाचौंध है, नशा है और आज नक़द कल उधार है।"

"मेरी हाँ में हाँ मिला सकोगे ? शर्म तो नहीं आयेगी ?"

"मिलाऊँगा। शर्म नहीं आयेगी। घोलकर पी गया हूँ।"

"सांस्कृतिक धुन्ध खड़ी कर सकोगे ?"

"करूँगा !"

"जो लोग मनुष्य को तनकर खड़ा होने का संदेश दे रहा हैं, उन्हें कोस सकोगे ?"

"कोसूँगा।"

और शायर मुसाहिब बन गया। उसकी आत्मा में कुछ-कुछ कचोट हुई, लेकिन उसने अपने को क्षमा कर दिया।

अजीब आत्म-सन्तोष के साथ उसने कहा :

"जहाँ तक राज्याश्रय की बात है, भारतवर्ष के लिए उसमें कुछ नया नहीं है। संस्कृत के अनेक कवि साहित्यकार राज्याश्रय में रहकर ही रचना करते थे। स्वयम् कालिदास के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। अपभ्रंश और व्रजभाषा के अनेक कवियों ने भी राज्याश्रय स्वीकारा था। यही नहीं, अपने-अपने संरक्षकों की प्रशस्ति के गीत भी गाये थे···

"आज यदि देश की संस्कृति, कला या साहित्य के विकास में साहित्यकार का योगादान माँगा जाता है तो यह उचित ही है और यदि इस अनुष्ठान में शासन साहित्यकारों और कलाकारों की सेवा और सहयोग मांगता है तो वह अनिवार्य ही है ! सिद्धान्त के स्तर पर ऐसा सहयोग देने से इन्कार करना बदली हुई परिस्थितियों को न समझने के बराबर है और स्वयम् अपने कर्तव्य की उपेक्षा करना है···

"समर्थ साहित्यकारों का सहयोग देश के लिए हितकर और स्वास्थ्यप्रद ही सिद्ध होना चाहिए। जन-मन का निर्माण साहित्यकार और कलाकार ही कर सकते हैं। यही उनका कर्तव्य है और यही उनकी प्रेरणा। सम्भवत: हमारी पिछली सरकार-विरोधी प्रवृत्ति अभी हमसे छूट नहीं पायी है और हम जनतन्त्र में अपने कर्तव्य का विवेक नहीं पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस चर्चा के मूल में सिद्धान्त से अधिक व्यक्तिगत राग-द्वेष है।"

(साहित्यकार, प्रयाग, जुलाई, १९५६)

संक्षेप में उसने अपने स्वार्थ-साधन को राष्ट्रोत्थान, देशसेवा, जनतन्त्र आदि का नाम दे दिया। दिल्ली के इस नये शायर के नाम एक नहीं, अनेक

है। दिल्ली ही क्यों, वह हर राजधानी में घूमता हुआ मिलेगा। चूँकि उसने अपने आपको क्षमा कर दिया है, अतः आगे आने वाली पीढ़ियाँ उसे क्षमा नहीं करेंगी।

'शायरे-इन्क़लाब' जोश मलीहाबादी एक दिन अपनी सारी इन्क़लाबी शायरी और राष्ट्रीयता को तिलांजलि देकर कराची को चल दिये। उसके पहले एक बार वह फ़िल्म की ओर भी गये थे और फ़िल्म के लिए जो-जो गीत उन्होंने लिखे, उन्हें देख-सुनकर लोग दंग रह गये। लेकिन देश-परिवर्तन करके जो धक्का उन्होंने बहुतों को पहुँचाया, उसकी कल्पना नहीं थी। पर जाते-जाते उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि "यारो, अब मैं बूढ़ा हुआ। इन्क़लाब और राष्ट्रोत्थान की बातें बहुत कर चुका। अब मुझे बाल-बच्चों के भविष्य की चिन्ता सताती और लालच लगती है कि ख़ासी रकम होती तो ठाठ से रहता, ऐश करता और शराब पीता। मुझे बुझा हुआ ही समझो। अब तो मुझे सिर्फ़ रुपया ही चाहिए। पाकिस्तान मेरा दाम बढ़कर देने को तैयार है। मैं चला, वस्सलाम !"

'शायरे-इन्क़लाब' ने बहुत बुरा किया। लेकिन वह इस बुरे से भी ज़्यादा ज़हरीला काम कर सकते थे। वह अपने इस काम को नैतिकता और सिद्धान्त का रूप दे सकते थे, अत्यन्त निर्लज्जता के साथ वह कह सकते थे कि पाकिस्तान की सरकार देश की संस्कृति, कला और साहित्य के विकास के लिए, राष्ट्रोत्थान के लिए उर्दू और शायरे-इन्क़लाब से योगदान माँग रही है। और यह योगदान देना कर्तव्य की पराकाष्ठा है। असल में जो इस सहयोग को देने से इन्कार क़रता है, वही कर्तव्य की उपेक्षा करता है। बदली हुई परिस्थिति में हमारा कर्तव्य बदल गया है। अब हिन्दुस्तान, पाकिस्तान दोनों ही में स्वदेशी और जनता की प्रतिनिधि सरकारें हैं। हिन्दुस्तान में राष्ट्रोत्थान के पचीसों कवि हैं। बेचारी पाकिस्तान की जनता के लिए भी तो एक शायरे-इन्क़लाब चाहिए। अँग्रेज़ गये, अब हमको अपनी पुरानी मान्यताओं से ऊपर उठना चाहिए। जो मेरे इस कार्य का स्वागत नहीं कर पा रहे हैं, वे असंयत शैली का व्यवहार कर रहे हैं और व्यक्तिगत राग-द्वेष से पीड़ित हैं।

अगर शायरे-इन्क़लाब ऐसा करते तो एक ज़बरदस्त धुन्ध खड़ी करते। लेकिन हिन्दी की इस पुरानी पीढ़ी के निकट होते जिसकी ओर से इसी प्रकार की बातें जुलाई के 'साहित्यकार' के 'साहित्यकी' स्तम्भ में कही गयी हैं।

साहित्यकार और राज्याश्रय का प्रश्न इधर एक विशेष चर्चा का विषय बन गया है। कई पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रश्न को उठाया गया है। चूँकि

इसके साथ साहित्यकार की आजीविका का प्रश्न भी जोड़ा गया है, अतः उचित है कि इस पर थोड़ा विचार किया जाय।

इंगलैण्ड की बहुचर्चित (और अब भूतपूर्व) पत्रिका 'होराइज़न' ने सितम्बर, १९७६ में छह प्रश्न और उन पर इंगलैण्ड के प्रमुख लेखकों के उत्तर प्रकाशित किये। लेखकों में अलेक्स कम्फ़र्ट, सेसिल डे लेविस, रोज़ मैकाले, जॉर्ज आरवेल, हर्बर्ट रीड, स्टीफ़ेन स्पेन्डर, डाइलन टॉमस आदि के नामों से हिन्दी के पाठकगण शायद परिचित हों। वे छह प्रश्नों यों थे—

१. आपके विचार में लेखक के जीवन-यापन के लिए कितने धन की आवश्यकता है?

२. क्या आप समझते हैं कि कोई मनस्वी लेखक इतना अपनी रचनाओं से कमा सकता है? यदि हाँ, तो कैसे?

३. यदि नहीं, तो आपके विचार में लेखक के लिए सबसे उपयुक्त दूसरी आजीविका क्या हो सकती है?

४. आपके विचार में क्या अन्य धन्धों में लेखक की शक्ति लगती हो तो साहित्य की क्षति होती है या समृद्धि?

५. क्या आप समझते हैं कि राज्य या किसी अन्य संस्था को लेखकों के लिए कुछ और करना चाहिए?

६. आपने स्वयम् जो इस समस्या का हल निकाला है, क्या आप उससे सन्तुष्ट हैं? क्या आप नये लेखकों को, जो लेखन द्वारा अपनी जीविका चलाना चाहते हैं, कोई स्पष्ट सलाह दे सकते हैं?

मैं समझता हूँ कि हिन्दी के समकालीन विवाद और टिप्पणियों में इन प्रश्नों पर ध्यान रखा जाये तो बहुत उपयोगी होगा और बहुत-सी अनर्गल बातें कहने की, और फिर उनका प्रतिवाद करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

जो उत्तर छपे थे, वे काफ़ी रोचक और उपादेय थे। यदि पूरा उद्धृत करना सम्भव होता तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती। सम्प्रति दो-चार विशेष बातों की ओर संकेत करके ही सन्तोष करता हूँ।

साधारणतः सबका मत था कि लेखक को कम से कम निम्न मध्यम वर्ग के स्तर की आजीविका अवश्य उपलब्ध होनी चाहिए। कुछ ने यह भी कहा कि महत्त्वपूर्ण वस्तु है अवकाश का मिलना, और मस्तिष्क का उस 'हैक वर्क' अर्थात् थोपे हुए घटिया कामों से मुक्त होना जो कल्पना को जड़ और रूढ़िग्रस्त बना देते हैं। इसमें किसी को सन्देह नहीं था कि इतनी आजीविका

भी आज अंग्रेज़ी का लेखक—अत्यन्त सफल उपन्यासकारों को छोड़कर—'साहित्य' से नहीं कमा सकता। ऐसी दशा में भाग्यशाली लेखक तो वह है जो किसी धनी महिला से विवाह करने में सफल हो जाये; अन्यथा कोई न कोई दूसरा धन्धा तो उसे करना ही पड़ता है। लेखक के लिए, आसानी से उपलब्ध धन्धों में पत्रकारिता (जिसमें परिचयात्मक आलोचनाएँ और पुस्तक-समीक्षाएँ भी शामिल हैं), रेडियो की नौकरियाँ, उसके लिए लिखना (जिसको किसी ने साहित्य का अंश नहीं माना है), कुछ विशेष प्रकार की साहित्यिक नौकरियाँ (जैसे पुस्तकालय, आर्ट गैलरी, म्युज़ियम आदि), और यदि लेखक किसी विषय का पण्डित हुआ तो अध्यापन-कार्य आदि हैं। अधिकतर सबसे अच्छी नौकरी वह समझी गयी है जिसका साहित्य से सम्बन्ध न हो। जान बेजमैन का अरमान है : 'मैं किसी गाँव की ओर जाने वाली छोटी-सी रेलवे लाइन के छोटे से स्टेशन पर स्टेशन मास्टर होना पसन्द करूँगा।' बहरहाल, इसमें किसी को सन्देह नहीं है कि ये धन्धे निश्चय ही लेखक के लिए दुर्दैव की मार हैं और सृजनात्मक प्रतिभा को कुण्ठित करते हैं। इन नौकरियों में पड़ने पर लेखक का क्या रुख़ होना चाहिए, इस सम्बन्ध में स्टीफेन स्पेन्डर का कथन रोचक और सटीक है :

"नौकरी में पड़ने पर लेखक के लिए सबसे सुरक्षित भूमिका यह है कि वह बचपन की ओर लौट जाये। नौकरी ऐसी करो कि लगे हाथ लिखने के लिए काम की बात भी सीखने को मिल जाये। यह मान कर चलो कि एक बार फिर तुम अपनी कक्षा के सबसे बुद्धू लड़के और परिवार के नालायक पुत्र हो गये हो। सहकारियों के साथ सबसे बढ़िया रिश्ता यह है कि वे सोचें कि आदमी भला है, मगर कुछ सनकी है। पहिये के दाँते की तरह बन जाओ और विभाग के अफ़सरों को पूरा अवसर दो कि वे बड़े प्रेम से तुमको चक्कर में पीस सकें। लोगों को इतमीनान दिला दो कि वे सोच सकें कि यदि तुम विशिष्ट हो तो इससे उनके पद पर कोई ख़तरा नहीं है। ईश्वर के लिए, ज़िम्मेदारी का पद कभी न लो और इस क्षेत्र में हरगिज़ कोई महत्त्वाकांक्षा न रखो। पदवृद्धि के चक्कर में न पड़ो, और अगर मिल जाये तो ख़ामख़ाह इन्कार भी मत करो। कोशिश यह होनी चाहिए कि दफ़्तर के बास की दृष्टि में तुम्हें विशेषाधिकार सम्पन्न विदूषक की स्थिति प्राप्त हो जाये जिससे किसी को ईर्ष्या नहीं होती और जिस पर साथी लोग कभी-कभी एकाध चुटकी कस लेते हैं। इस स्थिति को प्राप्त करने का ढंग यह है कि सदा देर करके आयें (लेकिन बहुत देर करके नहीं)। आख़िरकार जब 'साहब' अपनी (या अपनी पत्नी या पुत्र की) कविताएँ तुमको दिखलायें, तब बुरी से बुरी विपत्ति के

लिए कमर कसकर तैयार हो जाओ। ख़ूब पसन्द करने का अभिनय करो, बढ़िया टेस्टिमोनियल के लिए निवेदन करो, और जैसे ही वह मिल जाय, इस्तीफ़ा देकर भाग खड़े हो।"

राज्य द्वारा लेखक की सहायता को सब शंका की दृष्टि से देखते हैं। सात की निश्चित राय है कि राज्य को न ऐसी सहायता देनी चाहिए, न लेखक को उसके पास फटकना चाहिए। उनके विचार में राज्य कभी भी साहित्यकार को निरपेक्ष सहायता नहीं दे सकता। उदाहरण के लिए हर्बर्ट रीड का दोटूक उत्तर है: "जी नहीं, राज्य साहित्य को केवल पथभ्रष्ट और घटिया ही बनाता है।" या डाइलन टॉमस के अनुसार: "राज्य को लेखक के लिए केवल उतना ही करना चाहिए जो उसका कर्तव्य देश के सब निवासियों के लिए है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। राज्य का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति को आवास, भोजन, वस्त्र दे, चाहे वह राज्य के लिए कुछ करता हो या नहीं।"

अन्य लेखकों की धारणा है कि राज्य के लिए निरपेक्ष सहायता दे सकना कुछ विशेष शर्तों के साथ, सम्भव है। अत: वे राज्य द्वारा सहायता के विरुद्ध तो नहीं हैं, लेकिन एक स्वर से चेतावनी देते हैं कि इस सहायता के ख़तरों से सावधान रहना चाहिए। इसका स्वरूप राजनीतिक पक्षधरता का न हो जाये, इसलिए यह सहायता किसी स्वतन्त्र साहित्यिक या सांस्कृतिक संस्था के माध्यम से होनी चाहिए जो राजनीतिक व्यक्तियों या राज्यों के पदाधिकारियों के प्रभाव से मुक्त हो। यह भी आग्रह है कि इसका उद्देश्य जीवन-यापन मात्र होना चाहिए, धन-संचय नहीं। इस सम्बन्ध में सेसिल डे लेविस का उत्तर लगभग सबका प्रतिनिधित्व करता है:

"कवि की स्थिति कुछ विशिष्ट है। अन्य मनस्वी लेखक प्रतिष्ठित हो जाने पर, भाग्य ने साथ दिया तो बिना ईमानदारी खोये हुए जीने भर को अपनी रचनाओं से कमा लेंगे। लेकिन कवि सिर्फ़ कविता के सहारे ऐसा नहीं कर सकता।·· यदि किसी लेखक को राज्य से सहायता मिलनी चाहिए, तो कवि को अवश्य ही। क्योंकि उसकी कृतिकारिता को, 'हैक-वर्क' या अन्यत्र धन्धों में शक्ति लगने से, हानि की सम्भावना सबसे अधिक है। किन्तु राजकीय सहायता के साथ, काव्य-रचना को छोड़कर, अन्य किसी भी प्रकार के उत्तर-दायित्व का बन्धन उस पर न लगना चाहिए। अत: सर्वोत्तम यही है कि ऐसी सहायता किसी अराजनीतिक संस्था, जैसे आर्ट्स काउन्सिल के माध्यम से प्राप्त हो। दूसरी ओर किसी लेखक के लिए भौतिक, नैतिक या मानसिक परू में चारों ओर आराम ही आराम भी नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि

संघर्ष प्रेरणा देता है। राज्य या बुद्धिजीवी वर्ग की गोद में आरामदेह और सुरक्षित ज़िन्दगी से काम नहीं चलेगा; टेकनीक की समस्याओं से कहीं अधिक सामान्य जीवन-यापन की समस्याओं से जूझने के दौरान ही लेखक अपनी गहनता के स्तर की उपलब्धि करता है।"

अँग्रेज़ी लेखकों ने जो कहा है, वह तो विचारणीय है ही; जो नहीं कहा है, वह और भी महत्त्वपूर्ण है। किसी भी लेखक ने यह नहीं कहा कि चूंकि उनका देश स्वतन्त्र है और देश में जनतन्त्रात्मक प्रतिनिधि सरकार है, अतः लेखक का कर्तव्य है कि वह अनुमान के निर्माण में अपनी प्रतिभा का योग-दान दे; न किसी ने शासन का यह अधिकार ही माना है कि वह लेखक से सहायता के बदले इस प्रकार के प्रचारात्मक सहयोग की माँग करे। स्मरण रखने की बात यह भी है कि १९४९ में ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार थी और अधिकतर लेखक अपने ढंग से श्रमिक वर्ग और समाजवाद के समर्थक हैं। वस्तुतः ऐसी माँगें तो तानाशाही सरकारें करती हैं। यह घोषणा हिटलर की थी कि उसकी सरकार का उद्देश्य 'कुल्तूर कैम्फ'—सांस्कृतिक जेहाद—है तथा संस्कृति, कला, साहित्य अथवा राष्ट्रीय मानस के पुनर्निर्माण में सहयोग देना हर राष्ट्रभक्त लेखक का कर्तव्य है। जो ऐसा नहीं करता, वह अपने कर्तव्य की उपेक्षा करता है। यहाँ तक पहुँचने के बाद अगला क़दम बिलकुल सरल और स्वाभाविक है : अर्थात् जो कर्तव्य की उपेक्षा करता है, वह देशद्रोही है, उसका सामाजिक बहिष्कार होना चाहिए और इतने से भी न माने तो उसे उठाकर जेल में बन्द कर देना चाहिए।

आज हिन्दी में राज्याश्रय और लेखक को लेकर जो व्यापक और गहन प्रतिक्रिया हुई है, वह शुभ लक्षण है। हम एक नये युग की राह पर खड़े हैं और जनतन्त्र, लेखक की स्वाधीनता, सांस्कृतिक पुनर्जागरण आदि के प्रश्नों पर महत्त्वपूर्ण विचार कर रहे हैं। जितनी बौद्धिक जागरूकता के साथ हम अपनी प्रतिक्रिया को नियमित करेंगे, उतना ही हम एक उचित परम्परा की नींव डालेंगे।

संक्षेप में, सरकार का कर्तव्य हो सकता है कि वह लेखक की सहायता करे, किन्तु लेखक का यह कर्तव्य कदापि नहीं है कि वह सरकार की सहायता करे। यों तो हर सरकारी सहायता ख़तरे से ख़ाली नहीं है, चाहे वह सरकार पूँजीवादी हो या समाजवादी। बहुत कुछ 'सरकारी सहायता' के प्रति लेखक का रुख़ उसी सतर्कता का होना चाहिए जैसा आज स्वतन्त्र देशों का तथाकथित 'अमरीकी सहायता' के प्रति है। हमें बराबर यह प्रश्न पूछते रहना चाहिए कि इसमें (अंग्रेज़ी मुहावरे के अनुसार) 'कहीं कोई डोर

तो नहीं बँधी हुई है ?' सबसे ख़तरे की स्थिति वह है जहाँ उपर्युक्त दोनों कर्तव्यों को सम्बद्ध कर दिया जाता है—जब यह कहा जाता है कि दोनों का कर्तव्य है कि एक-दूसरे की सहायता करें। क्योंकि व्यवहार में इसका सीधा अर्थ है कि सरकार का कर्तव्य केवल उन लेखकों की सहायता करना है जो सरकार की सहायता करते हैं। यही बौद्धिक धुन्ध 'साहित्यकार' के स्तम्भ-कार ने खड़ा किया है। अच्छा हो कि इस धारणा के परिणामों को बराबर ध्यान में रखा जाये।

वस्तुत: लेखक सरकारी नौकरी करे या न करे, यह नैतिक या चारित्रिक प्रश्न नहीं है, यह मूलतः बौद्धिक प्रश्न है। हिन्दी के यशस्वी कृतिकारों ने सरकार के सम्मुख जो आत्म-समर्पण किया है, उसका स्वागत साधारणत: जो नहीं किया जा सका है, उसे समझने के लिए इसी बौद्धिक दृष्टि की आवश्यकता है। यह सत्य है कि सरकारी नौकरी में पड़ने पर सृजनात्मक प्रतिभा का ह्रास होता है। किन्तु यह भी नितान्त सत्य है कि ऐसा ह्रास हर आत्मघाती धन्धे में विद्यमान है, चाहे वह क्लर्की हो, अध्यापकी हो, या पत्रकारिता हो। इस दृष्टि से सरकारी नौकरी और अन्य धन्धों में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। लेखक से यह आशा करना कि वह ऋषियों और ब्राह्मणों की भाँति आजीविका से निर्लिप्त होकर या केवल त्याग की जाज्वल्यमान कान्ति से पेट भर कर साहित्य-रचना करेगा, नितान्त मूढ़ता है। जिस हद तक आजीविका की अनिवार्यता उसे साहित्येतर धन्धों के लिए बाध्य करती है और वह सरकारी या अन्य प्रकार की नौकरी के लिए विवश होता है, वह दु:ख और सहानुभूति का विषय हो सकता है, व्यंग्य, क्षोभ और ग्लानिका विषय तो कदापि नहीं हो सकता।

तब उस व्यंग्य का, जिसकी चोट मैंने आरम्भ में राज्याश्रित 'नये ग़ालिब' और 'नये शायरे-इन्क़लाब' पर करने की चेष्टा की है, तात्पर्य क्या है ? कुछ प्रश्न पूछने और उनका उत्तर देने से यह बिलकुल स्पष्ट समझ में आ जायेगा :

तीन कवि हैं : एक बैंक में क्लर्क नियुक्त होता है, एक एजेंट और एक मॅनेजिंग डायरेक्टर। क्या इन पदों से कोई संकेत मिलता है कि कौन बड़ा कवि है ? नहीं।

तीन उपन्यासकार हैं : एक विश्वविद्यालय में लेक्चरर नियुक्त होता है, एक रीडर, एक प्रोफ़ेसर। क्या इससे संकेत मिलता है कि कौन बड़ा उपन्यासकार है ? नहीं।

तीन नाटककार हैं : एक अख़बार में संवाददाता है, एक सम्पादक, एक जनरल मॅनेजर। क्या इससे संकेत मिलता है कि कौन बड़ा नाटककार है ? नहीं।

तीन कवि, उपन्यासकार या नाटककार हैं : एक रेडियो में असिस्टेन्ट प्रोड्यूसर नियुक्त होता है, एक प्रोड्यूसर, एक चीफ़ प्रोड्यूसर। क्या इससे संकेत मिलता है कि कौन बड़ा साहित्यकार है ? निस्सन्देह।

राज्याश्रय और आजीविका में जो अन्तर है, यह इस दृष्टि से बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए।

क्षोभ और व्यंग्य की आवश्यकता तब उत्पन्न होती है जब आजीविका की अनिवार्यता के बीच उस विवेकपूर्ण नियम का उल्लंघन होता है जिसकी ओर विनोदपूर्ण संकेत स्टीफ़ेन स्पेन्डर ने किया है : जब तर्क और व्यवहार दोनों से राज्याश्रित लेखक अपनी आजीविका की बाध्यता को जनतान्त्रिक, साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक पुनर्विभाग समझने या समझाने की चेष्टा करने लगता है; जब लेखक अपनी वाणी और कृति द्वारा तृतीय श्रेणी के मस्तिष्क वाले राज्य-मन्त्रियों को साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यक्तित्व प्रदान करने लगता है और (जो आज सबसे आश्चर्य की बात यह है) जब राज्याश्रित लेखक उन सबके ऊपर नैतिक महत्ता की शान बघारने लगता है जो इस बाध्यता से मुक्त हैं या बाध्यता में पड़कर भी केवल अपना श्रम बेचते हैं, अपनी क़लम का नीलाम नहीं करते।

राजनीतिक पद-लोलुपता या अतिरिक्त लाभ के फेर में पड़कर मुसाहिबी को सांस्कृतिक निर्माण का मार्ग समझना हद दर्जे का बौद्धिक दिवालियापन है और जब इसको एकमात्र मार्ग या देशप्रेम कहा जाये, तब तो निश्चय ही आसन्न विपत्ति की स्थिति हो जाती है। शायद मैं बहुत कड़े शब्दों का प्रयोग कर रहा हूँ। किन्तु आज के वातावरण में यह आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि इस पुराने देश भारत में चलने दिया जाये तो 'सब चलता' है। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न अब भी नहीं पूछा गया है। उनमें से, जिन्होंने राज्याश्रय स्वीकार कर लिया है या जिन्हें राज्य ने आश्रय देने की कृपा की है, कितने हैं जो निश्छल हृदय से कह सकते हैं कि जितनी दौड़ वे लगा रहे हैं, वह मात्र आजीविका के लिए है ? क्या वे उसे अपने साहित्यिक जीवन की अनिवार्य परिणति या उसका स्वाभाविक माध्यम नहीं मानते ? बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे, सभी ये प्रश्न पूछें, सभी इसका उत्तर दें। जितनी ईमानदारी से इस प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे, उतना ही भविष्य के लिए स्वस्थ परम्परा स्थापित करेंगे और इस चर्चा में से 'राग-द्वेष' के उस वातावरण को

दूर कर सकेंगे जो व्यंग्य को जन्म देता है और जिस पर 'साहित्यकार' के स्तम्भकार को आपत्ति है।

जिस सरकार की सरकारी नौकरी आजकल लेखकों को अधिकतर खींचे जा रही है, यदि ध्यान से देखा जाय तो वह लेखकों की समस्या का सही हल भी नहीं है और न शायद सरकार ही इसे लेखकों अथवा साहित्य के सहायतार्थ समझती है। शीघ्र ही वह समय आ जायेगा (या शायद आ गया है) जब ये थोड़ी-सी नौकरियाँ भर जायेंगी; जो इनमें गये हैं, उनकी लेखन-शक्ति का क्रमिक ह्रास हो जायेगा और फिर हम उसी विडम्बना में पहुँच जायेंगे : जिनको नौकरी मिल गयी, वे लेखक नहीं रह गये और जो लेखक हैं, उनके लिए सरकारी नौकरी में जगह नहीं है। एक और विवेकपूर्ण अन्तर इन नौकरियों और परमानेन्ट नौकरियों में था। श्री सी० बी० राव ने लीडर के साप्ताहिक अंक (२३ जुलाई, १९५६) में बतलाया जिससे मैं शत-प्रतिशत सहमत हूँ। 'परमानेन्ट' नौकर वस्तुतः राज्य का नौकर होता है और जनतन्त्र में बदलती हुई सरकारें, बदलते हुए मन्त्रियों, या मन्त्रियों की बदलती हुई इच्छाओं के साथ बदला नहीं जा सकता। इसके विपरीत सामयिक नौकरियाँ सचमुच राजनीतिक नियुक्तियाँ होती हैं, और इनमें आने के लिए, बने रहने के लिए और तरक्की पाने के लिए जो अलिखित और अविज्ञप्त नियम काम करते हैं, वे बिल्कुल दूसरे होते हैं।

रेडियो में जाना चाहते हैं, शौक से जाइये। सूचना विभाग में नौकरी मिल रही है, शौक से कीजिए। लेकिन ईश्वर के लिए इस भुलावे को आश्रय न दीजिये कि वहाँ आप जनमानस का निर्माण कर रहे हैं, देश के प्रति या अपने प्रति लेखक का दायित्व पूरा कर रहे हैं। क्योंकि कला, साहित्य, संस्कृति का विकास उन कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों से होगा जो आप इस प्रकार आजीविका प्राप्त कर तथा समय बचाकर लिख पायेंगे। इस भ्रामक घटाटोप को भी काटने का प्रयास कीजिये कि लेखक की प्रतिभा का मानदण्ड यह है कि कितनी बड़ी नौकरी, या कितनी बड़ी प्रतिष्ठा उसे इन विभागों में मिल रही है। ऐसा वातावरण न बनने दीजिए कि पंच-वर्षीय योजना पर लिखा हुआ हर नाटक जो प्रधान मन्त्री के सामने खेला जाये, हिन्दी नाटकों में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाने लगे। और सबसे बड़ी बात यह है कि यदि आप रिक्त हो चुके हैं, उस अन्तस्थल में जाकर सूख गये हैं, तो नयी पीढ़ी को कोसकर या उपदेश देकर अपने मन की इच्छा को अभिव्यक्त न कीजिये।

इस विवेचन से अग्रलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

लेखक सरकारी नौकरी में जाये, इसका विरोध प्रथमत: तो इस कारण किया जाता है कि नौकरी की मशीन में पड़कर सृजनात्मक प्रतिभा का ह्रास होता है। यह केवल सद्भावना का विरोध है। इसका मतलब यह नहीं होता कि जो भी सरकारी नौकरी में गया, उसका चारित्रिक या नैतिक पतन हो गया। यह एक व्यावहारिक समस्या है और मूलत स्वयम् लेखक को इसका हल निकालना चाहिए। इस दृष्टि से सरकारी नौकरी और अन्य धन्धों में कोई अन्तर नहीं है।

दूसरे, सरकारी नौकरी तथा सरकारी प्रतिष्ठा एवम् अतिरिक्त लाभ, ये भिन्न वस्तुएँ हैं। यदि राज्याश्रय 'मुसाहिबी' या मन्त्रियों की कृपा का रूप धारण करता है, तब इसका विरोध इस कारण होता है कि यह आत्म-सम्मान को कुण्ठित करता है। फिर भी यह लेखक की अपनी समस्या है। यदि लेखक ऐसे लोभ का सामना करने की शक्ति दिखलाता है तो हमें अवश्य प्रसन्नता होती है और हम उसे प्यार करते हैं। यदि अन्यान्य कारणों से, वह ग़ालिब या जोश की तरह टूट गया, तो हमें दुःख होता है। फिर भी यह ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं है कि हर आदमी ख़तरे की घण्टी बजाने लगे और एक राष्ट्रव्यापी विवाद छिड़ जाय।

तीसरी स्थिति वह है जहाँ शासन को प्रसन्न करने के लिए साहित्यिक क्षेत्र में सरकार-समर्थक योजनाएँ बनायी जाती हैं, साहित्य की धारा बदलने या बदलने से रोकने का प्रयास किया जाता है, सरकारी प्रचार और कला को एकसाथ मिला दिया जाता है, मिनिस्ट्री ऑफ कल्चर स्थापित करने की बातें होने लगती हैं। और जो इसमें योगदान देते हैं या जिनसे योगदान मिलने की आशा है, उन्हें सम्मान वितरित किया जाता है तथा जो इसके विरुद्ध खड़े होते हैं, या जिनसे विरोध की आशंका है, उन्हें सामाजिक सेन्सर का निशाना बनाया जाता है। तब वास्तविक ख़तरा उत्पन्न होता है।

कुल मिलाकर यह समस्या किसी भी दशा में नैतिक या चारित्रिक नहीं है। मूलत: यह युगों की धारणाओं से सम्बन्ध रखने वाली बौद्धिक समस्या है। एक रास्ता जनतन्त्र का है, एक रास्ता तानाशाही और सांस्कृतिक ह्रास का है। आप स्वतन्त्र हैं, जो चाहिए चुनिये, लेकिन समझ-बूझकर, आंख खोलकर चुनिये, ताकि कोई आदमी आपको 'स्टुपिड' न कहे। क्योंकि, जैसा किसी ने कहा है (नहीं कहा है तो मैं कहता हूँ) कि एक बदमाश आदमी झूठ आदमी से बेहतर है। दुर्भाग्य से, इस देश में त्यागी होना, संयमी होना, शासन-भक्त होना आदि उज्ज्वल चरित्र के लक्षण सब गिनाते हैं, लेकिन अक़्लमन्द होने के नैतिक कर्तव्य को कोई नहीं गिनाता!

"जीविका के लिए सरकारी नौकरी करना और मन्त्रियों की दया को साहित्यिक सम्मति का बन्धन समझना, ये दो बिलकुल भिन्न बातें हैं। मन्त्रियों की यह कृपा कितने रूपों और रास्तों से आज साहित्यिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो रही है, सब जानते हैं। इसका शिकार नयी पीढ़ी को होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ये ज़हरीले बादल केवल चोटियों पर बरसने वाले हैं।"

क्या यह स्पष्ट नहीं है ?

क्या यह सत्य नहीं है ?

अगस्त, १९५६

नितान्त समसामयिकता का नैतिक दायित्व-१

: १ :

साधारणतः आधुनिकता के प्रति हमारा रुख़ आशंका का रहा है। जो कुछ नया है, आधुनिक है, समसामयिक है, उसे सतही, जनजीवन से विच्छिन्न और देशद्रोही समझने के अभ्यासी हम रहे हैं। यही नहीं, समसामयिक समस्याओं को भी जब तक हम युग-युग की समस्या का रूप नहीं दे लेते, तब तक हमें सन्तोष नहीं होता। हम अस्वीकार करते हैं कि हम एक चिरन्तन गतिशील समसामयिक जगत् में रहते हैं जहाँ परिवर्तन का क्रम न केवल नयी दिशाएँ, नये संकेत देता है, बल्कि पहले के पूछे गये प्रश्नों को फिर से पूछने के लिए बाध्य करता है। हम नहीं मानते कि हर नया गवाह न केवल नये विवाद प्रस्तुत करता है, बल्कि पुराने विवादों के सम्बन्ध में हमारे निर्णय को भी चुनौती देता है। ऐसी स्थिति में समसामयिकता को नैतिक दायित्व के रूप में प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति दुस्साहसी या धृष्ट समझा जाये तो क्या आश्चर्य ?

भावुक प्रतिक्रिया का जो दाय हमें हिन्दी की पिछली पीढ़ी से मिला है, उसमें तो यह आशंका उग्रतम रूप में दिखलायी पड़ती है। आक्रोश का स्वर विशेष है। जब पण्डित पद्मसिंह शर्मा पन्तजी के बारे में लिखते हैं: "आज श्री सुमित्रानन्दन पन्त मिले। देखने में आदमी काफ़ी 'जेन्टिलमैन' हैं", तो वे मात्र चुटकी नहीं ले रहे हैं। वे उस मस्तिष्क का भी विरोध कर रहे हैं जो उस 'जेन्टिलमैन' पहनावे के भीतर नयी समस्याओं से जूझ रहा है, नये प्रश्न उठा रहा है, समसामयिक यथार्थ से सम्बन्ध स्थापित करना चाह रहा है। आज भी हिन्दी की नयी पीढ़ी पर अन्यथा शीलवान एवम् तर्क-बहुल आचार्यों द्वारा जो सम्मेलनों, लेखों एवम् ग्रन्थों में मर्मवेधी शस्त्रवर्षा होती रहती है, उसका एक प्रमुख आयुध है: "तुम सब परम्परा से च्युत हो गये हो। फ़ैशन के नाम पर तुमने भारतीय आत्मा को बेच दिया है।"

सच पूछिये तो इस 'जलते प्रश्न' को बुझाने का असली दायित्व छायावाद के 'जेन्टिलमैन' कवियों तथा आचार्यों का ही था। यदि वे इस गाढ़े रण में चढ़े होते तो हमारा काम आसान हो गया होता। किन्तु उनके सौभाग्य से और हमारे दुर्भाग्य से उस समय की बहस न केवल स्थगित हो गयी, बल्कि

उसकी धारा ही दूसरी ओर मुड़ गयी। पर्याप्त कोलाहल के साथ आर्य समाज-बनाम-सनातन धर्म की भाँति विवाद इस पर आ टिका कि नये और पुराने में प्रामणिक परम्परावादी कौन है। फिर तो अपने काव्य को सीधे-सीधे उपनिषद्, गीता, पुराण और गुप्त-साम्राज्य से प्रमाणित करने की विद्वत्तापूर्ण, किन्तु भेड़ियाधसान आतुरता की बाढ़ आ गयी। इसके लिए कारण थे। आवश्यक था कि समूचे देश को एक प्रामाणिक व्यक्तित्व देकर योरप के प्रतिनिधि इंगलैण्ड के सामने ला खड़ा किया जाये। इसका एक परिणाम हुआ कि योरप को भौतिकवादी घोषित किया गया और उसके विरुद्ध भारत की संस्कृति को आध्यात्मिक मानकर श्रेष्ठता के लिए तार्किक आधार खोज लिया गया। यह योरप और भारत दोनों के ही प्रति अन्याय था। लेकिन इससे स्वतन्त्रता-संग्राम के "नैतिक प्रभामण्डल" को बड़ी ज्योति मिली। जादू ने उस समय तो अचूक काम किया ही। इसकी ओर अपने पिछले लेख 'हाथीदाँत की मीनारें' में डॉक्टर धर्मवीर भारती संकेत कर चुके हैं।

लेखकों एवम् विचारकों में समसामयिकता के प्रति जो यह भावुक आक्रोश एवम् अस्वीकार की प्रवृत्ति है, उसका आधार क्या है? अल्पमत में पड़ जाने का डर तो है ही। लेकिन समसामयिकता से आमना-सामना मुख्यतः हमें बेचैन और तिलमिलाया हुआ छोड़ जाता है। यथार्थ से हमारा सीधा साक्षात्कार होता है। जीवन की गहरी वास्तविकताओं के बीच, परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच, सीमित परिस्थितियों के बीच मानव-मूल्यों का प्रश्न पूरी विराटता के साथ हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। अर्जुन की भाँति हम डरकर आँखें मूँद लेते हैं—नहीं, नहीं, हमें सत्य का वही चतुर्भुज सौम्य रूप ही चाहिए। समसामयिकता एक असुविधाजनक चुनौती है जो हमें ठोस, सार्थक शब्दों में सोचने को बाध्य करती है, आदर्श और यथार्थ के बीच उग्र सार्थकता का सम्बन्ध स्थापित करने की माँग रखती है और हमारी निर्लिप्त आत्मतुष्टि की नींव को हिला देती है। नैतिकता और मानव-मूल्य निर्जीव, सुभाषित वाक्य मात्र नहीं रह जाते, बल्कि वे जीवन्त प्रश्न बन जाते हैं। इसीलिए यह हमारे लिए दायित्व ही नहीं, नैतिक दायित्व है।

अनुभूति की नितान्त समसामयिकता बिना किसी पूर्वग्रह के जीवन को उसकी समग्रता, तात्कालिकता एवम् आग्रह के साथ ग्रहण करती है। इसका अर्थ है कि हमारे साथ के मानव जिन समस्याओं से जूझ रहे हैं, वे समान हैं। बजाय इसके कि हम चिन्तन और अनुभूति को अन्त में तिरोहित कर दें और इस प्रकार मानव-मूल्यों को अनन्त और यथार्थ के दो स्तरों में विभाजित करके अनैतिकता या उदासीनता को जन्म दें, हम यह स्वीकार करते हैं कि

अनुभूति को आज के सन्दर्भ में साकार करना पावन कर्तव्य है। हम चिन्तन एवम् क्रिया की तात्कालिकता की कसौटी पर बराबर कसते रहने का आग्रह करते रहते हैं, इसलिए खोज निरन्तर जारी रहती है। एक ओर हम समग्र मानवता के बन्धुत्व के प्रति विनय के साथ उन्मुख होते हैं, दूसरी ओर चिर सतर्कता हमको तेजस्विता प्रदान करती है। साध्य के साथ—बल्कि साध्य से अधिक—साधन की पवित्रता जो स्वतन्त्र आचरण की पहली शर्त है, समसामयिकता की नैतिक आधारभूमि है और सबसे बढ़कर समसामयिकता ही प्रेषणीयता को सम्भव बनाती है। अनावश्यक अतीत से छूटकर हम वर्तमान में फैल जाते हैं और जीवित मानवता के साथ समन्वित हो जाते हैं।

जो लोग समसामयिकता के दायित्व को अस्वीकार करते हैं, उनकी मुख्य आपत्ति यह है कि यह हमें स्थायी मूल से विच्छिन्न करके क्षिप्रगति भँवर में बहने के लिए निराधार छोड़ देती है। इसलिए हम आरोप के रूप में चौंकाने की प्रवृत्ति, फ़ैशन, प्रवंचक नयापन, संस्कारहीनता आदि शब्द आये दिन सुनते रहते हैं। एक दृष्टि यह भी है कि विश्व में कभी नया कुछ घटता ही नहीं; कोई नया प्रश्न नहीं पूछा जाता। जो प्रश्न पूछे जाने थे, वे पूछे जा चुके; जो उत्तर दिये जाने थे, वे दिये जा चुके हैं। हमें केवल उन्हें याद कर लेना है और विश्व को सन्देश देने निकल पड़ना है। अभी संसार शक्ति में उन्मत्त हो रहा है और हम दुर्बल हैं। अतः कोई हमारा सन्देश सुनने को तैयार नहीं है। ख़ैर, कोई बात नहीं, कभी हम भी शक्तिवान होंगे, तब देख लेंगे कौन हमारा सन्देश नहीं सुनता।

स्थायित्व और उत्तेजक व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए समसामयिकता के विरुद्ध अतीत एवम् परम्परा को लाकर खड़ा किया जाता है। परम्परा के साथ जुड़ते ही हमारा अपना कथ्य नैतिक आलोक से मण्डित हो जाता है। यह समझा जाता है कि परम्परा स्वतःसिद्ध प्रमाण है। वह विवेक का स्थान ले लेती है। परम्परा की चेतना एक आत्मिक शक्ति, अडिग निष्ठा अवश्य प्रदान करती है। समस्या का समाधान हो या न हो, किन्तु इच्छाशक्ति को अपूर्व दृढ़ता अवश्य प्राप्त हो जाती है। जीवन की यथार्थ स्थितियों पर हम झल्लाते हैं, उन्हें कोसते हैं जैसे वे प्रेत हों, और महावीर की भाँति अतुलित शौर्य से भरकर पर्वत को ही उखाड़ ले चलने पर तुल जाते हैं। लेकिन जीवन की स्थितियाँ प्रेत नहीं हैं। वे स्थितियाँ हैं।

(२)

सेण्ट ऑगस्टीन ने कहा है, "जिसे हम ईसाई धर्म कहते हैं, वह प्राचीन लोगों में भी विद्यमान था। उस धर्म का अस्तित्व मानव जाति के आदि से

स्वयम् ईसा के आगमन तक कभी भी खण्डित नहीं हुआ। पहले से ही विद्यमान उसी सत्य धर्म को लोग ईसाई धर्म कहने लगे।" कुछ इसी भाँति अनादि सनातन धर्म की कल्पना को पुष्ट करते हुए कृष्ण ने भी कहा है कि जब वह ग्लानि को प्राप्त होने लगता है, तो भगवान् अवतार लेकर उसका पुनः संस्थापन करते हैं।

जो आज कहा जा रहा है, उसे पहले से ही विद्यमान करने का यह अद्भुत और रोमांचकारी आग्रह विभिन्न देश एवम् काल के विचारकों, प्रचारकों और जनसाधारण में इतनी अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ता है कि इसे हम मनुष्य-मात्र की सामान्य प्रवृत्ति मान सकते हैं। एक तरह से यह जीवनदायिनी प्रवृत्ति भी है, बशर्ते कि हम इसकी सीमाओं को भली प्रकार ध्यान में रखें और विवेक को हाथ से न जाने दें। इतना स्पष्ट है कि सेण्ट ऑगस्टीन का आशय यह कदापि नहीं है कि ईसा का धर्म पुनरुक्ति-मात्र है, अथवा जिन लोगों ने उसको ईसाई धर्म कहा, उन्होंने ग़लती की।

आज जो कहा, लिखा, सोचा, समझा, खोजा या सिरजा गया है, उसे जब हम परम्परा से प्रमाणित करते हैं तो इसके तीन तात्पर्य हो सकते हैं: (१) यह कथ्य अथवा कृति हूबहू वही है जो पहले थी, दोनों में तिल-मात्र भी अन्तर नहीं है; (२) यह कथ्य अथवा कृति रूप में भिन्न है, परन्तु अर्थ में पहले के समान है; तथा (३) यह कथ्य अथवा कृति रूप में एवम् अर्थ, दोनों में भिन्न है, केवल परिप्रेक्ष्य लक्ष्य, ऐषणा की सूक्ष्म समानता देखी जा सकती है। अल्प चिन्तन से ही स्पष्ट हो जायेगा कि इन तीनों तात्पर्यों में आकाश-पाताल का अन्तर है, परस्पर-विरोध भी है। होता यह है कि हम इस अन्तर्विरोध को सुलझाये बिना सुविधानुसार इन तीनों तात्पर्यों का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार तर्क-दुष्टता एवम् कुटिलता को जन्म देते हैं।

परम्परा का पहला तात्पर्य मात्र पुनरुक्ति को प्रमाणित करता है जिसकी कोई सार्थकता इतिहास, चिन्तन अथवा कलात्मक सृजन के क्षेत्रों में नहीं है। दूसरा आशय स्पष्ट है और परम्परा के असली रूप, अर्थात् वर्तमान में हमारा अस्तित्व अतीत से परिभाषित और निर्मित होना चाहिए, इस मन्तव्य को प्रकाशित करता है। इस अर्थ का विश्लेषण हम बाद में करेंगे। पहले हम तीसरे तात्पर्य की जाँच करें जो इतना सूक्ष्म और वायवी है कि आज के किसी कथ्य और कृति का सम्बन्ध इस कसौटी पर किसी भी देश या सभ्यता से जोड़ा जा सकता है।

पण्डित नेहरू 'डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया' में अतीत के अविस्मरणीय मूल्यों को गिनाते हुए कहते हैं: "भारतीय जन के युग-युगव्यापी मनोहर स्वप्न,

पूर्वजों की बुद्धिमत्ता, हमारे पुरखों की उमँगती हुई स्फूर्ति तथा जीवन एवम् प्रकृति के प्रति उनका प्रेम, कुतूहल एवम् बौद्धिक पराक्रम की वृत्ति, उनके विचारों का विक्रम···सत्य, सौन्दर्य एवम् स्वातन्त्र्य के प्रति उनका आकर्षण ······जीवन के रहस्यमय व्यापारों की समझ, अपने से भिन्न पन्थों के प्रति सहिष्णुता, अपनी एवम् अन्य जातियों की सांस्कृतिक उपलब्धियों को आत्मसात् करने की क्षमता (आदि आदि)···यदि भारत इन सबको भूल जायेगा, तो वह भारत नहीं रह जायेगा।" तीसरे तात्पर्य में गुणों की सूची यहाँ संक्षिप्त है। किन्तु इस ढंग से बिना खटके हम इस सूची को बढ़ाते-बढ़ाते विशाल ग्रन्थ का रूप दे सकते हैं। कोई यह नहीं कह सकेगा कि हम झूठ बोल रहे हैं।

प्रश्न यह है कि क्या यह व्याख्या परम्परा की ओर से किये गये दावे को पूरा करने अर्थात् भारत को भारत के रूप में (चीन, जापान, फ्रांस या रूस से भिन्न) परिभाषित करने में सफल होती है? और क्या इससे हमें ऐसा कुछ मिलता है जो आज मानव-मूल्यों की खोज में हमें दूसरों से विशिष्ट स्थायित्व प्रदान कर सके? क्या यही वह चमत्कारपूर्ण, गुह्य, भारत का सांस्कृतिक सन्देश है जिसको संसार ने अब तक न सुना है, न अनुभव किया है? कौन ऐसा देश है, कौन ऐसी जाति है जिसके पुरखों में ये गुण न हों, या जो मानने को तैयार हो जाये कि उसके पुरखों में ये गुण नहीं थे? कौन ऐसा समसामयिक कथ्य, कलात्मक सृजन या प्रचार है जो इस अर्थ में भारतीय परम्परा के बाहर पड़ता हो? क्या भारतीय परम्परा की ऐसी परिभाषा सम्भव है जिसमें एकसाथ कालिदास, चाणक्य, अजन्ता, बिहारीलाल, सुमित्रानन्दन पन्त और गुरु गोलवलकर तो आ जायें, परन्तु दान्ते, शेक्सपीयर, पिकासो, बर्नार्ड शॉ और मुसोलिनी छूट जायें? और अन्त में, भारत यदि भारत न रहकर फ्रांस हो जाये (यदि ऐसा अजूबा सम्भव हो) तो ऊपर की सूची में से फ्रान्स की परम्परा के अनुसार कौन-सा गुण हमें छोड़ना पड़ेगा?

पण्डित नेहरू चले तो भारत की खोज करने, लेकिन पहुँचे मानवता की सार्वभौम संस्कृति के पास—जिसका सम्बन्ध समसामयिकता से अधिक है, परम्परा से कम। इसमें सन्देह नहीं कि वे सही स्थान पर पहुँचे हैं, फिर भी इसे 'परम्परा' मानने का लोभ नहीं छोड़ पाते। न जाने क्यों? सच तो यह है कि मूल्यों, आदर्शों, प्रतिमानों का निर्धारण हम आज अपनी समसामयिक स्थिति में करते हैं और जैसे रूसो अपनी आदर्श नारी की कल्पना एक के बाद दूसरी प्रेयसी पर आरोपित करके स्वयम् आकर्षित होता था, वैसे ही हम आज के मूल्यों को प्रायः अतीत पर आरोपित करते हैं। यथार्थ का यह आदर्शीकरण मनुष्य का, विशेषतः आधुनिक मनुष्य का, गहन अभिशाप है। कभी

हम किसी वर्तमान देश या समाज-व्यवस्था को आदर्श मानकर मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं, कभी किसी विशेष अतीत पीड़ा को। नारी के सत्य से साक्षात्कार होने पर रूसो को जो गहन पीड़ा होती थी, अतीत के सत्य के उभर आने पर होने वाली पीड़ा उससे नहीं अधिक व्यापक है।

मैं यह नहीं कहता कि परम्परा नाम की वस्तु है ही नहीं। परम्परा केवल एक है, मानव-मात्र की सार्वभौम परम्परा, जो समसामयिकता से नियमित होती है। आक्षेप किया जा सकता है कि यह दृष्टि राष्ट्रीयता को निराधार कर देती है। कुछ अंश तक मैं यह आक्षेप स्वीकार करता हूँ। जो लोग 'यूरोपीय परम्परा' के घोर राष्ट्रीयतावादी हैं, वे भी अब राष्ट्रीयवाद को 'किन्तु-परन्तु' से विशेषित करके रखने लगे हैं। मेरी कोशिश तो सिर्फ़ इन परस्पर-विरोधी परन्तु को, हो सके तो, 'निष्परन्तु' वाक्य में समन्वित करने की है। अगर समान अतीत की चेतना और समान वर्तमान की चेतना में मुझे चुनाव करना हो तो मैं निश्चय ही वर्तमान को चुनूँगा। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो एशिया में राष्ट्रीय जागरण इस रूप में यूरोप से अलग भी है। एशियाई राष्ट्रीयता के इतिहास में हम एशिया और राष्ट्रीयता में से किसके प्रति अधिक आस्थावान हैं, कहना कठिन है। हमारा एशियापन समान वर्तमान की चेतना है, हमारी राष्ट्रीयता समान अतीत की। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के प्रभाव में हमने जो समान अतीत की खोज पर राष्ट्रीयता का महल बनाना शुरू किया, वह अन्त तक खण्डित ही रह गया। हमने भरसक समझा कि 'भारत-भारती' का अतीत पर्व और मुसद्दस-हाली का अतीत पर्व एक ही वस्तुएँ हैं, लेकिन एक बृहद् विवाद खड़ा हो गया। यहाँ तक कि लोग समान वर्तमान को भूल गये और तब अतीत ने अपना बदला लिया। आज भी पाकिस्तान की आन्दोलनकारी शक्ति समान अतीत की उग्र चेतना ही है जो समान वर्तमान को हठपूर्वक खण्डित करने के लिए विचित्र रूपों में प्रकट होती है। समसामयिकता का नैतिक दायित्व पाकिस्तान के चिन्तक को समझाना (यदि वहाँ इस दिशा में विचार करने वाले हों) अत्यन्त कठिन होगा। सौभाग्य से इतनी कठिनाई भारत में नहीं है। लेकिन हमारी जो बन्धुत्व-भावना मिस्र के प्रति है, उसमें समान अतीत की नहीं, समान वर्तमान की ही चेतना है। इसकी ओर कितनों की तार्किक दृष्टि जाती है?

वे जो परम्परा का उपयोग दूसरे अर्थ में करते हैं, ज़्यादा स्पष्ट और दृढ़ बात करते हैं। वे अतीत को निराधार नहीं बनाते, किन्तु वर्तमान को उसी के शिकंजे में कस देना चाहते हैं। उनके अनुसार भारतीय परम्परा में यदि कालिदास और बिहारीलाल राजाश्रय में कविता लिखते थे तो आज के कवि

को मन्दिरों के दरबार में प्रशस्ति लिखनी चाहिए। वर्तमान जीवन की जो समस्या, जो प्रश्न, जो दुरूहता अतीत के चौखटे में नहीं आती, वह अशिव है, त्याज्य है, गर्हित है। वे जीवन को सरल रेखाओं में बाँट देते हैं और इस प्रकार जो है, उसे विकृत करते हैं। स्वभावतः यह दृष्टि व्यक्तित्व को खण्डित कर देती है, आत्मा की आवाज़ को सुला देती है, मानवीय दुःखों के प्रति उदासीनता या उपेक्षा को जन्म देती है, और हमें सदा के लिए मध्ययुगीन बनाकर छोड़ देती है। हम समस्त मानवता से पृथक् हो जाते हैं। यहाँ विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है, परन्तु इतना संकेत किया जा सकता है कि तार्किक विश्लेषण के उपरान्त इसकी परिणति नैतिकता की उस कुख्यात कसौटी में होती है कि जो जितना पुराना है, उतना ही शुभ है; जो जितना नया है उतना ही अशुभ है। शायद ऐसी ही विडम्बना में पड़कर आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व गौतम ने विद्रोह का झण्डा उठाया था। इतने दिनों तक उस दर्शन को बिलकुल भूल जाने के बाद इस बीसवीं शताब्दी में आज फिर हम उस ओर वेग से आकर्षित हो रहे हैं, क्योंकि गौतम के चिन्तन का ढंग समसामयिक है, नितान्त समसामयिक है, इतना कि बिलकुल हमारा अपना लगता है। नयी पीढ़ी के कवि कुँवरनारायण के शब्दों में :

उदार दार्शनिक
तुम्हारे दर्शन में अपनी विकलता पाता हूँ
अपनी विकलता में तुम्हारा दर्शन पा सकूँगा या नहीं।

यदि हम ध्यान से देखें तो परम्परा का यह अर्थ भी समसामयिकता से मुक्ति दिलाने में असमर्थ है। चाहे हम सेण्ट ऑगस्टीन के प्रमाण को अक्षरशः क्यों न मानें, लेकिन उन लोगों को ग़लत नहीं सिद्ध कर सकेंगे जिन्होंने ईसाई धर्म का नामकरण किया। क्योंकि प्रश्न तब भी उठता है कि हम यदि बात वही कह रहे हैं, तो भी उस परिवर्तन की, जिसे हम रूप-परिवर्तन मात्र कह रहे हैं, क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न नगण्य इसलिए नहीं है कि इतना ही तो हमारा योगदान है, उसे हम आवश्यक नहीं सिद्ध कर लेंगे तो हमारी सार्थकता क्या रह जायेगी ? जैसे ही हम इस प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ करेंगे, हमें समसामयिकता से जूझना पड़ेगा। यह अलग बात है कि हम यथार्थ को केवल विकृत करने में ही सफल हों। फिर हर अनुभूति, चिन्तन अथवा दृष्टि अखण्ड, सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न होती है। अतीत की अनुभूति को जब हम कलेवर और आत्मा, रूप और अर्थ, नगण्य और महत्त्वपूर्ण की कोटियों में बाँटते हैं तो जाने-अनजाने यहाँ भी हमारी कसौटी समसामयिक ही होती

है, सिर्फ़ वह सुचिन्तित विवेक के स्थान पर भावुक पूर्वग्रह की कसौटी होती है।

एक बात और। यह दृष्टि एक बड़े पैमाने पर अतीत का आकलन करने में भी असमर्थ होती है। परम्परा के साग्रह आवेश के बावजूद भी, यह समस्त अतीत को 'तत्त्वों' का एक महाकोष बना देती है। बैंक बैलेन्स की तरह संस्कृति के यह बहुत से विच्छिन्न और असमन्वित तत्त्व हमारी जातीय स्मृति में पड़े रहते हैं जिन्हें हम समय-समय पर निकालकर पेश करते रहते हैं। धीरे-धीरे जीवन का समस्त व्यापार धुरीहीनता, अवसरवाद, अनैतिकता और दयनीय निरर्थकता का गोरखधन्धा बन जाता है। इसलिए समसामयिकता के धरातल पर नये मूल्यों का अवगाहन करने और उनके प्रति प्रतिश्रुत होने के पक्ष में हम हैं नहीं, और अतीत के मूल्य हमारे लिए 'तत्त्व' मात्र हैं। अतीत को इच्छानुसार बदल कर सामयिक स्थिति में प्रयुक्त कर लेने का लोभ छूटे नहीं छूटता। कौन है जो आज तुलसीदास की भावभूमि पर काव्य लिखना चाहेगा? लेकिन तुलसीदास की परम्परा में खड़े होने का दावा सब का है। परम्परा एक बहुमुखी मार का अस्त्र है। हर वाक्य में इसका अर्थ बदलता है। और अनैतिकता की पहली शर्त है—पल-पल पर 'नरो वा कुँजरो' का पारायण। यह नहीं कि अतीत इस दुष्ट प्रयोग का प्रतिशोध नहीं लेता। जिस पीढ़ी से पराक्रमी अतीत प्रतिशोध लेता है वह भगीरथ की भाँति हज़ार वर्ष तक केवल एक अँगूठे पर खड़ी हठयोग करती रह जाती है। इस बीच राजा सगर का राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। भाग्यवान थे हमारे पूर्वज विचारक और कृतिकार कि उनके लिए आज एक ही साथ ग़लत और सही दोनों होना सम्भव है। हम समसामयिक विचारकों, कलाकारों को इतनी छूट कौन देता है?

इस विवेचन से क्या निष्कर्ष निकलता है? तर्कशः अपने साकार अतीत के साथ सह-अस्तित्व के अलावा और कोई सार्थक एवम् ऋजु सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। और 'सह-अस्तित्व' के महत्त्वपूर्ण शील हैं दोनों की अखण्ड प्रभुता की स्वीकृति और परस्पर अतिक्रमण का निषेध। इतिहास से आँख बचा लेना सम्भव नहीं है और इतिहास एक अनिरुद्ध गति है। किन्तु इस गति का अर्थ मात्र प्रवाह नहीं है। वह एक रासायनिक प्रक्रिया है जो निरन्तर तत्त्वों को घुलाती रहती है और सर्वथा नवीन तत्त्वों को जन्म देती रहती है। इसीलिए इतिहास की स्वीकृति समसामयिकता की स्वीकृति है। या तो हम अधूरेपन और पूर्वग्रह के कारण उस स्वीकृति को अनैतिक और अयथार्थ बना दें या नितान्त समसामयिकता के नैतिक दायित्व को मानें, चाहे इसमें कितनी

ही पीड़ा हो। इतिहास के साथ हमारा उलझाव तो हर हालत में अनिवार्य है। यही नहीं, हमने इसे स्वीकार भी कर लिया है और काफ़ी हद तक यह विवाद का विषय नहीं रह गया है।

: ३ :

भारतीय जीवन और परिस्थिति की ओर एक सतही दृष्टि डालने से भी स्पष्ट हो जायेगा कि इतिहास के साथ हमारा 'उलझाव' केवल दो-चार अधकचरे लोगों के मस्तिष्क की कुण्ठाग्रस्त कल्पना नहीं, बल्कि वास्तविकता है। इस परिचित तथ्य को दुहराना अनावश्यक प्रतीत होता है कि आधुनिक युग की उपलब्धियाँ राजनीति, विज्ञान, विभिन्न विद्याओं तथा अन्य सभी क्षेत्रों में हमारे जीवन का अंग बन गयी हैं। वे हमारे सामने जीवन्त सुविधा और समस्या के रूप में खड़ी हैं। लेकिन प्रायः इस बात की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता कि जैसे-जैसे समय बीतता जायेगा, इतिहास के साथ हमारा यह उलझाव गहन होता जायेगा। परिवर्तन और गति की यथार्थता मात्र को अस्वीकार करने वाले हमारे प्राचीन तार्किक चिन्तकों ने बिल्कुल ठीक समझा था कि गति को अंशतः मान लेने के बाद फिर 'बस यहीं तक, आगे नहीं' कहने की गुंजायश तर्क में नहीं रह जाती।

वे जो संस्कृति को सतही दृष्टि से न देखकर गहरे डूबने के अभ्यासी हैं, कहते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति की आत्मा है गति और पूर्व की आत्मा है शान्ति। यदि हम इस विभाजन को मान भी लें, तो भी इतना निर्विवाद है कि पूर्व ने बड़े वेग से गति को स्वीकार कर लिया है। भारत में कौन है जो हरिनाम की भाँति दिन रात प्रगति का जाप न करता हो? और चीन ने तो डंके की चोट पर शान्ति को जाति-बहिष्कृत कर दिया है। पूर्व के दो महारथी गिर गये तो आध्यामिक शान्ति का गढ़ लंका बने अथवा अण्डमान-नीकोबार, हमारे चिन्तन की समस्या तो उससे हल नहीं होगी। तार्किक ऋषियों की सन्तान भारतवासियों को रह-रहकर असम्भव वांछाएँ धर दबाती हैं। हम उन तार्किकों के तर्कों को तो नहीं मानना चाहते, किन्तु उनके निष्कर्षों से चिपटे रहना चाहते हैं। हम पुनर्जन्म और कर्मफल को तो अन्धविश्वास कहकर टालना चाहते हैं, लेकिन कला के क्षेत्र में प्राचीनों की तरह कट्टर 'पोएटिक जस्टिस' की माँग करते हैं। हमारे कर्मों के बावजूद भी दुःख होता है और उसको सहनीय तथा निवारणीय बनाने के लिए नये मूल्यों, नयी अनुभूतियों की आवश्यकता है, इसे हमारा कर्मफल-संस्कारी मन मानने को तैयार नहीं होता। जब नया लेखक आस्था की नींव हिला देने वाले इस उग्र नैतिक

प्रश्न को उठाता है तो हम शिकायत करते हैं : इसने हमें चौंका दिया। जब गौतम ने आरम्भ किया होगा : 'दुःख है......' तब भी लोग इसी तरह चौंके गये होंगे।

दो महायुद्धों के बीच भारत के दो प्रमुख चिन्तकों के नाम मैं लेना चाहता हूँ—मानवेन्द्रनाथ राय और योगी अरविन्द। दोनों ही चिन्तन के दूरतम ध्रुवान्तों पर हैं। लेकिन अपने-अपने स्थान से दोनों एक ही समस्या—गति—का ही समाधान निकालने में व्यस्त हैं। दोनों के लिए विकास, गति, प्रगति एक सार्थक वास्तविकता है जिसकी स्वीकारोक्ति के बाद ही चिन्तन की क्रिया आरम्भ होती है। जो इन ध्रुवान्तों के विषय में सत्य है, वह बीच के कटिबन्धों के विषय में भी सत्य है।

गति को मान लेने के बाद हमारे लिए 'ऐतिहासिक परिवर्तन', 'युग-भावना', 'सामाजिक संकट' जैसे शब्दों को समझना और मानना आसान हो जाता है। साहित्य और कला एक ओर अपने युग की समूची चेतना-प्रक्रिया का और दूसरी ओर युगों-युगों से प्रवाहित रासायनिक प्रक्रिया का अंग बन जाती है। इतना तो शायद सभी मान लेंगे। लेकिन मेरी समझ में इससे कुछ और भी नतीजे निकलते हैं। हमें यह मानना पड़ेगा कि पुराने विचार और मूल्यों के मानदण्ड स्थायी नहीं हैं। वे नाकाफ़ी साबित हुए और झूठे पड़ गये। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि आज हम जिन मूल्यों का आग्रह कर रहे हैं, वे भी आगे चलकर नाकाफ़ी साबित होंगे और झूठे पड़ जायेंगे। फिर भी हमें आज की स्थिति को अर्थ तो देना ही है। बेशक यह एक विडम्बना है, लेकिन इस विडम्बना से छूटने का रास्ता कहाँ है? हमारा सारा अस्तित्व सहसा एक विशाल प्रवाह में पहुँच जाता है? क्या हम इस प्रवाह को कोई दिशा दे सकते हैं? क्या हम इसकी दिशा का संकेत पा सकते हैं? ये दार्शनिक प्रश्न हैं, लेकिन दर्शन से अधिक कलाकार की अनुभूति उनका साक्षात्कार करती है। व्यास ने अर्जुन को जो विराट् रूप दिखलाया, उसमें केवल गति है, केवल गति। तुलसीदास के काकभुशुण्डि ने जो रूप देखा, वह भिन्न है—उसमें सारी गति के बावजूद एक राम हैं जो सर्वत्र समान हैं; जो स्थिर हैं, स्थायी हैं। इसीलिए काकभुशुण्डि को डर नहीं लगता, लेकिन अर्जुन रोमांचित, भयभीत एवम् विनीत होकर आँखें मूँद लेता है। वह स्थायी सत्य, वह राम, हमें इस लोक में कौन देगा? यदि हम इतिहास, गति, समसामयिकता को आधे हृदय से अपनाते हैं तो अच्छा हो कि हम तुलसीदास की भावभूमि और सामाजिक चेतना की ओर लौट जायें, नहीं तो दूसरा नैतिक रास्ता केवल यह है कि हम समसामयिकता को नितान्त बना डालें। रोमांच और त्रास को

मानकर चलें। स्थायी सत्य के बजाय अनुभूति की सार्थकता को लक्ष्य मान लें। जहाँ तक हमारा विवेक हमें ले जाता है, आस्था को हम वहीं तक सीमित रखें।

इसीलिए समसामयिक कलाकार मानव-मूल्यों के प्रश्न को सतत खोज और तात्कालिक सार्थकता के रूप में ग्रहण करता है। उसका अस्त्र विवेक होता है, श्रद्धा नहीं। उसके लिए मानवतावाद का केवल एक ही अर्थ होता है : सबके ऊपर मनुष्य ही सत्य है। उसके ऊपर कुछ भी नहीं है। मनुष्य ही समूचे सत्य का मानदण्ड है, कोई दिव्य सत्ता नहीं। मनुष्य सत्य को नापता है, सत्य मनुष्य को नहीं नापता। मूल्यों की इस समसामयिक खोज की सीमारेखाएँ ये हैं : जिस मनुष्य की बात हम कर रहे हैं, वह कल्पना की वस्तु नहीं है; हम, आप, लघु परिवेश के लघु मनुष्य–हैं; सत्य की व्याख्या सम्पूर्ण नहीं होती, केवल कम-से-कम एकांगी बनायी जा सकती है; अनुभूति की सार्थकता का उद्देश्य है कि जो वास्तविक यथार्थ है, उसे हम कम-से-कम बहिष्कृत और अधिक-से-अधिक आत्मसात् करें। हम आप जितना शुभ है, उसके भागीदार हैं; जितना अशुभ है, उसके भी भागीदार हैं; हमारे प्रतिमान वर्तमान में सार्थक होने चाहिए, न सुदूर अतीत में, न सुदूर भविष्य में।

इतिहास के साथ हमारे 'उलझाव' को काफ़ी हद तक बीसवीं शताब्दी में हिन्दी के साहित्यकारों ने स्वीकार कर लिया है। हमें अपने को जानने के लिए इतिहास की ओर जाना पड़ेगा, इसी अनुभूति से भारत-भारती का आरम्भ होता है। लेकिन पुनर्जागरण काल में इतिहास की भावना समान अतीत की खोज तक सीमित है। इसीलिए भारत-भारती का 'हम' संकुचित है। छायावाद-सत्याग्रह–युग में अतीत पर समान वर्तमान की छाया पड़ने लगती है और हमारा 'हम' फैलकर सारे राष्ट्र से एकात्म हो जाता है। "लेकिन दुनिया के बीच एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में खड़े होते ही इस 'हम' का एक अत्यन्त त्रासद रूप हमारे सामने आया। धक्के के साथ हमारी कल्पना में एक व्यापक स्वप्न झलका : इस 'हम' का अर्थ सारी मानवता भी हो सकती है। इस आकस्मिक अनुभूति के साथ आज की मानवता की अपराध-भावना भी हमारी चेतना में कौंध गयी।" (इसके व्यापक विवेचन के लिए देखिये 'आलोचना' ११ : अप्रैल, १६५४ का सम्पादकीय, 'साहित्यकार और उसका परिवेश।') समान अतीत और समान वर्तमान के बीच चुनाव करने की समस्या हमारे सामने आज बिल्कुल स्पष्ट है। इस जलते प्रश्न को टाला नहीं जा सकता।

हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों और साहित्यकारों ने पहली बार समसामयिकता के प्रश्न को सशक्त रूप में यथेष्ट आग्रह के साथ उठाया। लेकिन प्रश्न से अधिक उनकी रुचि उस उत्तर में थी जो उनके पास बना-बनाया मौजूद था। उसका विवेचन हम आगे करेंगे। लेकिन उनके इस महान् योगदान को भुलाया नहीं जा सकता कि जिस समय छायावाद सिर्फ़ प्रामाणिक परम्परा की बहस में उलझा हुआ था, उस समय उन्होंने वर्तमान यथार्थ को सामने लाकर खड़ा कर दिया। चूँकि छायावाद परोक्षतः वर्तमान को मान ही चुका था, इसलिए उसे आत्म-समर्पण करते देर नहीं लगी। यह कहा जा सकता है कि १९३० के आसपास सारे देश, और फलतः हिन्दी के सभी साहित्यकारों में समसामयिकता की ओर महत्त्वपूर्ण, किन्तु अप्रत्यक्ष उन्मेष दिखलाई पड़ता है। लेकिन प्रगतिवादियों ने इस उन्मेष को जागृत और तेजस्वी स्वरूप दिया, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

लुई मॅकनीस ने कहा है कि, "कवि को शरीर से चाक-चौबन्द, बहस में रस लेने वाला, अख़बार पढ़ने वाला, करुणा और मुक्तहास्य में समर्थ, अर्थशास्त्र से परिचित, स्त्रियों का प्रशंसक, व्यक्तिगत सम्बन्धों में उलझा हुआ, राजनीति में सक्रिय रुचि रखने वाला और भौतिक प्रभावों को ग्रहण करने के योग्य होना चाहिए!" इस कवि को देखकर पं० पद्मसिंह शर्मा तो चौंकेंगे ही, बड़े बाल वाले छायावादी कवि को भी घबराहट महसूस होगी। वे उसके उन गुणों की सूची में से कुछ को अवश्य छोड़ देने की सुविधा चाहेंगे। लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रगतिवादी, और नयी पीढ़ी के अन्य लेखकों के लिए यह कवि परिचित मित्र है। उसके साथ वे दिन-रात उठते-बैठते हैं। इतना ही नहीं, वे यह भी समझते हैं कि अन्य सभी चेहरों के बीच वही मानवता के प्रति सबसे अधिक गम्भीर और ईमानदार है। शेष केवल अपने को या औरों को धोखा देते हैं।

लेकिन समसामयिक होना ही काफ़ी नहीं है, अगर हम ईमानदारी बनाये रखना चाहते हैं तो हमें नितान्त समसामयिक होना पड़ेगा। हमें एक दूसरे ख़तरे से भी सचेत होना पड़ेगा। जिस वर्तमान का दबाव हमारे ऊपर है उसकी नैतिकता की बलि एक दूसरी वेदी पर भी दी जाती है। वह वेदी है भविष्य की। और तब विचारों में रोटी-बनाम-स्वतन्त्रता, शक्ति-बनाम संस्कृति, पुरुषार्थ-बनाम-नियतवाद, साधन-बनाम-साध्य आदि के भटकाने वाले अन्तर्विरोध पैदा हो जाते हैं। इतने ही तक होता है, तो यह केवल नैयायिकों-दार्शनिकों के सिर खपाने की चीज़ होती। हमारी-आपकी अनुभूति के लिए इसके प्रति सतर्कता आवश्यक न होती। लेकिन कल्पित भविष्य की साधना

में हम आज जितने मानवीय दुःखों को नज़र-अन्दाज़ कर जाते हैं, जितने अन्यायों को चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं, जितना असत्य और आडम्बर बरदाश्त कर लेते हैं, यही नहीं, हम स्वयम् जितनी अमानुषिक क्रूरता हिंसा, और बर्बरता पर उतर आते हैं, वह अब केवल तार्किकों-दर्शनिकों की वस्तु नहीं रह गई है।

हो सकता है कि हमारा भविष्य नियत हो लेकिन प्रश्न यह है कि क्या हम नियति के इस रहस्य का उद्‌घाटन व्यावहारिक निश्चय के साथ कर सकते हैं? ज्ञान का हर कण अज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। यह नहीं कि ज्ञान का विस्तार नहीं होता; या भौतिक जगत् का जो हमारा ज्ञान है, उससे मनुष्य की स्थिति में अन्तर नहीं आता। लेकिन ज्ञान के अनन्त विस्तार के बाद भी पूर्ण ज्ञान की सुन्दर सम्भावना की आशा करना निर्मूल है। यदि हम भविष्य को निरपेक्ष, सम्पूर्ण और आदर्श नियति मानकर चलेंगे तो हमारी आज की स्थिति इतनी सापेक्ष हो जायेगी कि उसे अर्थ देना असम्भव हो जायेगा। परिणाम यह होगा कि हमारे सोचने का ढंग हो जायेगा: 'पहले हम रोटी की समस्या हल कर लें, तब फिर स्वतन्त्रता का प्रश्न उठायेंगे। जब तक हम आर्थिक प्रश्नों को सुलझा नहीं लेंगे तब तक संस्कृति-निर्माण का काम बन्द रहेगा; हमें केवल क्रान्ति और क्रिया के पक्षपात, आग्रहपूर्वक समर्थन में ही अपना दायित्व निभाना है, जिन मूल्यों के लिए हम क्रान्ति कर रहे हैं, जिस मुक्त अखण्ड व्यक्तित्व की उपलब्धि के लिए हमने समाज को चुनौती दे रखी है, उसकी चर्चा आज करना अनावश्यक है।' संस्कृति और स्वतन्त्रता को एक बार स्थगित कर देने से, मात्र क्रिया के प्रति पक्षधर हो जाने से एक तरह की अन्ध आस्था और दृढ़ता हमें मिल जाती है। लेकिन यह क्रिया-भक्ति संस्कृति को हमेशा के लिए स्थगित कर देती है। हर क़दम पर भविष्य टलता जाता है। दूर खड़ा हुआ पूर्ण सत्य हमें भटकाता रहता है। स्वतन्त्रता के नाम पर हम दासत्व को स्वीकार कर लेते हैं, भावी भौतिक सुख के नाम पर हम आज के भौतिक सुखों को भी तिलांजलि देते हैं, बाईसवीं शताब्दी के सुख के लिए हम आज की पीढ़ी की कमर तोड़ देते हैं। जनतंत्र के लिए हमारा संघर्ष फ़ौजी तानाशाही में बदल जाता है। और फिर जिसे हमने अस्थायी रूप में अपनाया था, वह चिरन्तन हो जाता है। शक्ति के विकेन्द्रित होने के, राज्य के मुरझाकर गिर जाने के कोई लक्षण नहीं दिखलाई पड़ते। नैतिकता अनैतिकता बन जाती है।

यह सब हमारे लिए परिचित परिथिस्तियाँ हैं। हमको दूसरे उपाय खोजने ही होंगे। अब से हज़ार साल बाद आने वाले पूर्ण ज्ञान के आसरे हम बैठे नहीं

रह सकते। मनुष्य को नित्य अपूर्ण वर्तमान में ही पूर्णता के बोध और अनुभूति का कोई मार्ग ढूँढना होगा। बेशक अस्तित्व में क्रिया न्यस्त है, लेकिन सब प्रकार की क्रिया के मूल में अस्तित्व ही है। प्रत्येक क्षण एक ही साथ काल का निःसीम स्रोत भी है और अखण्ड इकाई भी। क्षण की इस दुहरी चेतना के आधार पर ही हम अपनी ईमानदारी, और गहराई के साथ क्रियाशीलता भी क़ायम रख सकते हैं। इस सतत प्रवाहशील जगत् में हम केवल अस्थायी साम्प्रतिक आस्था को ही सार्थकता दे सकते हैं। समसामयिकता का तत्व इसी साम्प्रतिकता, तात्कालिकता में है। मैं मानता हूँ कि यह स्थिति अधूरी, दुःखभरी और अनिश्यात्मक है, लेकिन ईमानदारी के लिए दूसरा रास्ता नहीं है। विवेक इससे आगे अन्धकार को नहीं भेदता। क्षण और अनुभूति की दुहरी चेतना हमारे लिए अनिवार्य है। यही स्थिति हमें न केवल समसामयिक, बल्कि नितान्त समसामयिक होने के लिए बाध्य करती है। हमको भान होता है कि हम एक ही साथ साध्य भी हैं, साधन भी। हम छोटे हैं और हमें जितना दीखता है, वह अन्धकार से घिरा है। लेकिन अपनी दृश्य परिधि को ही हमें दिशा मानकर चलना होगा।

हिन्दी की नयी कविता ने काफ़ी हद तक इस समसामयिकता को अनुभूत किया है जो सार्थक काव्य की पहली शर्त है। धर्मवीर भारती के शब्दों में :

> बौना जिसको केवल दो पग देख रहा है
> दो पग आगे
> दो पग पीछे
> दो पग ऊपर
> दो पग नीचे
> दो पग की हो केवल जिसकी ज्ञान-परिधि है !
> कहाँ पड़ेगा ग़लत क़दम
> औ' मीलों लम्बी घाटी उसको खा जायेगी ?
>
> × × ×
>
> हारो मत, साहस मत छोड़ो
> मैं भी हूँ बौना, वामन हूँ
> किन्तु तीन पग माँगे हैं मैंने धरती से
> दो पग तुमको दीख रहा है
> उसे पार कर बढ़ो—
> तीसरा पग तो मुझमें सार्थक होगा

मुझ पर छोड़ो
—हर मनुष्य बौना है
लेकिन मैं बौनों में बौना ही बनकर रहता हूँ
हारो मत, साहस मत छोड़ो
इससे भी अथाह शून्य में
बौनों ने ही तीन पगों में धरती नापी !"

यह कहा जा सकता है कि क्षण की यह दुहरी चेतना अत्यन्त अनिश्चय-कारी है। यह बिना पूर्ण दिशा का बोध हुए ही हमें चलने को बाध्य करती है। वस्तुत: यदि विवेक हमें पूर्ण निश्चित दिशा का बोध नहीं देता, तो हमें आस्था के लिए अन्य मार्ग अपनाने चाहिएँ। ऐसा कहा भी गया है। बल्कि आज के योरपीय चिन्तन में विवेक-विरोधी स्वर निश्चय की प्राप्ति और संशय के विनाश के पक्ष में सबसे प्रमुख है। विवेक पर अनास्था, कुण्ठा, अनिश्चय, आत्मलीनता के आरोप लगाये जाते हैं। मैं कोई कारण नहीं देखता कि विवेक की बलि देने से यदि हमें निश्चय, दृढ़ता, संशयहीनता, विराटता और व्यापक सत्य प्राप्त हो जाये तो क्यों हम विवेक के बौने मार्ग-दर्शन से चिपटे रहें ? बेशक हमें अवश्य ऐसा देवता चाहिए जो हम में बौना बनकर न रहे, देखते-देखते विराट् हो जाये और हमें निश्चयपूर्वक दिशा का बोध करा सके। अनिश्चय और निश्चय के बीच कोई भी समझदार आदमी निश्चय को चुनना पसन्द करेगा।

लेकिन प्रश्न यह है कि विवेक को तलाक़ दे देने पर क्या हमें निश्चय की प्राप्ति हो जाती है ?

यहाँ योरप के समसामयिक चिन्तन में उन निश्चयवादी धारणाओं की छान-बीन करना समीचीन होगा जो बहुत सशक्त स्वरों में विवेक को अनिश्चयात्मक कहकर चुनौती दे रहे हैं। क्या वे अपने दावे में सफल हो सके हैं ? वस्तुत: यह प्रश्न केवल योरप के लेखकों और विचारकों के सामने ही नहीं, भारत के लेखकों और विचारकों के सामने भी प्रमुख है :

You know, my Friends,
how long since in my House
For a new Marriage I did make Carouse !
Divorced old barren Reason from my Bed
And took the Daughter of the Vine to Spouse.

—FITZGERALD.

अक्टूबर, १९५६

नितान्त समसामयिकता का नैतिक दायित्व-२

(४)

अनिश्चय के स्थान पर निश्चय, संशय के स्थान पर अडिग आस्था, त्रास के स्थान पर सम्पूर्ण निष्ठा का आश्वासन देने वाली दो विचार-पद्धतियाँ इस समय योरपीय चिन्तन में प्रमुख हैं : कम्युनिस्ट और कॅथोलिक। इन्हें विचार-पद्धतियाँ न कहकर कर्म-पद्धतियाँ कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि संशयहीनता की स्वाभाविक परिणति उग्र और निःसंकोच कर्म में होती है। चूँकि ये पद्धतियाँ पहली स्वीकृति के उपरान्त हर प्रकार की जिज्ञासाओं और शंकाओं के शमन का दावा करती हैं, इसीलिए इनका आकर्षण भी मोहक है। वे जो योरप में उदारपन्थी मानववादी कहलाते हैं, इन दो पद्धतियों द्वारा घोर आक्रमण के शिकार हुए हैं। इस आक्रमण का प्रमुख आरोप यही है कि मानववादी अनिश्चय में पड़ा हुआ, फूँक-फूँककर क़दम रखने की बात करता है, आज की परिस्थिति में उलझाव महसूस करता है, जबकि आवश्यकता इस बात की है कि इस उलझाव के बीच सत्य और असत्य की स्पष्ट सीमा-रेखा खींचकर मनुष्य को आगे की राह ठीक-ठीक दिखला दी जाय। कम्युनिस्ट और कॅथोलिक दोनों ही पद्धतियाँ, अपने-अपने ढंग से भविष्य में आने वाली नैसर्गिक व्यवस्था का स्वप्न देखती हैं। यहीं तक होता तो कोई विशेष बात नहीं थी। उनका विश्वास है कि यह नैसर्गिक व्यवस्था तो आकर रहेगी। और हमारी आज की नैतिकता इससे निश्चित होती है कि हम कितनी उग्रता या आग्रह के साथ उस आने वाले स्वप्न के पक्ष में अपने को प्रतिश्रुत कर दें। वर्तमान की सार्थकता मात्र इसमें है कि वह कितनी पूर्णता के साथ भविष्य का साध्य बन सकता है। जो कुछ हमारे लिए नैसर्गिक है, आदर्श है, श्रेय अथवा प्रयोजनीय है, वह भविष्य में आयेगा। आज हमारे लिए इतना ही कर्तव्य है कि उस आने वाले के लिए हर सम्भव उपाय से हम तैयारी करें। आज स्वयम् सीमित घेरे में उस आदर्श या आदर्श के आभास को चरितार्थ करने की चेष्टा करना भटकावा-मात्र है। भविष्य का यह स्वप्न अत्यन्त निर्भय होकर आवाहन करता है :

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणम् व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

शरणागत हो जाओ और सोचना बन्द कर दो। क्योंकि सोचने से संशय उपजता है। और 'संशयात्मा विनश्यति।' नैतिकता और आस्था का सार हैं—मा शुच।

सबसे पहले हम कम्युनिस्ट चिन्तक को लें। इसकी आधारशिला मार्क्स-वाद है। कहा जाता है कि मार्क्स ने समाजवाद को 'यूटोपिया' (Utopia) से विज्ञान तक पहुँचाया और कम्युनिस्टों ने इसको विज्ञान से कर्म तक पहुँचा दिया (From Utopia to Science and from Science to Action), अर्थात् आज की कम्युनिस्ट पद्धति मात्र मार्क्सवाद नहीं है। वह मार्क्सवाद से भी आगे कुछ है। वस्तुत: कम्युनिज़्म में मार्क्सवाद से आगे जो कुछ है, उसे यदि न माना जाय तो कम्यूनिज़्म की निस्संशय नैतिकता वर्तमान के तमाच्छादित कुहासे को भेदने वाली तीखी ज्योति निराधार होकर रह जाती है। वह और कुछ क्या है?

मार्क्स ने इतिहास—सामाजिक परिवर्तन की एक व्याख्या प्रस्तुत की है। उसने इस परिवर्तन के कुछ नियम खोजकर निकाले और उनके आधार पर कुछ भविष्यवाणियाँ कीं। इन नियमों को उसने प्रगति का एकमात्र माध्यम बतलाया। यह हो सकता है कि मार्क्स ने जो नियम खोजे, वे पूर्णत: सत्य न हों; या उसने जो भविष्यवाणियाँ कीं, वे सभी, या उनमें से अधिकांश, या महत्त्वपूर्ण कुछ ग़लत साबित हुई हों। लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि मार्क्स की प्रणाली मूलत: मानव-विवेकी प्रणाली है और वर्तमान में कर्तव्य-अकर्तव्य का निणय करने के लिए सहायक हो सकती है। यह एक बात है कि आगे के वैज्ञानिकों ने नये साक्ष्य के आधार पर न्यूटन के सिद्धान्तों को ग़लत साबित कर दिया हो। किन्तु इससे न तो यह सिद्ध होता है कि न्यूटन की पद्धति वैज्ञानिक नहीं थी और न यही कि वैज्ञानिक पद्धति हमें केवल भ्रम की ओर ले जाती है। चाहे हम इतिहास की विवेचना से नये-नये निष्कर्ष निकालें (और नये साक्ष्य के आधार पर नयी विवेचना अनिवार्य है), परन्तु हमें यदि वर्तमान में जीना है तो निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया से हम नहीं बच सकते। इस प्रकार समसामायिक दृष्टि में 'प्रगति' की कल्पना अवश्यम्भावी है। किन्तु प्रगति की यह दृष्टि वर्तमान व्याख्या को केवल कल्पित प्रतिज्ञा (Hypothesis) मानकर चलती है, वह भविष्य को पूर्ण सत्य नहीं मानकर चलती जिसके परिप्रेक्षय में वर्तमान केवल सापेक्ष्य साध्य बनकर रह जाय।

कम्युनिस्ट चिन्तन में इतिहास परिवर्तन की एक गतिशील रासायनिक प्रक्रिया मात्र नहीं है, विज्ञान से कर्म की ओर संचरण करते हुए कम्युनिस्ट

चिन्तन इस प्रक्रिया को एक मूर्त रूप भी देता है। यह मूर्त रूप कम्युनिस्ट पार्टी है जो इतिहास के अस्त्र (Instrument of History) के रूप में उपलब्ध होती है। इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है। कम्युनिस्ट चिन्तन में पार्टी मात्र ऐसे व्यक्तियों का समुदाय नहीं है जो एक विशेष दिशा में सामाजिक परिवर्तन की कामना रखते हैं, जिस तरह से अन्य समाजवादी पार्टियाँ होती हैं। कम्युनिस्ट पार्टी व्यक्तियों और उनके समुदायों से ऊपर एक दार्शनिक तत्त्व है जिसमें 'इतिहास स्वज्ञ हो गया है' (History has become conscious of itself)। इस तरह कम्युनिस्ट होने के लिए केवल इतना ही मानना काफ़ी नहीं है कि समाज में परिवर्तन होता है या प्रयास करके लाया जा सकता है, बल्कि यह भी कि उस परिवर्तन का एकमात्र अस्त्र कम्युनिस्ट पार्टी है। कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त इतिहास का एक और अस्त्र है—वह है सोवियत् रूस। चूँकि ये दोनों वर्तमान में पूर्ण भविष्य की जागृत प्रकाश-रेखाएँ हैं, अत: वर्तमान की सारी नैतिकता, कर्म-प्रणाली और सार्थकता इनकी सफलता और शक्ति पर निर्भर करती है। जो इनके पक्ष में है, वह प्रगतिशील और नैतिक है; जो नहीं है, वह इसके विपरीत है।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि मार्क्स के वैज्ञानिक विश्लेषण को मानना एक बात है—और सोवियत् तथा कम्युनिस्ट पार्टी को इतिहास का अस्त्र मानना बिलकुल दूसरी बात है। पहली मान्यता में हम वैज्ञानिक विवेक का दामन नहीं छोड़ते। लेकिन हम कितना भी वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न क्यों न हो जायँ, या हमारा विश्लेषण कितना भी सम्पूर्ण क्यों न हो जाय, हम किसी तरह इस नतीजे पर नहीं पहुँच सकते कि अमुक पार्टी भी राज्य-दार्शनिक अर्थों में इतिहास का अस्त्र है। यह काम विवेक का नहीं—बल्कि धार्मिक प्रकार की श्रद्धा, भक्ति, आस्था, समर्पण, शरणागति—जो भी कह लीजिये, उसका है। क्योंकि इस आस्था का परिणाम है कि हम अपने स्वकीय चिन्तन को एक कल्पित सामुदायिक आत्मा के ऊपर भेंट चढ़ा दें।

एक तरह से यह श्रद्धा और आत्म-समर्पण उस अनिश्चय के शमन के लिए जिससे बुद्धिवादी बचना चाहता है, अनिवार्य भी है। क्योंकि निश्चय की खोज का तात्पर्य ही यही है कि हम इस सतत गतिशीलता में ऐसी दृढ़ता पर जायें जो औरों को तो हिला दे, लेकिन स्वयम् न हिले। जिसकी अपेक्षा में औरों की सार्थकता जाँची जा सके, परन्तु स्वयम् उसकी सार्थकता स्वसम्पूर्ण हो। वस्तुत: कम्युनिस्ट चिन्तन में इस (Unmoved mover) की कल्पना आवश्यक है, नहीं तो निश्चयात्मकता की प्राप्ति कैसे हो? इस तरह कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत् की भविष्य की स्वीकृति है जो वर्तमान की कसौटी है।

हमें विवेक को छोड़ने के लिए नियंत्रित किया जाता है, ताकि संशय से छुटकारा मिल जाये।

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या हमें सचमुच निश्चय, संशयहीनता की प्राप्ति हो पाती है ? इतना बड़ा मूल्य चुकाने के बाद हमें मिलता क्या है ? कम्युनिस्ट पार्टी का भीषण अन्तर्विरोध। अब केवल अटकल या गुप्त सूचनाओं की बात नहीं रह गयी है। जिस संशय को कम्युनिस्ट पार्टी बाहर भेदती है, वह दुहरी ताक़त के साथ पार्टी के भीतर आ जमता है। इतिहास का यह अस्त्र कम्युनिस्ट पार्टी परस्पर सन्देह, आतंक, त्रास और निरंकुश सत्ता का गढ़ बन जाती है। जितना ही कम्युनिस्ट भक्त पार्टी की मानवेतर बुद्धि के प्रति समर्पित होता जाता है, उतनी ही पार्टी की कार्य-प्रणाली उसकी समझ और सामर्थ्य के बाहर होती जाती है। यहाँ तक कि ख्रुश्चेव-जैसा प्रमुख व्यक्ति भी अपने को इस योग्य नहीं पाता कि चारों तरफ़ फैले हुए सन्देह, आतंक, झूठ, कपट, चारित्रिक ह्रास और पतन को भेद सके। और आज भी कौन जानता है कि कितना झूठ पल रहा है जिसका उद्धरण भविष्य में आने वाले ख्रुश्चेव करेंगे।

इसके अतिरिक्त स्वयम् कम्युनिस्ट पार्टी एक विश्वव्यापी सत्य नहीं है। प्रश्न यह है कि जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी नहीं है अथवा जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी निष्क्रिय या ग़लत है (यदि ऐसा सम्भव हो तो), वहाँ वर्तमान की सार्थकता किसकी पक्षधरता में है ? कहा जा सकता है कि विश्वव्यापी रूप में सोवियत् रूस एक ध्रुव और निश्चित भविष्यवादी संकेत है। कम से कम उसकी सापेक्षता में हम आज का स्वरूप निश्चित कर सकते हैं। परन्तु यहाँ भी उद्धरण देकर समझाने की आवश्यकता नहीं रह गयी है कि इतिहास की प्रक्रिया में अब सोवियत् रूस भी **Unmoved mover** नहीं रह गया है। उसकी दशा स्वयम् सापेक्ष होती जा रही है। मज़ा यह है कि जो कम्युनिस्ट इस सापेक्षता को स्वीकार नहीं कर पाते, उनसे अधिक दयनीय स्थिति और किसी की नहीं है। क्योंकि दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों में भी यह प्रश्न बड़े ज़ोर-शोर से पूछा जाने लगा है कि रूस को कहाँ तक वर्तमान की कसौटी मानना उचित होगा ? जैसे ही हम इस 'कहाँ तक' की छान-बीन करने लगते हैं, हमें एक और कसौटी की आवश्पकता पड़ती है और हम फिर समसामायिक गतिशीलता में पहुँच जाते हैं।

(५)

कॅथोलिक चिन्तन कम्युनिज़्म का प्रतिवाह उसे धर्म मानकर ही करता है। संक्षेप में उसका तर्क यह है कि धार्मिक प्रकार की आस्था अथवा समर्पण से

छुटकारा सम्भव नहीं है। सम्भव केवल यह है कि या तो हम सच्चे ईश्वर के प्रति आस्था रखें, या शैतान के प्रति। भाव-विवेक अधूरा और बंजर है। कॅथोलिक चिन्तन अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के योरपीय विवेकवादियों की ही ख़ासी ख़बर लेता है। उसका कहना है कि मानव-विवेक को स्वतः सम्पूर्ण मानने वाले पुराने मानववादियों ने ही कम्युनिज़्म के विराट् धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए रास्ता साफ़ किया है। उसी के फलस्वरूप हम आज सामाजिक अनाचार और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष से गुज़र रहे हैं, और स्वयम् मनुष्य का अस्तित्व भी इस पृथ्वी पर ख़तरे में पड़ गया है। मनुष्य के लिए अब एकमात्र रास्ता है कि वह फिर ईसा और ईश्वर की शरण में लौटे और संसार में धर्मराज्य का आदर्श स्थापित करे। यह तभी हो सकता है जब संसार के राज्य फिर चर्च की छाया में वापस आ जायें। यह छत्रछाया मध्ययुग से भिन्न होगी, क्योंकि इस बीच राज्य का अपना विकास काफ़ी हो चुका है। लेकिन चर्च की सत्ता मनुष्य की पूर्णता के लिए केन्द्रीय मानना अनिवार्य होता है।

कैथोलिक चिन्तक जैक मैरिटेन (Jacques Maritaine) के अनुसार सेक्यूलर राज्य के स्थान पर ईसाई धर्मराज्य (Christendom) की स्थापना के तीन पहलू हैं : एक तो राज्य और चर्च के बीच परोक्ष सहायता। इसका तात्पर्य यह है कि एक ओर राज्य जनता की समृद्धि में दत्तचित हों, दूसरी ओर नैतिकता और सदाचार की व्यवस्था स्थापित करने में संलग्न हों।[1] दूसरा पहलू है कि राज्य स्पष्टतः ईश्वर की सत्ता में विश्वास की घोषणा करे। क्योंकि नैतिकता और आचार तथा मानव-मुक्ति का स्रोत ईश्वर ही है और बिना इस स्रोत को माने, हम फिर उसी भटकाने वाले संशय में पहुँच जायेंगे। तीसरा पहलू है कि चर्च और राज्य में प्रत्यक्ष सहयोग हो। अर्थात्, चर्च का जो आध्यात्मिक उद्देश्य है, उसकी पूर्ति के लिए राज्य सुविधाएँ प्रस्तुत करे। इन सुविधाओं का लाज़मी नतीजा यह नहीं है कि चर्च के अधिकारियों को विशेषाधिकार दिये जायें, लेकिन यह अवश्य है कि चर्च को मान्यता दी जाये। ईसाई धर्म के केन्द्रीय सिद्धान्त समाज में घोषित हों और राज्य उन्हें स्वीकार करें। चूंकि आदर्श स्थिति—अर्थात् यह कि समस्त मानवता एकमात्र सच्चे

---

1. "There is here a material task, the promotion of prosperity, the equitable distribution of material things that are the support of human dignity. There is also a moral task, the effective guarantee of a juridical order.

धर्म को स्वीकार करे—आज नहीं है। अतः सभी धर्मों को स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। परन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि सभी धर्मों को राज्य एक ही जैसा पसन्द भी करें।

आस्था और धर्मराज्य की इस परिकल्पना से मनुष्य की नैतिक और गौरवपूर्ण सत्ता की पुनर्स्थापना हो जायेगी, ऐसा विश्वास है। आज के योरपीय चिन्तन में बहुत से लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों को कैथोलिक विचारों ने आकृष्ट किया है। संक्षेप में यह देखा जा सकता है कि इन विचारों का मुख्य आक्रमण धर्मनिरपेक्ष—सेक्यूलर—राज्य के ऊपर है और योरप के घबराये हुए विचारक पिछले चार सौ वर्षों की धर्मनिपेक्षता को ही सारी बुराइयों की जड़ समझकर इसकी ओर आकर्षित होते हैं। साहस देखने पर लग भी सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व के इस युग में, जब कि राष्ट्रों की निरंकुश और आचारहीन उच्छृंखलता मानवता के लिए घातक सिद्ध हो रही है—सबको शान्ति की छाया में बुलाने वाले चर्च की शरण में गये बिना मानवता का निस्तार नहीं हो सकता है। कॅथोलिक पुकार उनके लिए सबसे अधिक मोहक है जो सेक्यूलरिज़्म से ऊब चुके हैं। यहाँ कम-से-कम एक शरण-स्थल दिखता है जहाँ तूफ़ान नहीं उठते, जहाँ शान्ति की बन्सी बज रही है, जहाँ दुराचारी कलह नहीं है, जहाँ सत्ता की मदोन्मत्त उच्छृंखलता नहीं है, जहाँ मनुष्य का भ्रातृत्व पनपता दिखलायी पड़ता है—काफ़ी मोहक और निश्चयात्मक सपना है।

कॅथोलिक चिन्तन के इस संक्षिप्त वर्णन से ज्ञात हो गया होगा कि धर्म-राज्य या धार्मिक राज्य का सपना भारत में जो लोग देखते हैं, उनके सोचने का ढंग भी कुछ इसी तरह का है। यह ध्यान में रखना इसलिए और भी आवश्यक है कि धर्मराज्य के भारतीय प्रचारक गला फाड़कर चिल्लाते हैं कि यह उनकी 'भारतीय परम्परा' की अनोखी सूझ है जिसका पता भी भौतिक-वादी योरप को अभी तक नहीं लग पाया है। अन्य समस्त चिन्तन-धाराओं को म्लेच्छ के अर्थ में पाश्चात्य बताते हुए वे कहते हैं कि यह विशुद्ध भारतीय सूझ है। उदाहरण के लिए श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का 'संस्कृति के चार अध्याय' दृष्टव्य है।

किन्तु कॅथोलिक चिन्तन भी निश्चयात्मक दृढ़ता की उपलब्धि में असमर्थ है। क्योंकि भविष्य के नाम पर किया गया वादा तभी हमें निश्चित सत्य उपलब्ध करा सकता है जब उसकी विश्व-व्यापकता असंदिग्ध हो। जैक मैरिटेन की सारी विचारधारा अधिक-से-अधिक ईसाई राज्यों पर लागू होती है और वहाँ भी आन्तरिक विश्वास यह है कि धीरे-धीरे कॅथोलिक चर्च की

ओर सभी ईसाई लौट आयेंगे। लेकिन जो भविष्यत्वादी दृष्टि संसार की विशाल ग़ैर-ईसाई मानवता को अनिश्चित काल के लिए सत्यविहीन और अन्धकारग्रस्त छोड़ दे, उसकी पूर्णता अपने आप ही संशयग्रस्त है। कहा जा है कि शेष मानवता के लिए भी आदर्श राह— ईसाई चर्च को स्वीकार कर लेने की—खुली हुई है। यदि हम सभी नहीं पहुँच पाते तो शान्ति की उपलब्धि अपने आप हो जायेगी। लेकिन यह बात तो हर विचारधारा के लिए कही जा सकती है। झगड़ा तो यही है कि सब एक पूर्ण सत्य के बारे में सहमत नहीं हैं।

वैज्ञानिक विवेक पर आक्रमण करते हुए धर्मराज्य के स्वप्न-द्रष्टा एक बात भूल जाते हैं। योरप ने मात्र इसलिए सेक्यूलर राज्य को स्वीकार नहीं किया कि विज्ञान ने धर्म की जड़ को हिला दिया था। वस्तुतः विज्ञान का धर्म पर वास्तविक आक्रमण तो बाद की वस्तु है। धर्मनिरपेक्षता का दूसरा और सशक्त कारण यह था कि सभी धर्म या सम्प्रदाय पूर्ण सत्य के विषय में सहमत नहीं थे। धर्मयुद्धों से ऊबकर धर्मनिरपेक्षता की राह मनुष्य ने अपनायी। विज्ञान ने तो उसके लिए तार्किक आधार प्रस्तुत कर दिया। हम तो भारत के निवासी हैं, अपनी सारी प्रत्यक्ष विरासत को छोड़कर आज एक सेक्यूलर राज्य के लिए क्यों कृतसंकल्प हो गये ? और वह भी तब, जब महात्मा गांधी की सारी राजनीतिक शिक्षा की नींव ही धर्म थी ? इसलिए नहीं कि अणुबम के विस्फोट ने सहसा भारतीय जनता के मन में से ईश्वर-पूजा की भावना का विनाश कर दिया' बल्कि इसलिए कि धार्मिक कलह और धर्मयुद्धों का छोटा-मोटा संस्करण जो हमने देखा था, वह हमें आतंकित कर देने के लिए काफ़ी था।

जैक मैरिटेन के धर्मराज्य की कल्पना यदि हम ईसाई धर्म के बाहर करें तो वह बहुत कुछ पाकिस्तान जैसी होगी जहाँ का विधान जनता द्वारा नहीं, बल्कि 'अल्लाह की कृपा' के फलस्वरूप बनाया गया है। काफ़ी हद तक पाकिस्तान की 'इस्लामिक डिमाक्रैसी' जैक मैरिटेन के आदर्श से मेल खाती होगी। शायद भारत को भी इसी तरह हिन्दू डिमाक्रैसी बना देने पर इस कल्पना को बल मिले। यह हमारे वर्तमान अन्याय एवम् अनाचार को कल्पित गौरव से मण्डित भले ही कर दे, हमें निश्चय और दृढ़ता किस भाँति प्रदान करेगा, यह बात समझ में नहीं आती। कहा जा सकता है कि धर्मराज्य सब धर्मों को समान मान्यता प्रदान करें और किसी के प्रति निरपेक्ष न हों। पहले तो यह समानता व्यवहार में सम्भव नहीं है। दूसरे यदि तटस्थ मान ही ली गयी, तब फिर आदर्श सत्य के प्रति प्रतिश्रुत होकर संशय से छूटने की बात

कहाँ रह जायेगी ? तीसरे, यह स्थिति क्या जापान-जैसी नहीं हो जायेगी जहाँ धार्मिक सम्प्रदायों को मान्यता प्रदान करने के लिए एक अलग मन्त्री होता है और पिछले चार वर्षों से जहाँ नित नये धार्मिक सम्प्रदाय उठ खड़े हो रहे हैं और हरेक अपने मानने वालों की संख्या अधिक से अधिक बढ़ाकर रजिस्ट्री करवाने में संलग्न है

: ६ :

कम्युनिस्ट पद्धति हो या कैथोलिक, दोनों ही सुदूर भविष्य के विश्वव्यापी स्वप्न की ओर देखते हैं। उनकी आस्था है कि एक दिन यह स्वप्न साकार होगा। हमें समाज को परिवर्तित करके उस ओर ले जाना है। इसके लिए हमारे पास सामाजिक परिवर्तन के अस्त्र मौजूद हैं। एक के अनुसार यह मात्र कम्युनिस्ट पार्टी है, दूसरे के अनुसार वह अस्त्र चर्च है। एक इतिहास की इच्छा की रहस्यमय दार्शनिक अभिव्यक्ति है, दूसरी ईश्वर की इच्छा की। वर्तमान क्षण में हमारा कर्तव्य मात्र इतना है कि हम आँख मूँदकर इस रहस्यमय अस्त्र के पक्षधर हो जाएँ। इसके लिए हमें हर प्रकार के त्याग, बलिदान, आत्मोत्सर्ग और बौद्धिक समर्पण के लिए तैयार होना चाहिए। यदि आज की संघर्षकालीन स्थिति में हमें उस सबको छोड़ना भी पड़े जिसे हम स्वतन्त्रता, मानव-गौरव और स्वयम् आदर्श स्वप्न का अनिवार्य अंग मानते हैं तो हमें उसे यह समझकर छोड़ देना चाहिए कि इससे भविष्य का पथ प्रशस्त हो रहा है। हमें आज केवल बोना ही बोना है—फ़सल काटने वालों की पीढ़ी बाद में आयेगी—इक्कीसवीं शताब्दी में, बाईसवीं में, पचीसवीं में, तीसवीं में···

यही वह भविष्य की वेदी है जिस पर वर्तमान का बलिदान किया जाता है। हम इसकी विपत्तियों से भली-भाँति परिचित हैं। योरप के उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों के सम्मुख प्रगति की यह कल्पना नहीं थी। उनकी कल्पना में प्रगति का अर्थ था मनुष्य की सांस्कृतिक और भौतिक दृष्टि से उत्तरोत्तर वृद्धि। हर अगला क़दम संस्कृति और सुविधा दोनों, दृष्टियों से स्वतन्त्रता की दिशा में एक क़दम आगे होना चाहिए था। हम उन विचारकों की आलोचना आज इसलिए नहीं करते कि उनकी कल्पना में खोट थी, बल्कि इसलिए कि वस्तुतः उन्होंने केवल एक सकुंचित अंश की समृद्धि को ही सबकी समृद्धि मान लिया। वे भूल गये कि योरप के पूँजीवादी विकास का अर्थ है एशिया और अफ्रीका की जनता का अधिकाधिक शोषण। यह कल्पना कि योरप का पूँजीवाद अपने भीतर के सर्वहारा वर्ग के शोषण से पनपा है, अधूरी और असत्य है। मार्क्स ने भी आन्तरिक शोषण को ही पूँजीवादी विकास की मूल

शक्ति मानने में केवल योरपीय मस्तिष्क का परिचय दिया। वस्तुतः साम्राज्य-वाद पूँजीवाद की अन्तिम नहीं, आरम्भिक कड़ी है।

यदि हम आज प्रगति की कल्पना को सही दिशा देना चाहते हैं तो हमें प्रगति के समसामयिक आधार को ध्यान में रखना होगा। समसामयिक विचारक प्रगति की सम्भावना को अस्वीकार नहीं करता। वह उसको झूठ और भविष्यवादी फ़रेबसे मुक्त करना चाहता है। इसलिए वह प्रगति को निरन्तर संघर्ष के रूप में स्वीकार करता है। हर दीवार को जो किसी तरफ़ से हमारी स्वतन्त्रता की राह रोकती है, वह तोड़ना अपना धर्म समझता है। हर अन्याय को, हर असमानता को, हर विषमता को, चाहे वह भविष्यवादी योजना के नाम पर हो, चाहे आदर्श स्वप्न के नाम पर, वह पूरी शक्ति से चुनौती देता है। जहाँ भी उसे सामाजिक कपट, छल या मिथ्याचार दिखलायी पड़ता है—चाहे वह प्रगति के ख़ेमे में हो या प्रतिक्रिया के ख़ेमे में—वहाँ वह कसकर आघात करता है। क्योंकि प्रगति की उसके पास एकमात्र कसौटी है—वर्तमान में फैले हुए अन्याय और अनाचार का प्रतिरोध इससे कहाँ तक होता है। सामाजिक प्रगति में—अन्याय के विरोध के मार्ग में—योजनाबद्ध टॅकटिक्स नाम की कोई चीज़ नहीं है। यह कहना कि आज हम कुछ अन्यायों से लड़ने के लिए दूसरे अनाचारों से समझौता कर लें, असत्य और अधर्म का मार्ग है।

: ७ :

अतीत और भविष्य, दोनों की मरीचिकाओं से छूटकर आज का कलाकार अपनी उपलब्धि और अपने दायित्व, दोनों का वाहक बन सकता है। हम जो अपने युग को वाणी देते हैं, इस युग को बीते युग अथवा आने वाले किसी युग के लिए गिरवी रखने के लिए तैयार नहीं हैं। हर युग केवल अन्य युगों के लिए माध्यम मात्र नहीं है। वह अपने आप में मानवता की उपलब्धि भी है। इस दृष्टि से देखने पर समाज और संस्कृति का सम्बन्ध एक नये परिप्रेक्ष्य में उभरता है। यह बात तो बहुत कही जा चुकी है कि संस्कृति की परख इसमें है कि वह समाज को कहाँ तक आगे बढ़ाती है। आवश्यकता यह कहने की है कि समाज की परख इसमें है कि वह संस्कृति को कहाँ तक आगे बढ़ाता है। इसिहास इसके अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत करता है कि हर आने वाला युग बीते हुए युग के मुक़ाबले में अधिक सुसंस्कृत हो, यह आवश्यक नहीं है। उत्तर योरप की अर्द्ध-सभ्य जातियों ने ग्रीस और रोम की सभ्यता का विनाश करके युग-परिवर्तन कर दिया। बेशक यह दासप्रथा से सामन्तशाही की ओर एक

प्रगतिशील क़दम था। लेकिन मानव-उपलब्धियों के इतिहास में फ़्यूडल योरप की देन ग्रीस और रोम की तुलना में कहीं छोटी हैं, इसे याद रखना ज़रूरी है। समसामयिक दृष्टि हमें हर युग को, और उसको वाणी देने वाले हर कलाकार को, चुनौती देती है कि मानवता के इस विशाल इतिहास को आँखों से ओझल न होने दे। बिना इसके न हम ईमानदारी निभा सकते हैं और न साहस के साथ अपना दायित्व पूरा कर सकते हैं।

समाज की गति को यदि हम केवल सत्ता के हस्तान्तरण के रूप में देखेंगे, तो उपलब्धि की दिशा हमसे छूट जायेगी। यदि हम हर प्रकार की विचार-धारा को वर्गस्थितिजन्य और वर्गहितार्थ भी मानें तो हमें याद रखना पड़ेगा कि विचारधारा न केवल समाज के आन्तरिक संघर्ष की छाया है, बल्कि साथ ही पूरी सामाजिक इकाई की सांस्कृतिक उपलब्धि भी है जो एकता को स्थापित करती है, एक युग को दूसरे युग से जोड़ती है और इस प्रकार मानवता का सांस्कृतिक इतिहास सम्भव बनाती है।

ईमानदारी की पहली शर्त यह है कि हम केवल आगे आने वालों का रास्ता ही न साफ़ करें, बल्कि इसका लेखा-जोखा भी छोड़ जायें कि स्वयम् अपने अन्धकार के बीच हमने अपना रास्ता कहाँ तक साफ़ किया। हम दाँत पर दाँत भींचकर केवल यह प्रयास न करें कि भावी युग के हँसने में जो रुकावटें हैं, वे दूर हो जायें। यदि हम ऐसा करेंगे तो अनन्त काल तक हर आने वाला युग केवल दाँत भींचे ही रह जायेगा। हमें हर क्षण में मानवता की हँसी को चरितार्थ भी करते रहना चाहिए। निश्चय यह काम तलवार की धार पर धावने के समान है। लेकिन हम यह मानकर चलते हैं कि आज के युग में कलाकार होना, साहित्यकार होना, विचारक होना जोखम का काम है। यहाँ तक कि हम यह कह सकते हैं कि किसी आदमी की कलाकारिता पर विश्वास करने के पहले शायद यह पूछना ज़रूरी हो गया है कि वह कहाँ तक अपने को जोखम में डालने के लिए तैयार है? कितने हैं जो आज जोखम का साहस रखते हैं?

समसामयिक विचारक एवम् कलाकार अन्धकार से घिरा हुआ होता है, लेकिन साहस से परिपूर्ण; अनिश्चयशीलता में विवश होता है, किन्तु प्रयास में अपराजित; उत्तरहीन प्रश्नों से ग्रस्त होता है, किन्तु झूठे उत्तरों का प्रतिरोधी; साम्प्रतिक सत्य से सीमित होता है किन्तु आडम्बर का विरोधी; त्रास और दु:ख का अस्तित्व स्वीकार करता है, किन्तु स्वतन्त्रता का सैनिक होता है। उसका विवेक उसकी आस्था है, उसका संशय उसकी ईमानदारी है; उसका साहस उसके व्यक्तित्व की पूर्णता है और उसकी लघुता उसकी सार्थकता है। नैतिकता के लिए इससे अधिक कौन-सा आधार चाहिए?

नवम्बर, १९५६

मैदान, पर्वतमालाएँ और राजनगर

आज की दुनिया में विभिन्न कारणों से लेखक को प्रायः निरा बेचारा मान लेने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। सभ्यता को निर्मित करने वाली जो वस्तुएँ हैं, उसमें लेखक के योगदान को कम महत्त्व मिलने लगा है। कभी-कभी, शायद शालीनतावश, उसकी ओर परिचित आँखों से देख भर लिया जाता है: वह भी सम्भवतः इस कारण कि विख्यात पूर्वजों की वंशावली में अपना नाम जोड़ने का उसका अधिकार तो अभी भी है। लेकिन प्रायः इतनी भी मान्यता समाज के प्रतिदिन के क्रियाकलापों में सत्ता एवं प्रतिष्ठाधारियों की अनुकम्पा भर ही होती है।

कुछ ऐसे भी समाज हैं जहाँ शब्दों में लेखक की प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं, विशेषतः राजनीतिक नेताओं द्वारा, जिनका दावा यह होता है कि वे हर क्षेत्र में जनमानस के एकमात्र प्रतिनिधि हैं। किन्तु इन प्रशंसाओं का मूल्य लेखक को गहरा चुकाना पड़ता है—उसे अपनी अन्तरात्मा, सद्धारणा, यहाँ तक कि अपने तथ्यात्मक ज्ञान को भी झुठलाना पड़ता है। स्वाभाविक है कि इन परिस्थितियों में लेखक वह कार्य नहीं कर सकता जिसके लिए उसकी प्रशंसा की जाती है। एक तरह के दुहरा जीवन और दुहरे चिन्तन का शिकार उसे होना पड़ता है। परिणामतः उसकी मानवीय सत्ता का क्षरण तो होता ही है, उसकी कला भी केवल क्षणिक प्रचार बनकर रह जाती है। ये बातें सर्व-विदित हैं। हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या हम भारत के लेखक इस कठिन परिस्थिति का हल निकालने में कोई योगदान दे सकते हैं या नहीं? यह भी कि क्या हम इस कार्य को करने की क्षमता एवम् योग्यता भी रखते हैं या नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के बाद राज्य केवल शान्ति और नियम-पालन की रक्षा करने वाला एक निष्क्रिय यन्त्र मात्र नहीं रह गया। उसकी परिकल्पना में विकास हुआ और राज्य को आर्थिक, सामाजिक एवम् राजनीतिक क्षेत्र में अगुआ के रूप में सोचा-समझा जाने लगा। तब से राज्य की प्रवृत्ति कला और साहित्य के क्षेत्र में नेतृत्व पर अधिकार प्राप्त करने की रही है। ऐसा उन देशों में विशेषतः हुआ है जो आर्थिक रूप से अविकसित रहे हैं और जिन्हें मानव-प्रगति की यान्त्रिक और यन्त्रणादायक दौड़ में सहसा शामिल हो जाना

पड़ा। कर्म में जूझने वाले व्यक्ति चिन्तन और भावनाओं में उलझने वाले व्यक्ति के प्रति प्रायः उतावले और असहनशील हो जाते हैं और राज्य पर कर्मठ व्यक्तियों का शासन होता है। कभी-कभी अनचाहे, और अधिकतर जान-बूझकर ये कर्मठ लोग कला और साहित्य को भी उसी स्तरबद्ध, कार्य-कुशल और उद्देश्यगत विकास में नियोजित करना चाहते हैं जिसकी चमत्कारपूर्ण और सक्षम सफलता उन्हें समाज के अन्य क्षेत्रों में दिखलायी पड़ती है। इस सम्बन्ध में दोटूक बात कहनी आवश्यक है। कला और साहित्य का प्रस्फुटन कभी केन्द्रीय लक्ष्यबद्ध योजना के अन्तर्गत नहीं हुआ है। कला के नियम नितान्त भिन्न हैं। या तो कला मुक्त होगी या फिर कला नहीं रह जायेगी।

आज भारत की क्या स्थिति है? हम जनतन्त्र का एक प्रयोग कर रहे हैं जो दस वर्ष पुराना हो चुका है। हम एक नयी सभ्यता का स्वप्न देखते हैं, जो शान्तिपूर्ण प्रगति पर आधारित हो। शायद हम सभी किसी-न-किसी तरह के समाजवाद में विश्वास करते हैं। इस बहुमुखी शब्द का जो भी अर्थ चाहें, समझ लें। हममें से अधिकतर एक ऐसी समाज-व्यवस्था की कल्पना करते हैं जो मानव जाति के अत्यधिक औद्योगिक रूपों से भिन्न होगी। वह कल्पना, वह स्वप्न कैसा है? जितना ही आगे का रास्ता अनजाना है, जितनी ही आगे की भूमि अनदेखी है, उतनी ही लालसा के साथ हम मंज़िल का सपना देखते हैं। अगर मैं कहूँ कि वह व्यवस्था अन्ततः जैसी भी हो, हमारी सबकी आशा यही है कि स्वतन्त्रता उसका एक अविच्छिन्न अंग होगी, तो मेरी समझ में कोई बहुत विवादग्रस्त बात न होगी। यह स्वतन्त्रता, जिसकी कामना हम हर नागरिक के लिए करते हैं, लेखक और कलाकार के लिए तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किसके विरुद्ध हम स्वतन्त्रता की कामना करते हैं? शायद बहुत-सी शक्तियों और संस्थाओं के, मेरे विचार में इन संस्थाओं में राज्य को भी शामिल करना पड़ेगा।

भारत में हमने कला और साहित्य के क्षेत्र में कुछ बहुत अच्छी तरह आरम्भ नहीं किया। अन्य भाषाओं के विषय में कुछ कहने का अधिकारी मैं नहीं हूँ; अतः हिन्दी को ही ध्यान में रखकर कुछ कहूँगा। किन्तु मैं समझता हूँ कि हिन्दी में चाहे दो-एक विशेष कारणों से उग्रता आ गयी हो, लगभग यही चित्र अन्य भाषाओं में भी होगा।

पिछले कई सौ वर्षों से हिन्दी राज्यदण्डित नहीं, तो राज्यवंचित भाषा अवश्य रही है। साथ ही इसके बोलने वाले देश में सर्वाधिक संख्या में हैं। अंग्रेज़ी शासन-काल में हिन्दी को न केवल अंग्रेज़ी से संघर्ष करना पड़ा, बल्कि एक सहयोगिनी भाषा के प्रमुख और एकाधिकार के दावों से भी।

राष्ट्रीय संग्राम के दिनों में भी हिन्दी की स्थिति सर्वमान्य नहीं थी और राष्ट्रीय एकता के नाम पर तरह-तरह के समझौतों के लिए हिन्दी का उपयोग होता रहा। तथाकथित आधुनिक बौद्धिक वर्ग, जिसका प्रवेश अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में राष्ट्रीय पुनर्जागरण के साथ काफ़ी पहले हो गया था, उत्तरीय प्रदेशों में काफ़ी दिनों तक हिन्दी से उदासीन रहा। अतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय तक भी हिन्दी का लेखक विद्रोही—निहत्था और शहीद विद्रोही—रहा। इस विरोध और संघर्ष के दौरान उसे अपने को बौद्धिक या भावनात्मक दृष्टि से समृद्ध एवम् वैभववान बनाने का अवसर कम मिला। अधिक समय तो उसका इसमें ही बीता कि उसे राज्य और समाज के सत्ताधारी लोग गम्भीर और वास्तविक लेखक तो मानें। जनतान्त्रिक विधान ने सहसा इस पूरी प्रक्रिया को उलट दिया। हिन्दी न केवल हिन्दी क्षेत्र की, वरन् समूचे भारत की राज्यभाषा हो गयी और फिर राजकीय मान्यता के साथ बाढ़ उमड़ी—शक्ति की, प्रतिष्ठा की, लाभ की, उन्मादक स्वप्नों की और सुलभ अमरता के उच्छृंखल संकेतों की! राज्य ने अपने लाभप्रद हाथ हिन्दी के भूखे और अब तक अपमानित लेखक की ओर बढ़ा दिये। उसका मानस शताब्दियों से केवल इसी चिन्ता से त्रस्त था कि राजकीय मान्यता के अभाव में कैसे-कैसे दुःख और संकट झेलने पड़ते हैं—यहाँ तक कि और कुछ हिन्दी लेखक के मन में रह ही नहीं गया था। अतः अब जब राज्याश्रय मिला तो हिन्दी लेखक को संकोच करने की न इच्छा थी और न शायद बुद्धिमत्ता ही। एक दौड़ आरम्भ हुई। इस बीच लेखक को अपनी आत्मा की तेजस्वी स्वाधीनता, अपना गौरवपूर्ण दाय और सम्भवतः आत्म-सम्मान और निजी प्रतिष्ठा भी भूल गयी।

जो कुछ मैं कह रहा हूँ, हो सकता है सार्वभौम सत्य न हो। अपवादों की ओर भी संकेत किया जा सकता है। सच तो यह है कि समसामयिक साहित्यिक गतिविधि के बारे में व्यापक या निर्णयात्मक मत प्रस्तुत करना बिना विवादास्पद हुए, या फिर बिना निरर्थक शब्दाडम्बर खड़ा किये हुए, असम्भव है। मेरा उद्देश्य यहाँ केवल एक ऐतिहासिक तथ्य की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना है, जैसा मुझ-जैसे राजधानियों से सौभाग्यवशात् उचित दूरी पर बसने वाले साहित्य के नवागन्तुक को लगता है। यदि मैं दृश्य की अंशतः विवेकपूर्ण और सत्य झाँकी भी प्रस्तुत कर सकूँ और आपको इतना सहमत कर सकूँ कि तत्काल निश्चयात्मक चिन्तन की आवश्यकता है, तो अपना प्रयास सफल मानूँगा। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि

सारा दोष केवल हिन्दी के लेखकों के माथे पर मढ़ना व्यर्थ है, क्योंकि मेरी समझ में लगभग इसी तरह की दृश्यच्छवि अन्य भाषाओं में वर्तमान है।

जिन लोगों के हाथों में राजसत्ता थी, उनके पास राज्याश्रय के विस्तार के कारण निजी थे। आरम्भ में तो लेखकों से कुछ अनियमित, कुछ संकुचित आदान-प्रदान दिखलायी पड़ा। शीघ्र ही इस अनाश्वस्त बान्धवता के पीछे एक सुस्पष्ट नीति के दर्शन होने लगे। राजनीतिक नेताओं के अतिरिक्त, जो सदा ही लेखकों पर दबाव डालकर स्वयम् सांस्कृतिक व्यक्तित्व प्राप्त करने, और इससे अपनी पक्षधरता की अधकचरी धारणाओं को पवित्रता से मण्डित करने तथा एकसाथ ही क्षणभंगुर अख़बार और चिरन्तन कला दोनों लोकों को जीतने के लिए लोलुप और तत्पर रहते हैं। एक और वर्ग रंगभूमि में आया। वह वर्ग था ब्योरोक्रसी—नौकरशाही का ! भारतीय ब्योरोक्रसी भी एक दिलचस्प चीज़ है। इसके सदस्य तो विश्वविद्यालयों से उद्भूत चुने हुए नवयुवक रहे हैं, लेकिन उनका जीवन सदा से मानसिक आलस्य से ग्रस्त समाज-विच्छिन्न कटघरों में बीता है। मध्यम वर्ग का जो सांस्कृतिक उद्भव हाल में हुआ है, न यह ब्योरोक्रसी उसे प्रभावित कर सकती थी और न उसमें भाग ही ले सकती थी। अतः इस उत्थान को कभी ईर्ष्यायण और कभी हेय दृष्टि से देखती रही। देश के कुशाग्रबुद्धि नवयुवक, जो ब्योरोक्रसी में सम्मिलित होते हैं, अपनी एकमात्र सम्पत्ति, परीक्षा-फलों के आधार पर, अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता के बारे में कृत-निर्णय होते हैं और बराबर मानसिक मूर्च्छा और गूँगेपन की अवस्था में आत्मलीन एवम् आत्ममुक्त बने रहते हैं। देश की स्वतन्त्रता ने इन नौकरशाहों की कुण्ठित और दमित बुद्धि के आगे एक नया साम्राज्य प्रस्तुत कर दिया। उन्हें हठी आत्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी कि जब तक कला, साहित्य, संस्कृति, शिक्षा आदि के क्षेत्र में उनकी आधिकारिक एवम् धारयित्री प्रतिभा का सम्पूर्ण प्रयोग नहीं होता, चारों ओर केवल घोर उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता विराजती रहेगी। अतः उन्होंने चतुर्दिक् सुचारु एवम् निर्मल सुव्यवस्था स्थापित करने का—लेखक बिना उनसे पूछे स्वयम् अपने कथ्य को नहीं पहचान सकते—यह समझाने का गहन और बोझिल उत्तरदायित्व अपने ऊपर ओढ़ लिया। निश्चय हुआ कि राज्याश्रय का अधिक से अधिक विस्तार अत्यन्त वांछनीय और आवश्यक हो गया है।

लेखक-स्वाधीनता के क्षेत्र में राज्य के प्रदेश के इन विशिष्ट कारणों के साथ एक सार्वभौम कारण भी कार्य करता रहा। वह यह कि अपनी नीति के प्रचार के लिए साहित्य और कला को अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करने की

आवश्यकता हर सरकार को सुविधाजनक लगती है। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के साथ कला और साहित्य का गठबन्धन करने के हेतु दुनिया भर की मूखतापूर्ण बातें कही गयी हैं। हमारे प्रधान मन्त्री कहते हैं कि भारत में एक 'मौन' क्रान्ति हो रही है। कुछ लोग उनसे भी बड़े उत्साही हैं जिन्हें इतने से सन्तोष नहीं होता। वे उपन्यासकारों, कवियों, आलोचकों, नाटककारों की भर्ती करके इस मौन क्रान्ति को मुखर करने के पीछे दीवाने हैं। यदि हम इतिहास को देखें, तो किसी भी क्रान्ति की उग्र और स्पष्ट प्रतिध्वनि समसामयिक साहित्य में नहीं पड़ती, जब तक वह क्रान्ति ऐसी न हो जिसने समाज की सहसा बिलकुल उथल-पुथल करके निम्न वर्गों से पुंजीभूत विराट् शक्ति को विस्फोट के साथ बन्धन-मुक्त न कर दिया हो। पंचवर्षीय योजना में नये कारखाने खुलते हैं। इन्हें आप देखें—क्या इन कारखानों के खुलते ही सामाजिक शक्तियों का बन्धनहीन विस्फोट होता है? लघु मनुष्य को दबाकर रखने वाली मर्यादाओं और प्रतिमानों के अतिरिक्त किसी अन्य मर्यादा के दर्शन यहाँ होते हैं? नहीं, फिर भी हमारे नौकरशाह मॅनेजर की इच्छा है कि हमारे कवि उसे भी क्रान्ति का प्रवर्तक समझकर उसी तरह प्रशस्ति के गीत गायें जिस तरह उन्होंने राष्ट्रीय क्रान्ति के सैनिकों के लिए गाये थे। हमारी आज की आर्थिक योजनाओं में कहीं कुछ भी ऐसा नहीं है जो मायकोव्ससकी को जन्म दे सके। और फिर, अधिक मौलिक दृष्टि से देखें तो, असली क्रान्तियों में उद्भूता ये मायकोव्स्की भी भाग्यशाली नक्षत्रों वाले नहीं होते, हम यह भी जानते हैं। ये लोग आत्महत्या कर डालते हैं जिनका कारण अन्त तक नहीं ज्ञात हो पाता।

मर्यादा का स्थिरीकरण, योग्यता की प्रतिष्ठा, कला एवम् संस्कृति का प्रोत्साहन, ग्रन्थों का प्रकाशन, पुनर्जागरण का सुव्यवस्थित उत्पादन, राष्ट्रीय एकता, विदेशों से सांस्कृतिक सम्पर्क—ये सब नारे हैं जिनके पीछे साहित्य और कला के क्षेत्र में राज्याश्रय (जिसको राज्य-हस्तक्षेप कहना उचित होगा) आज हमारे सामने एक सुविचारित योजनाओं के रूप में उभर कर आ रहा है। ये सभी नारे प्रशंसनीय हैं। किन्तु परिणाम क्या होता है? अकादमियों की ओर दृष्टि डालिये। उनका निर्माण हुए अब कई वर्ष हो गये! एक यही बात कि आज तक उनका दामन इस या उस मन्त्रालय के सचिव, प्रतिसचिव या उपसचिव के हाथों से छूट नहीं पाया है—हमें सजग होकर सोचने के लिए पर्याप्त है। या तो हमारे ये साहित्यिक और कलाकार बौने हैं जिन्हें आत्म-निर्णयका खतरनाक अधिकार नहीं दिया जा सकता, या फिर हमारे सचिव, उपसचिव या प्रतिसचिव के आध्यामिक स्वास्थ्य में कहीं कोई असन्तुलन

विद्यमान है। यही दशा सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डलों, राज्य-पुरस्कारों और अनुदानों की भी है।

राज्याश्रय भी राज्य-हस्तक्षेप के विस्तार का एक दूसरा लक्षण संस्कृति के केन्द्रीयकरण की कुप्रवृत्ति है। भारत एक विशाल देश है। जहाँ तक सम-सामयिक साहित्य का सम्बन्ध है, विभिन्न प्रदेशों में आपसी सम्पर्क बहुत अल्प मात्रा में रहा है। किन्तु धीरे-धीरे विभिन्न स्थलों पर सांस्कृतिक सम्मिश्रण के एक व्यापक भग्नचित्र का निर्माण होता जा रहा था जिसकी निश्चित गति किसी विशेष आकर्षण-बिन्दु की ओर नहीं थी। यह एक वांछनीय स्थिति थी। किन्तु इस व्यापक धारा में राजधानी के अकस्मात अभ्युदय के कारण एक गतिरोध पैदा हो गया है और सभी धाराओं को उसी एक केन्द्र की ओर मोड़ा जा रहा है। दिल्ली का इतिहास, महाभारत-काल से आज तक सात हज़ार वर्षों का भ्रष्टाचरण का इतिहास रहा है। किन्तु हमारी संस्कृति में दिल्ली का प्रभाव गौण ही रहा है। आज दिल्ली बिना अग्नि से परिशोधित हुए ही अपनी अनिवार्यता हम पर लादने के लिए अभियान कर रही है। और वहाँ जो सांस्कृतिक सम्मिश्रण हो रहा है, वह निश्चय ही हमारा सर्वोत्कृष्ट नहीं है। राजधानी की चक्रवत् तीक्ष्ण गति और दूर-दूर फैले हुए मैदानों और पहाड़ों के शान्तिपूर्ण सन्तुलन के बीच टक्कर अनिवार्य है। प्रश्न है—कि क्या हमारे मैदान, हमारी पर्वतमालएँ अपने प्रतिरोध में सफल हो सकेंगी? एक सांस्कृतिक मन्त्रालय स्थापित होने की चर्चा सुनायी पड़ रही है। यदि मैदानों और पर्वतमालाओं ने इसे स्थापित होने दिया, तो उनकी पराजय अवश्यम्भावी है।

सिद्धान्ततः बात यह है कि जब कभी भी राज्य कला और सदाशयता के क्षेत्र में हस्तक्षेप करेगा, चाहे वह पूरी सहायता और उदात्ततम घोषणाओं के साथ ही क्यों न हो, बिना दुहरे प्रतिमानों का जन्म हुए नहीं रह सकता। एक ओर वैचारिक प्रवृत्तिवाद की माँग और दूसरी ओर वस्तुपरक कलात्मक स्तर की आवश्यकता के बीच संघर्ष तो होता ही है; साथ ही व्यवहार में साहित्यिक और राजनैतिक प्रतिष्ठाओं को एकसाथ मिला देने की प्रवृत्ति भी पैदा हो जाती है। इससे प्रतिमानों और मान्यताओं में विपर्यय हो जाना स्वाभाविक है। कला और साहित्य में प्रतिमान, मर्यादाएँ, उत्कृष्टता की कसौटियाँ कथन और व्यवहार दोनों में प्रयुक्त होकर स्थिरता और स्थायित्व स्थापित करती हैं। स्वाभाविक विकास की माँग यह है कि जब साहित्यिक मर्यादाओं में उलट-फेर हो तो विद्रोही प्रतिमान भी पहले की ही तरह साहित्यिक एवम् कलात्मक हों। लेकिन जहाँ दुहरे प्रतिमान होंगे, वहाँ अराजकता, कुण्ठा एवम्

विनाश ही परिणाम होगा। यदि हमें अपने साहित्य को बौना होने से बचाना है तो इस ख़तरे से मनोयोगपूर्वक रक्षा करनी होगी। साहित्य की बाहरी परिधियों के आसपास साहित्यिक सत्तानीतिज्ञ होते हैं जिन्हें मैं 'संस्कृति-प्रचारक' कहता हूँ। ये संस्कृति-प्रचारक बिलकुल उठायीगीरे और प्रचारवादी भी हो सकते हैं, और अर्ध-साहित्यिक भी। जहाँ साहित्य की सीमाएँ सत्ता-सम्पन्नता, अर्थलाभ, वैभव, सांस्कृतिक संगठन, समितियों, सम्मेलनों आदि से मिलती हैं, वहाँ आप इन्हें सबसे अधिक सक्रिय पायेंगे। लेकिन उस मूल में जहाँ कलात्मक सृजन की भूमि है, इन प्रचारकों की कोलाहलपूर्ण भीड़ समाप्त हो जाती है, या फिर उनके भीतर का ताम्बा दिखलायी पड़ने लगता है। साहित्य में, या साहित्य के विषय में प्रचार ही इनका मुख्य उद्योग होता है। ऐसे लोगों का सामंजस्य राज्य के साथ बड़ी आसानी में बैठ जाता है। ये लोग राज्य और राजनीतिज्ञों के लिए मध्य-सन्धि का काम करते हैं। राज्य से उनको शक्ति प्राप्त होती है जिसके सहारे वे अपनी योग्यता और नियति से अधिक विशिष्टता अर्जित कर लेते हैं, या फिर बिना योग्यता के भी सबके भागी बन जाते हैं।

हिन्दी में आजकल हर ओर अराजकता और विघटन की शिकायत है। स्वतन्त्रता के पहले कई कारणों से हिन्दी साहित्य में एक अनुरूपता थी—मान्यताओं में भी तथा साहित्यिक बिरादरी में भी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद नये युग और सामाजिक सत्ता के पद पर एक नये भिन्न मध्यम वर्ग के उदय के उपरान्त इस सन्तुलन में कुछ-न-कुछ उलट-फेर होना अनिवार्य था। लेकिन आज जो यह सर्वव्यापी भावना है, जैसे—लेखक और कलाकार के पैरों तले से धरती निकली चली जा रही हो, जैसे सब अपने मूल से च्युत हो गये हों, और जैसे जीवित रहने के लिए एक तीखा और निर्मम संग्राम चल रहा हो, यह सब सिर्फ़ इतने परिवर्तन का परिणाम नहीं है। मेरी धारणा है कि इसमें राज्य की निश्चयात्मक सक्रियता का भी हाथ है, क्योंकि इस विघटन और विपन्नता के सर्वाधिक दर्शन हमें उन्हीं स्थानों में होते हैं जो राज्य के निकट हैं। जितनी समर्थता के साथ जमी हुई प्रतिष्ठाओं को उखाड़ने, नयी प्रतिष्ठाओं को जमाने, यश और उत्कृष्टता के पुराने मानदण्डों को तोड़ने-मरोड़ने तथा सामान्यतः बुद्धि-विश्राम एवम् हताशा उत्पन्न करने का काम इधर अकेले राज्य ने किया है, उतना किसी अन्य संस्था या धारा ने नहीं किया। यह सोचना कि राज्य कभी भी साहित्य या संस्कृति के क्षेत्र में सीधे-सीधे स्थायित्व एवम् स्थिरता की स्थापना का काम कर मकता है, भ्रामक है क्योंकि राज्य के लिए दुहरे मानदण्डों का प्रयोग अनिनार्य है। इससे बचत नहीं है। यदि

राज्य कृतसंकल्प और सचेत होकर किसी एक ही मानदण्ड का उपयोग करने को तुल जाये, तो फिर उसे विवश होकर तानाशाही के पूरे चक्र को ही चलाना पड़ेगा। यही राज्याश्रय का अन्तर्विरोध है। इसके द्वारा स्थायित्व मृत्यु के बाद ही प्राप्त होता है।

सिर्फ़ यह कहना कि राज्याश्रय साहित्य के क्षेत्र में नयी मर्यादाओं के उदय को रोकता है, राज्याश्रय के विरुद्ध पूरी बात नहीं है। यह तो होता ही है। स्पष्ट भी है, लेकिन अनिवार्यतः राज्य परम्परागत मूल्यों को भी अपदस्थ कर डालता है। इसको परखने की एक रोचक विधि यह है कि आलोचक के रूप में राज्य और छात्रोपयोगी साहित्य का इतिहास लिखने वालों की तुलना की जाये। साहित्य के इतिहास का लेखक साहित्य को आँकने वालों में सर्वाधिक रूढ़िवादी होने के लिए कुख्यात है। साहित्यिक इतिहासकार को हम साहित्य में नियम एवम् व्यवस्था के सुरक्षक पुलिसमैन की तरह मान सकते हैं। कभी-कभी मैं कल्पना में इस पुलिसमैन की वर्दी धारण कर लेता हूँ और अकादमियों के भीतर-बाहर राज्य-समादृत कीर्ति-स्तम्भों की ओर देखता हूँ। फिर सोचता हूँ कि इन अपार यशराशि के स्वामियों में से कितने तो नितान्त उपक्षित हो जायेंगे और किसी को केवल पृष्ठान्त टिप्पणियों में स्थान मिलेगा —और सोचकर चकित रह जाता हूँ। तब श्रेष्ठता में मानदण्डों का विपर्यय स्पष्ट दीखने लगता है कि उन चालीस अमर साहित्यकारों में से, जिन्होंने फ्रान्स की साहित्य अकादमी को आरम्भ में अलंकृत किया था, आज इतिहास में चार ही शेष हैं। लेकिन आज के राज्य-यश-स्वामी अधिक शक्ति-सम्पन्न तथा चतुर हैं। शायद वे अपना साहित्यिक इतिहास स्वयम् लिखवाकर अपने अमरत्व की युग-युगों तक रक्षा कर ही डालें!

मैंने पहले कहा है कि जब साहित्यकार राज्य की ओर दौड़ा तब वह भूखा भी था तथा अपमानित भी। शुरू-शुरू में आजीविका और कीर्ति की इन दो माँगों में भी एक तरह की अनुसृयता थी। शायद आज भी दोनों का पृथक्करण पूरी तरह नहीं हो पाया है। इसीलिए राज्यश्रय के विरुद्ध जब आवाज़ उठायी जाती है तो सरकारी नौकरियों में आजीविका के लिए खपने वाले साहित्यकारों को अपनी रोटी पर ख़तरा दिखायी पड़ने लगता है। लेकिन यह बुद्धि-विभ्रम बहुत दिनों तक नहीं चलेगा। इतिहास का चक्र अपनी निर्दिष्ट गति से चलता ही जायेगा। वे जिनकी कीर्ति-पताकाएँ राजभवन पर फहराती हैं और वे, जो रोटी के लिए राज्य के चाकर बनते हैं, धीरे-धीरे दो नितान्त पृथक् और प्रतिकूल वर्गों में बँट जायेंगे। अभी भी हमें पृथक्करण की यह प्रक्रिया काम करती दीख रही है। बुभुक्षितों और मनसबदारों के बीच

की खाई उस पूरी यातना, हृदयहीनता एवम् कुण्ठा के साथ बढ़ती जा रही है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया का अंग है। आश्रयदाता की रुचि सदा अपने आश्रित के यश-भागीदार बनने में होती है, उसकी आजीविका में नहीं। बहुत दिन पूर्व, बहुत दूर के एक देश में पैनी बुद्धि वाले डॉक्टर जॉनसन ने चोट खाकर यही तो कहा था। राजाश्रय के दोषों का निराकरण हम बिना इस अन्तर को ध्यान में रखे नहीं कर सकते।

हम लेखकगण क्या करें और क्या कर सकते हैं।

मेरी समझ में स्थिति ऐसी नहीं है कि हम हताश हो जायें। हम बहुत-सी ऐसी घटनाओं को रोक सकते हैं यदि हम जागरूक और सचेत रहें तथा संकल्प एवम् निश्चयात्मक चिन्तन का उदाहरण प्रस्तुत करें। एक गहरी सांस्कृतिक उद्भावना की आवश्यकता है जिसकी गति राजधानियों की ओर न हो। आज के सन्दर्भ में ज़रूरी है कि यह उद्भावना प्रादेशिकता या प्रान्तीयता से मुक्त हो। सारे देश में फैला हुआ सांस्कृतिक सम्मिश्रण बराबर चलता रहना चाहिए, नये लेखकों के माध्यम से, और उन पुरानों के माध्यम से जिनके सामने सांस्कृतिक विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता स्पष्ट और स्वीकार्य है। यदि इसके लिए पिछली पीढ़ी की कुछ मान्यताओं का हमें परित्याग भी करना पड़े तो हमें उस दर्द को झेलने के लिए प्रस्तुत होना पड़ेगा। मुक्त और साहसपूर्ण चिन्तन की आवश्यकता है—यदि हम भविष्य के लिए स्थायी बुनियादें डालना चाहते हैं और आज की चुनौती को स्वीकार करना चाहते हैं। लेकिन प्रश्न यही है कि क्या हम मानने को तैयार हैं कि आज की स्थिति एक चुनौती है—और यह चुनौती गम्भीर है ?[१]

अगस्त, १९६७

---

१. यह लेख परिमल, प्रयाग की लेखक-परिगोष्ठी में 'लेखक और राज्याश्रय' नामक विषय पर विचार-विमर्श की प्रस्तावना के रूप में पढ़ा गया।

हाथों में टूटी तलवारों की मूठ

हिन्दी की पत्न-पत्निकाओं में आजकल विवादों का तूफ़ान चल रहा है। कोई भी पत्निका उठाइये, कुछ पृष्ठ उलटने के बाद ही आपको किसी-न-किसी की चीखती आवाज़, तनी हुई मुट्ठी और उस मुट्ठी में टूटी हुई तलवार की मूठ दिखलायी पड़ जायेगी। लगता है कि लोगों के आत्मविश्वास का क्षरण हो रहा है, हर किसी के पैरों के तले की धरती खिसकती जा रही है।

सामान्य पाठक अक्सर इन हताश आवाज़ों को आँख बचा कर अनसुनी कर जाता है। अक्सर यह सोचकर मन को सन्तोष दे लेता है कि ये सब लेखकों के आपसी झगड़े हैं जिनमें उसे रुचि नहीं होनी चाहिए। लेकिन कब तक ?

लेखकगण इन विवादों में बुरी तरह उलझे हुए हैं। और जब अवस्था ऐसी हो कि कोई पत्निका विवादों की प्रतिध्वनियों से न बचे तो बात सिर्फ़ व्यक्तिगत झगड़े की नहीं रह जाती। लेखक तो यों भी अपने युग की सृष्टि होता है—अपने आविष्कार में लगा हुआ वह युग का आविष्कार करता है और जब व्यापक रूप से उसका मन मथित हो जाये तो उसके विवादों में भी युग की जीवित धड़कनें सुनायी पड़ती हैं।

काश, हम जानते कि कौन से विवाद थे, किस तरह के आरोप थे, कैसे चुटीले व्यंग्य थे, कैसी गुटबन्दियाँ थीं, कैसे-कैसे साहित्यिक-डाकू थे जिनके भीतर से भवभूति ने ललकारा था : 'कालोह्ययं निरवधि ……।' किस प्रकार के मठाधीशों से तिलमिलाकर कालिदास अपनी पीठ ठोंकते हैं और कहते हैं कि इस गुमनाम नाटककार ने भी बड़े-बड़े करिश्मे किये हैं : 'पुराणमित्यैव न साधु सर्वं…!' उन युगों के वे विवाद कालक्रम में खो गये। हमारे-आपके सामने उन युगों का जो रंग झलकता है, वह बहुत ही छना हुआ, परिष्कृत और एकांगी। उसमें उनकी लालस, गोचर, पंकिल, थपेड़े खाती हुई, उभरती हुई ज़िन्दगी का दिल नहीं धड़कता। लगता है ये आचार्य कभी जवान थे ही नहीं; जन्म से ही वृद्ध आचार्यत्व के स्वर्णाभ-मण्डल में घिरे हुए आये, गिनती के दिनों के सिंहासन पर बैठकर सौम्य मुद्रा से उन्होंने विधाता द्वारा नियत अपने प्रवचन दुहराये और पृथिवी की एक करवट के साथ सिंहासन-समेत अँधेरी राहों द्वारा किसी नक्षत्र-मण्डल की ओर उड़ गये। हमारे लिए निर्वैयक्तिक

आकाशवाणी की भाँति केवल आवाज़ें रह गयीं। इसीलिए हम कभी-कभी अपने युग से घबरा जाते हैं और बेतहाशा अतीत या भविष्य के शान्त सपने की ओर दौड़ पड़ते हैं जहाँ तमाल के नीचे कृष्ण की मुरली सुनायी पड़ती है !

सपने देखना बुरी चीज़ नहीं है। आदमी के लिए वह दिन अभागा ही होगा जिस दिन उससे सपने देखने का अधिकार छीन लिया जायगा; या जिस दिन वह यह सोचने लगेगा कि अब सपने देखने की ज़रूरत नहीं रह गयी।

लेकिन सपने यथार्थ की जगह नहीं लेते। वे सिर्फ़ यथार्थ के भीतर से उपजते हैं। वे यथार्थ के विस्तार हैं, स्थानापन्न नहीं। इसीलिए जब मैं अपने युग के किसी आतुर स्वप्नदर्शी से मिलता हूँ तो उसके सपने मेरे भीतर युग से पलायन नहीं उत्पन्न करते, वे इस युग के लिए मेरे मन में प्यार ही पैदा करते हैं। हाँ, मैं अपने इस युग को बेहद प्यार करता हूँ। इसकी तमाम मलिनता, पंकिलता, झुँझलाहट, खीझ, घुटन, कमीनापन, तड़प, प्यास, घबराहट, उठान, उमंग, पवित्रता—इन सबके साथ मैं अपने इस युग को प्यार करता हूँ। यह मुझे चुनौती देता है, मैं इससे जूझता हूँ; यह मेरे चारों ओर दीवारें घेरता है, मैं इससे टकराता हूँ, यह मेरा गला घोंटता है, मैं इसकी अवज्ञा करता हूँ। किन्तु मैं इसे प्यार करता हूँ, क्योंकि यह मुझे सार्थकता देता है। यह मेरा है। शेष सब पराये हैं, वे मुझे सार्थकता देने में असमर्थ हैं।

यह हमारा युग है। ये हमारे विवाद हैं।

श्रेष्ठ और सार्थक चिन्तन का एक लक्षण यह होता है कि समसामयिक प्रश्नों पर उसकी चिरन्तन दृष्टि पड़ती है, और चिरन्तन प्रश्नों पर सम-सामयिक दृष्टि। इसके विपरीत हम चिरन्तन प्रश्नों पर चिरन्तन दृष्टि से और समसामयिक प्रश्नों पर समसायिक दृष्टि से विचार करने के अभ्यासी हो गये हैं। परिणाम यह है कि जब ऊँची-ऊँची बातें होने लगती हैं, तो लगता है महामानव के अवतरित होने में अब कोई कसर नहीं रह गयी; लेकिन इसके साथ-ही-साथ हद दर्जे की धुरीहीनता, तुच्छता और घबराहट भी अन्तः-सलिला की भाँति घटाटोप के नीचे प्रवाहित रहती है। जब कभी अन्तः-सलिला भूमिसन्ध तोड़कर बाहर निकल पड़ती है तो हम विचलित होकर 'शॉर्ट कट' और झूठे समन्वय की तलाश करने लगते हैं।

जो प्रश्न हमें मथित कर रहे हैं, जो विवाद उठ खड़े हुए हैं, वे केवल मनोवैज्ञानिक नहीं हैं। उनकी जड़ें गहरी हैं। यह सही हैं कि कभी-कभी चारों ओर की उड़ती हुई धूल के कारण सब कुछ असम्बद्ध और उलझा हुआ मालूम पड़ने लगता है, लेकिन स्थिर बुद्धि से विचार करने के अतिरिक्त दूसरा

रास्ता नहीं जान पड़ता । यह हमारा सौभाग्य या दुर्भाग्य है कि हम एक ऐसे युग में पैदा हुए जिसमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता जैसी महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हुई, लेकिन उस क्रान्ति ने एक झटके के साथ पुरानी मान्यताओं को उखाड़ नहीं फेंका, हमारी भावनाओं को उत्कट अनुभूति के अन्तिम स्तर पर नहीं पहुँचाया जिसके बाद वापस नहीं लौटना पड़ता । संक्षेप में, पुराने पूर्वग्रहों के स्थान पर नये पूर्वग्रह नहीं पैदा किये । परिणाम यह है कि नयी दृष्टि जन्म लेती है, लेकिन उसके प्रति हम सशंकित हो उठते हैं, डरते हैं और चपककर पुरानी टहनियों को पकड़ लेते हैं । अगर यह वृक्ष, जिस पर हम बैठे हैं, तूफ़ान की एक चोट से धराशायी हो गया होता, तो हम सब उड़ चलते; फिर यह डर ही न लगता कि हमारे पंख हमें ले जाने में समर्थ भी हो सकेंगे या नहीं । लेकिन, नियति के सहारे नहीं, स्वेच्छा और विवेक से मनुष्य के लिए नयी राह खोजने में साधारण से अधिक साहस और आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है । हममें से हर एक को चुनना है, इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं ।

पिछली पीढ़ी से हमारे युग को जो दाय मिला, उसकी अन्तःसलिला में एक धारा स्नायविक दुर्बलता की भी है । यह स्नायविक दुर्बलता सत्याग्रह-युग के चिन्तनों में उतनी नहीं दीखती जितनी चिन्तकों की भावुकतापूर्ण प्रक्रिया में । यदि हम गांधीजी अलग करदें, तो अधिकतर विचारकों, साहित्य-कारों, कलाकारों में एक तरह की विचित्र कातरता पाते हैं जो उनके सिद्धान्तों पर छायी हुई है । उदाहरण के लिए, एक विशेष प्रकार का अध्यात्मवाद उस युग में सर्वोपरि था । लेकिन इस अध्यात्मवाद में आध्यात्मिक अनुभूति या आध्यात्मिक चिन्तन का मौलिक आग्रह उतना नहीं जान पड़ता जितना इसका कि किसी तरह सब लोग भारतीयता के नाम पर इस 'अध्यात्मवाद' के प्रति समर्पित हो जायें । उस युग में विचार, दर्शन या सिद्धान्त विवेकपूर्ण खोज के विषय न होकर श्रद्धा और आस्था से पूर्ण पूजा-भावना के विषय थे । यह बात अचानक नहीं थी कि उस युग में बारम्बार श्रद्धापूर्ण प्रतिश्रुति की इस लिए माँग की जाती है कि वह अनेकता में एकता, भेद में अभेद का दिग्दर्शन कराती है, और तटस्थ वैज्ञानिक विश्लेषण से बचने को कहा जाता है, इस भ्रम में कि इसके कारण मिथ्या वितण्डा, भेद और वैषम्य उत्पन्न होता है । उस युग का यह दृढ़ विश्वास है कि विवेक-बुद्धि विवाद को जन्म देती है, सत्य का मार्ग नहीं खोलती; इतना ही नहीं, यह भी कि अश्रद्धा का एक कण भी कभी घोर अनैतिकता और सामाजिक क्षति का कारण बन सकता है— इसलिए इसे ख़तरे की घण्टी समझना चाहिए ।

सचमुच सत्याग्रह-युग असीम धैर्य, मानसिक आत्म-बलिदान और एकाग्र

मनोवृत्ति का युग था। वे लोग केवल एक बड़े संघर्ष में ही रत नहीं थे, बल्कि ऐसे संघर्ष में जिसमें प्रतिद्वन्दी विदेशी था। उन्हें उसके बराबर खड़े होकर, उससे बड़ा व्यक्तित्व ओढ़कर लड़ना था। अतः वे सत्य को विष की तरह चुप-चाप पीकर पचा जाने और भूल जाने तक के लिए तैयार रहते थे। यह वह युग था जब शिष्य लोग मिलकर महर्षि की भाँति गुरु की स्थापना करते थे—क्योंकि उन्हें संसार के सम्मुख बड़ा दीखने के लिए एक महर्षि-तुल्य गुरुदेव की आवश्यकता थी। जहाँ भी उन्हें गुरु के जीवन में मानवजन्य कमियाँ या महर्ष्येतर व्यवहार दीखता था, उसे नज़र-अन्दाज़ कर जाते थे। और एक दिन जब ऋषित्व की आभा से संसार को, राष्ट्र को, समाज को, शिष्यों को स्वयम् को देदीप्यमान करने के बाद गुरु का स्वर्गवास हो जाता था तो सारे शिष्य गुरु की चिता के चारों ओर खड़े होकर, उनके पवित्र भस्मावशेष को हाथों में लेकर सौगन्ध खाते थे कि वे कभी भी गुरुदेव के जीवन के बारे में जो सत्य है, उसे नहीं कहेंगे। उनका आन्तरिक विश्वास था कि वे यह सब अपने और गुरु के हित में नहीं, मानवता, देश और समाज के हित में कर रहे हैं। असाधरण युग था, असाधारण लोग थे, असाधारण समस्याएँ थीं—और उनके समाधान के लिए उन्होंने जो शस्त्र निर्मित किये, जो नैतिक मुद्रा ग्रहण की, वह भी असाधारण थी।

गांधीजी-जैसे अवतारी पुरुष के नेतृत्व में जागने, खड़े होने और अभियान करने का सौभाग्य मनुष्यता के इतिहास में कम युगों को होता है। उन लोगों ने बड़ी वीरता, बड़ी तड़प, बड़ी लालसा से उस असीम ऊँचाई से आती हुई पुकार का जवाब दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन इस स्थिति ने उनकी आत्माओं में तनाव भी पैदा कर दिया। यह तनाव किस प्रकार पण्डित नेहरू तक में परिलक्षित होता है, इसका योग्यतापूर्ण विवेचन भारती जी अपने लेख 'हाथीदाँत की नयी मीनारें' (वाष्ट्रवाणी; सितम्बर, १९५६) में कर चुके हैं। लेकिन पण्डित नेहरू एक महान् व्यक्ति के महान् अनुगामी थे। इसलिए वे इस तनाव के ऊपर उठने के प्रयास में रत रहे। दूसरों में इस तनाव ने स्नायविक दुर्बलता का रूप लिया। उनके अन्तर्मन में डूबे हुए संशय की भाँति यह प्रश्न डोलता रहा : कहीं ऐसा न हो कि हम इस परम पावन पुकार के अयोग्य सिद्ध हो जायें! और धीरे-धीरे प्रेत की तरह चक्कर काटता हुआ यह प्रश्न सारे राष्ट्र की अन्तःसलिला में व्याप्त हो गया और उस युग की सांस्कृतिक मुद्रा का अंग बन गया।

आज़ादी के बाद स्नायविक दुर्बलता, अप्रिय भेद को छिपाये रखने की घबराहट, जो कुछ थोड़ा-सा महत्त्वपूर्ण हमारे पास है, उससे प्रति निरन्तर

गम्भीर पूजा की भावना और यथार्थ की अस्वीकृति, इन सबके स्थान पर प्रौढ़ता और परिपक्व बुद्धि की आवश्यकता थी। परन्तु अब भी पिछली पीढ़ी का यह हाथ छोड़ पाने में समर्थ नहीं हो पाये हैं। किस तरह अभी भी हमारी स्नायविक दुर्बलता रह-रहकर अभिव्यक्त हो जाती है, इसको दो-एक रोचक उदाहरणों से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

कुछ दिन पूर्व 'रिलीजस लीडर्स' नामक पुस्तक के एकाध वाक्यों को लेकर जो देशव्यापी तूफ़ान खड़ा हो गया था, उसे हमारे पाठकगण भूले न होंगे। मैं यह नहीं कहता कि उस पुस्तक में जो बातें कही गयी थीं, वे अवांछनीय या दुष्टतापूर्ण नहीं थीं। लेकिन इतनी-सी बात को लेकर जिस घबराहट और हिस्टीरिया का प्रदर्शन हुआ, उसमें अपरिपक्वता और स्नायविक दुर्बलता का तत्त्व कितना अधिक था, यह स्पष्ट है।

उस देश-व्यापी तूफ़ान से सभी परिचित हैं। लेकिन उसी से मिलती-जुलती एक दूसरी घटना को, जो उससे कुछ ही दिन पूर्व घटी थी, कम लोग जानते हैं। घटना इलाहाबाद की है, आज से लगभग डेढ वर्ष पहले की। इलाहाबाद के ऑफ़िसर्स ट्रेनिंग स्कूल में, जिनमें नये भर्ती हुए डिप्टी-कलेक्टरों और अन्य अफसरों की दीक्षा होती है, कोई समारोह था। जैसा कि स्वाभाविक है, उस समारोह के प्रमुख अतिथि थे उस प्रदेश के मुख्य मन्त्री। शाम को डिनर के उपरान्त विद्यार्थी-अफ़सरों ने कुछ मनोरंजन का कार्यक्रम किया। गायन, वादन, प्रहसन आदि चल रहा था कि एक घटना घटी। एक युवक अफ़सर ने, जो अवश्य ही कुशाग्र बुद्धिवाला रहा होगा, संस्कृत में गीता के कुछ श्लोकों की पॅराडी सुनाना शुरू किया। अभी तीन-चार श्लोक हुए होंगे कि सहसा मुख्य मन्त्री उठ खड़े हुए, उनके नेत्र लाल हो गये, भृकुटियाँ बंक हो गयीं और भुजदण्ड फड़कने लगे। "बन्द करो!" मुख्य मन्त्री ने ज़ोर से कहा, "यह क्या धृष्टता है! गीता की पॅरोडी! आप लोगों को शर्म नहीं आती? अपने देश की संस्कृति और परम्परा के विषय में आप लोगों की यही दृष्टि है! कोई विदेशी सुनेगा तो क्या कहेगा?" मुख्य मन्त्री की नाराज़गी का तत्काल परिणाम यह हुआ कि मनोरंजन-कार्यक्रम बन्द हो गया और विश्वविद्यालय से ताज़ा निकाला हुआ युवक नौकरशाह थरथर काँपने लगा। उसका व्यापक परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन अख़बारों में सनसनीखेज़ समाचार निकाला। लगभग एक हफ़्ते तक अख़बारों में छिटपुट वक्तव्य निकले। लगा कि धर्म पर संकट आ गया है। यहाँ तक कि एक उत्साही धर्म-रक्षक ने विधान-सभा में प्रश्न भी पूछ डाला।

बेशक तूफ़ान 'रिलीजस लीडर्स' की तरह नहीं उठा। शायद पुराना धर्म अपनी पुस्तकों और धर्म-संस्थापकों के विषय में इतना घबराया हुआ नहीं रहता जितना की अपेक्षाकृत नया धर्म। यह घबराहट प्रौढ़ और पुरातन संस्कृति की निशानी नहीं है। इस संस्कृति ने सहस्रों वर्षों में कृष्ण की न जाने कैसी कैसी गत बना डाली और इसकी मुद्रा में घबराहट नहीं आयी। इस विशेष घटना में तो उस युवक ने ऐसा कुछ भी अवांछनीय और दुष्टतापूर्ण कुफ़ नहीं किया था। फिर यह स्नायविक दुर्बलता क्यों? यह सूरदास की देन नहीं है। यह पिछली पीढ़ी की देन है। इसका मूल इस वाक्य में है : 'कोई विदेशी सुनेगा तो क्या कहेगा।'

एक दूसरी घटना भी सुनने में आयी। एक साहित्यिक मित्र कुछ दिन पूर्व विदेशों में भ्रमण करके आये। उन्होंने विदेशों में देखा कि भारतीय दूतावासों में अधिकांशतः लोग अँग्रेज़ी का व्यवहार करते हैं, हिन्दी का नहीं। बल्कि हिन्दी और भारत के विषय में विदेशी उन्हें भारतीय दूतावासों के लोगों से अधिक जानकार मिले। जर्मनी में तो एक विद्वान् ने उनसे मिलते ही पूछा, "अच्छा, आप भारतीय दूतावास से होकर आ रहे हैं, किस भाषा में बातचीत हुई?" एक अन्य दूतावास की घटना उन्हें ज्ञात हुई कि वहाँ कठोपनिषद् को मध्य प्रदेश का एक कस्बा बतलाया गया था! इसी तरह की बहुत-सी विचित्र और आँखें खोलने वाली सूचनाएँ उनके पास थीं। एक दृष्टि से देखिये तो गुलाम देश के वातावरण में दीक्षित नौकरशाही के इन प्रतिनिधियों का यह अज्ञान बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। और न शायद यह इतनी छिपाने की बात है। छिपाने से शायद इन कमियों को दूर करने में कठिनाई भी पड़े। लेकिन आश्चर्य की बात इसके बाद हुई। साहित्यिक मित्र ने सारी सूचनाएँ दिल्ली की राज्य-सभा के एक वयोवृद्ध सांस्कृतिक सदस्य को दीं। शायद उनका उद्देश्य था कि वयोवृद्ध अग्रज स्वयम् इन कमियों का रहस्योद्घाटन और मूलोच्छेदन करेंगे और उन्हें भी उत्साहित करेंगे। वयोवृद्ध सांस्कृतिक सदस्य के ऊपर, जिनकी राष्ट्रभक्ति और भारतीय संस्कृति-पूजा की भावना में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता, इस सबकी बिलकुल विपरीत प्रतिक्रिया हुई। पहले तो वे चुपचाप सुनते रहे। जब साहित्यिक मित्र सब कुछ सुना चुके, तो वे ठण्डी साँस लेकर, कुछ दुखित मुद्रा में बोले, "ठीक है, करो अपने देश की बुराई।"

सच से कतराने की, सोचने से घबराने की यह प्रवृत्ति हमें कहाँ ले जायेगी? अतीव पूजा अपने विरोधी, अतीव भय और अन्धेपन को जन्म देती है। जिन लोगों ने गांधीजी की सिर्फ़ पूजा की और जिस व्यक्ति ने गाँधाजी

पर गोली चलायी, वे दोनों एक ही युग की उपज थे। सभ्यता और संस्कृति के प्रवाह में जो सत्य आविष्कृत होते हैं, उनको स्वीकार करने वाले दो प्रकार के लोग होते हैं। एक तो वे जो समस्त धर्मों का परित्याग करके उसके प्रति शरणागत हो जाते हैं और भयाकुल हो उससे चिपटते रहते हैं; दूसरे वे जो उसे ओझल करके वहाँ से आरम्भ करना चाहते हैं जहाँ पिछला सत्य समाप्त हुआ था। पहले प्रकार के लोग स्थायित्व प्रदान करते हैं, दूसरे प्रकार के लोग प्रगति। पहली स्थिति मानसिक दृष्टि से कैशोर्य की स्थिति है, दूसरी स्थिति प्रौढ़ता की। हमारा युग प्रौढ़ता की माँग करता है। आज से कई दशक पूर्व जब इक़बाल ने कहा था :

> यूनानो-मिस्रो-रूमा सब मिट गये जहाँ से
> अब भी मगर है बाक़ी नामो निशाँ हमारा।
> कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
> सदियों रहा है दुश्मन दौरे-ज़माँ हमारा।

तो वे उस अधूरी भावुकता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति कर रहे थे जिसने हमारे देश को इस शताब्दी के मध्य तक चलाया। इतना ही तथ्य कि हम जीवित हैं, हमारी हस्ती मिटी नहीं है, जबकि यूनान, मिस्र और रोम मिट गये, उन्हें और एक पूरे युग को भावमग्न और उत्साहित करने के लिए काफ़ी था। इस हस्ती के पीछे कारण क्या था, बात क्या थी, यह प्रश्न न उनके लिए महत्त्वपूर्ण था, न उस युग के लिए। कुछ बात, कुछ-न-कुछ बात तो होगी ही। अभी तो आत्मबोध ही काफ़ी है। हम हैं।

हम, जिनके ऊपर उस 'कुछ बात' की छान-बीन करने का भार आ पड़ा है, इतनी आसानी से बचकर नहीं निकल जा सकते। हमें बहुत-से कलंक-स्थलों को उजागर करना होगा, बहुत-सी दुर्बलताओं को स्वीकार करना होगा, बहुत-सा विष पचाना होगा—और यह सब शक्ति, साहस और निर्ममता के साथ। कभी-कभी ऐसा भी लगेगा कि हम केवल विध्वंस कर रहे हैं, केवल खण्डित कर रहे हैं। केवल स्वर्ण-मुकुटों पर तेज़ाब डालकर उनका पीतल दिखला रहे हैं। लेकिन स्नायविक दुर्बलता से काम नहीं चलेगा। पीतल की जगह सोना लाकर रख देने वाला उपकारी होता है। परन्तु पीतल को ही सोना मानकर चलने वालों को पीतल और सोने का फ़र्क़ बताने वाला कम उपकारी नहीं होता। जब भी युग करवट लेकर आगे बढ़ता है तो बुराई को बुराई कहने वालों की ज़रूरत पड़ती है। दूसरे क्या कहेंगे, इस डर से सत्य को रोका नहीं जा सकता।

बात क्या मैंने बड़ी कही थी?
आज इतना भी असम्भव है
दूसरों की दृष्टि से ही
तुम्हें ख़ुद को देखना
इतना जरूरी है ?
मैं नहीं कुछ रहा ?
इसलिए मैं पूछता हूँ यह
कि शायद ज्ञात तुमको
यह न हो—
मैं आज अन्धा हूँ
क्योंकि तुम
सदा अनदेखी कराते रहे;
मैं आज बहरा हूँ—
क्योंकि तुम
अनसुनी करता रहूँ
इसके लिए मजबूर करते रहे ;
और अब—
पैरों तले का साँप तक
मुझको दिखायी नहीं देता ।

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने शेष रंगीन दुनिया को 'सभ्य' बनाने के लिए 'गोरे आदमी के बोझ' के रूप में अपने शासन के नैतिक अस्त्र का आविष्कार किया । भारत ने उस दम्भपूर्ण नैतिकता के जवाब में और भी ऊँचे स्वर में 'सभ्यता और संस्कृति के आदि गुरु : 'भारत' और 'आध्यात्मिक भारत' का फ़ार्मूला निकाला । ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पास भौतिक शक्ति थी । इसलिए उसकी नैतिकता में नीचता रह-रहकर परिलक्षित हो जाती थी । जब वह तर्क में हारता तो गोली चलाता । भारत के पास उमड़ता हुआ देशप्रेम था । जब वह भौतिक शक्ति से हारता तो कष्ट की आभा से आलोकित हो जाता और क्षमा कर देता । उस आलोक में उसे सारी जन्मभूमि स्वर्ग दीखती थी और प्रत्येक सार्थक भारतवासी ऋषि । कम-से-कम जब वह विदेश के सामने खड़ा होता था तो उसका भावात्मक मेक-अप ऋषि-जैसा होता था । घर के भीतर, दुनिया से दूर वह ज़रूर भारतवासी को वैसा ऋषि नहीं पाता था । लेकिन इसको वह चुपचाप तरह दे जाने की बात समझता था । कम-से-कम

यह कहने की बात तो नहीं थी। अगर ऊँचा दिखना जीवन-मरण का प्रश्न हो तो छोटे कद के बावजूद भी ऊँचा दिखना ही पड़ेगा, और बीच खेल के जो भी चिल्लायेगा कि हीरो के पैरों के नीचे बैसाखियाँ छिपी हुई हैं, तो उससे बड़ा ग़द्दार कौन होगा ?

इस अयथार्थ नैतिकता ने भारत के ऐतिहासिक व्यक्तित्व में जो शुभ-अशुभ प्रभाव उत्पन्न किये, उनका विश्लेषण तो हम इन स्तम्भों में कर ही रहे हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि स्वयम् ब्रिटेन में इस अस्वाभाविक सम्बन्ध की परिणति कुछ कम नहीं हुई। विक्टोरियन युग के साहित्यिक एवम् सामाजिक जीवन में हम जो नैतिकता और नीचता का सम्मिश्रण पाते हैं, उसका स्रोत भी यहीं है। अँग्रेज़ी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने भरसक साम्राज्यवाद के इस मूल स्रोत को आँखों से ओझल करने की कोशिश की है। उन्होंने विक्टोरियन युग की कपटपूर्ण नैतिकता को ब्रिटेन के आन्तरिक कारणों से उद्‌भूत मानकर सन्तोष कर लिया है। यही कारण है कि वे इंग्लैण्ड के विक्टोरियन युग को समझ नहीं पाये हैं। सत्य यह है कि साम्राज्यवाद न केवल शासित देशों का नैतिक पतन करता है, बल्कि शासक देश की आत्मा में भी कपट, आडम्बर और ह्रास उत्पन्न करता है। ब्रिटेन के विक्टोरियन कपट, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त की ह्रासोन्मुखता और बीसवीं शताब्दी की पराजय एवम् हताशा, इन सबके पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवाद है जिसका ज़िक्र अँग्रेज़ आलोचक या तो करते नहीं, या करते भी हैं तो बहुत बचाकर।

कपट हममें भी था, अँग्रेज़ में भी था। लेकिन हमारा कपट दुर्बल का, सर्वहारा का, आज़ादी के लिए प्राण होम करने वाले का कपट था। हम दुनिया को कम, अपने को ज़्यादा धोखा दे रहे थे। अँग्रेज़ का कपट शक्तिवान का, शोषक का, गोली चलाने वाले का कपट था। वह अपने को कम, दुनिया को ज़्यादा धोखा दे रहा था। इसीलिए हमें जब कपट की याद आ जाती थी तो हमें घबराहट होती थी, बस। अँग्रेज़ को जब कपट की याद आती थी तो उसका अन्तर असीम पीड़ा से कुरेदने लगता था। इस चुभन से व्याकुल होकर ही ऑस्कर वाइल्ड ज़िन्दगी को एक नकाब मान लेता है और केवल उत्तेजक इन्द्रिय-सुख में डूबकर कहता है : नैतिकता ? नैतिकता कोई वस्तु नहीं है। साम्राज्यवाद एक नैतिक चुनौती था जिसके जवाब में ग़लत बुनियादों पर ही सही, हम शीघ्रातिशीघ्र अन्तरात्मा (conscience) का निर्माण करने में लग गये और अंग्रेज़ शीघ्रातिशीघ्र अन्तरात्मा का विध्वंस करने में। अँग्रेज़ ही क्यों, उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद का सारा यूरोपीय दर्शन, चिन्तन और साहित्य अन्तरात्मा के विध्वंस की दर्दनाक कहानी है। इस विध्वंस-

प्रक्रिया में जिस चिन्तक ने सबसे ज़बरदस्त चोट की; उसका नाम था कार्ल मार्क्स। उसने यूरोप की सभ्यता को समस्त मानवता की शीर्षस्थ और अनुकरणीय सभ्यता सिद्ध करने का जो प्रयास किया, उसमें अन्तरात्मा का कहीं नाम-निशान नहीं है। मार्क्स ने 'गोरे आदमी के बोझ' को वैज्ञानिक रूप दे डाला।

इसीलिए साम्राज्यवाद का शिकंजा टूटने के बाद हमें जो दाय मिला, वह केवल स्नायविक दुर्बलता का; जिसके प्रति उन्मुख होना और जिसे जीत पाना हमारे लिए कठिन नहीं है। हमारे लिए अन्तरात्मा का निर्माण मानवता की प्रगति के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन अँग्रेज़ को जो दाय मिला उसमें सिर्फ़ एक व्यापक अपराध-भावना थी। अतः उसका सन्तुलन बिगड़ गया है। कभी वह उन्मत्त होकर स्वेज़ पर हमला कर बैठता है, कभी अफ्रीका के लाखों निवासियों को गोलियों और बमों का निशाना बनाता है। उसका आधा मन साम्राज्यशाही के विनाश को मानव-इतिहास में अपनी सबसे बड़ी जीत मानता है और आधा मन हाथ मलता है और चीख उठता है कि साम्राज्य का विनाश उसकी सबसे बड़ी हार है। यह अपराध-भावना और आत्मिक तिल-मिलाहट आज के अँग्रेज़ी साहित्य में व्याप्त है।

इस सन्दर्भ में हिन्दी और हिन्दी के लेखक की क्या स्थिति है ? हिन्दी के लेखक को देशव्यापी स्नायविक दुर्बलता का शिकार तो होना ही पड़ा। इसके अतिरिक्त उसकी एक विशेष परिस्थिति भी थी जिसने हमारी पिछली पीढ़ी के इस रोग को और भी गहरा बना दिया। आज जो कुछ हम देख रहे हैं वह नयी परिस्थितियों के साथ उसी ख़ुमार के टूटने का असर है। प्रश्न यह है कि क्या हम फिर इतनी आन्तरिक शक्ति अर्जित कर सकेंगे कि नयी चुनौतियों के समान नये व्यक्तित्व की उपलब्धि कर सकेंगे, नये मूल्यों की खोज कर सकेंगे, नयी आवाज़ में बोल सकेंगे ? इसके लिए यह समझना आवश्यक है कि पुरानी चुनौतियाँ क्या थीं और उनमें क्या परिवर्तन हुआ है; तथा आज जो कुछ हो रहा है, उनमें कौन कौन से तत्त्व काम रहे हैं।

यदि हम आज़ादी के बाद हिन्दी के लेखकों की वाहिनी की ओर दृष्टि-पात करें तो जो वस्तु हमें तत्काल चमत्कृत करती है, वह है इसकी विशालता और विविधता। आज़ादी के बाद लगता है कि कोई रुका हुआ स्रोत जैसे फूट पड़ा है—एक ज़बरदस्त भीड़ जिसकी संख्या हज़ारों तक पहुँचेगी, उभरती हुई दिखलायी पड़ेगी। बहुत कुछ लिखा जा रहा है। अगर आज आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जीवित होते तो वे इस असंख्य वाहिनी को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते; क्या ये ही वे हिन्दी के लेखक हैं जिनको

उन्होंने केवल एक पत्रिका 'सरस्वती' के सहारे मारकर, फुसला कर, धमकाकर, शिक्षा देकर, स्नेह और ममता उँडेलकर, एक-एक की सहायता कर,मुसीबत में काम आकर, सधे हुए क़दमों में चलना सिखाया था ? इन लेखकों की संख्या ही अनगिनत नहीं हो गयी है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से ये आते हैं। इनमें कचहरियों के मुन्शी हैं, दूकानदार हैं, वकील हैं, पुरोहित हैं, प्राइमरी स्कूल से लेकर विश्वविद्यालयों तक के अध्यापक हैं, किसान हैं, मज़दूर हैं, पूँजीपति हैं, मन्त्री हैं, क्लर्क हैं, आई० सी० एस० हैं, पत्रकार हैं, प्रकाशक हैं, निठल्ले हैं, उठाईगीरे हैं, उपदेशक हैं, शहीद हैं, सत्याग्रही हैं, पुलिसमॅन हैं—यहाँ तक कि खुफ़िया पुलिस के अधिकारी भी हैं। और हिन्दी लेखक की निवासभूमि भी अब बहुत विस्तृत हो गयी है, अब उसे आप इलाहाबाद के दारागंज मुहल्ले से लेकर, जहाँ उसने अँधेरी कोठरियों में दीप जला-जलाकर छन्द रचे थे, नयी दिल्ली के साउथ एवेन्यू तक पायेंगे जहाँ सत्ता, वैभव और नफ़ासत का राज्य है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर इस दृश्य की क्या प्रतिकिया होती ? शायद इस विशाल उच्छृंखल वाहिनी को एक डण्डे से हाँक सकने की असम्भावना पर वे थोड़ा खिन्न होते, लेकिन वे बहुत ही प्रसन्न होते, निश्चय ही बहुत प्रसन्न होते।

इस दृश्य की तुलना हिन्दी अर्थात् खड़ीबोली के वर्तमान युग के आरम्भ से कीजिये जब आज से कुल अस्सी वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नामक युवक ने सहसा यह निश्चय किया कि एक नये साहित्य, नये लेखक-वर्ग की आवश्यकता है। डॉ० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में :

"उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी-साहित्य मूलतः एक गोष्ठी-साहित्य (drawing-room literature) था जिसे कुछ इने-गिने साहित्यिक ही समझ सकते थे। कवि अधिकांश मुक्तक काव्यों में समस्या-पूर्तियाँ किया करते थे जो कवि-सम्मेलनों और कवि-दरबारों में पढ़ी जाती थीं। नाटक संस्कृत नाटकीय विधानों का अनुकरण करते थे जिनसे कुछ थोड़े-से व्यक्ति ही आनन्द उठा सकते थे। निबन्ध और समालोचना भी विशिष्ट श्रेणी के लिए ही होते थे।"

इसके बाद :

"बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी-साहित्य को गोष्ठी-साहित्य के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकालने का प्रयास किया गया और उसे एक नये मार्ग और लय पर ले चलने का उपयोग होने लगा।

परन्तु नया मार्ग ढूँढ़ निकालना भी साधारण काम न था। रास्ते सभी अनजाने थे। किसी ओर अंधाधुंध ढंग से बढ़ना भी ख़तरे से ख़ाली न था। फूँक-फूँककर पैर रखने की आवश्यकता थी। इस कठिन अवसर पर हमारे पथ-प्रदर्शकों ने बड़े साहस और उत्साह का परिचय दिया। ब्रजभाषा के स्थान पर काव्य में खड़ीबोली का प्रयोग होने लगा। संस्कृत, बँगला और अंग्रेज़ी ग्रन्थों का अनुवाद करके शब्दों की पूँजी बढ़ायी गयी। अन्य साहित्यों के अध्ययन से भावक्षेत्र का विस्तार बढ़ाया गया, ब्रज भाषा के विषय और उपादानों को छोड़कर प्रकृति और मानव-जीवन के साहित्य के लिए नये विषय चुने गये और शैली तथा साहित्य-परम्परा के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग (experiments) किये गये। हिन्दी-साहित्य अपने नये मार्ग पर चल निकला।

परन्तु इस अचानक परिवर्तन से साहित्य की व्यवस्था को भारी आघात पहुँचा; वह अव्यवस्थित हो गया और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इस नये मार्ग पर सभी लोग अपना अलग-अलग प्रयोग करने लगे। भाषा और शैली, रूप और छन्द, गति और परम्परा, विषय और उपादानों के लिए सब ने अपना नया रास्ता बनाना प्रारम्भ किया। सभी 'अपना-अपना राग और अपनी-अपनी डफली' में मस्त हो गये। साहित्य में अराजकता-सी फैल गयी। १६०० से १६०८ तक आठ वर्षों का समय आधुनिक साहित्य में अराजकता का काल है।"[१]

इसी रंगमंच पर द्विवदी जी सोंटा लेकर प्रवेश करते हैं और दस-बारह वर्षों के परिश्रम से अनुशासन उत्पन्न करते हैं। परन्तु इस 'अराजकता' में दो बातें एकसाथ घटित हुईं : एक तो हिन्दी लेखकों का समूह 'गोष्ठी-साहित्य' से बड़ा हो गया और दूसरे साहित्यिक अनुभूति में परिवर्तन हुआ। अंग्रेज़ी-साहित्य के समानान्तर प्रभाव को ध्यान में रखते हुए हम देखें तो यों कह सकते हैं कि यदि भारतेन्दु-युग में एलीज़बेथन युग के शेक्सपीयर और बेकन सर्वाधिक लोकप्रिय थे, तो द्विवेदीजी के आते-आते लोगों की रुचि पोप और गोल्डस्मिथ की ओर हो गयी। आगे चलकर छायावाद के साथ अंग्रेज़ी रोमॅण्टिक कवि वर्ड्स्वर्थ, शेली और कीट्स सामने आये। छायावाद के पराभव के साथ रोमॅण्टिक कवियों का स्थान ब्राउनिंग, डी० एच० लॉरेन्स और टी० एस० इलियट ने लिया। अंग्रेज़ी प्रभाव के इस रेखाचित्र का समानान्तर इधर-उधर सम्भवतः अक्षरशः ठीक न हो। परन्तु व्यापक दृष्टि से अवश्य

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० १५ और १७

यह प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। अंग्रेज़ी ने जिस भावनात्मक अभियान को एलीज़बेथन युग से आज तक प्रायः साढ़े तीन सौ वर्षों में पूरा किया, उसे हिन्दी ने लगभग अस्सी वर्षों में। इससे यह संकेत तो मिलता ही है कि आधुनिक हिन्दी की भावनात्मक गति कितनी तीव्र रही है और शायद यह भी कि सम्भवतः अभी ही वह स्थिति आयी है कि हिन्दी के लेखक अंग्रेज़ी प्रभाव से बिल्कुल मुक्त होकर साहित्य-रचना कर सकें, और हिन्दी में बारम्बार अंग्रेज़ी अनुभूति के दुहराये जाने का जो आभास मिलता रहा है, वह भविष्य में न मिले। राजनीतिक दृष्टि से भी हमारे लिए यह अब नितान्त सम्भव है। हमें अनुभूति की जो नयी ज़मीन तोड़नी है, वह हमारे अपने आविष्कार का पूर्ण परिणाम होगी।

अनुशासन और नियमन में व्यस्त द्विवेदीजी की मुद्रा उस सख्त हेडमास्टर जैसी है जो साफ़-सुथरे कड़े नियमों का पालन करता है, वर्णमाला और व्याकरण की अशुद्धियों को दस-दस बार लिखवाता है, भले लड़कों को पुरस्कार देता है, शरारती लड़कों को निकाल बाहर करता है, और जब प्रसन्न होता है तो अपने कोमलपद बालचरों के लिए कॅम्प-फ़ायर करवाता है। उसकी 'कड़ी' मुद्रा के भीतर उसका हृदय उज्ज्वल आदर्श और औचित्य-पूर्ण मर्यादा-भावना से ओतप्रोत रहता है—मन-ही-मन वह सपना देखता है जब उसके बालचर भविष्य में हीरो बनेंगे नेल्सन की तरह, नेपोलियन की तरह, गॅरीबाल्डी की तरह या विवेकानन्द की तरह। एक बाल्टी तेल में निरन्तर चौदह बेंत भिगोकर रखने वाले उस आदर्शवादी मर्यादाबद्ध और स्वप्नदर्शी हेडमास्टर की जाति इतिहास में विलीन हो गयी—उसकी विकराल बाल्टी से वेस्ट-पेपर बास्केट का काम लिया जाने लगा। सुनता हूँ, मेरे पुराने स्कूल के थरथर कँपाने वाले 'कड़े' हेड मास्टर साहब की जगह आजकल जो सज्जन हैं, वे हास्यरस के लेखक हैं।

लेकिन हिन्दी का लेखक सदा कोमलपद बालचर ही नहीं बना रह सकता था। उसकी उम्र बढ़ी। वह किशोर हुआ और उसके मन में हीरो बनने की लालसा जगी। लेकिन जो हीरो उसके स्वप्न में आये, उनकी रूपरेखा बिल्कुल भिन्न थी। वे 'अनुशासन' वाले हीरो नहीं थे; वे उस तरह के हीरो थे जिनमें एक तड़पती हुई स्पृहा होती है जो उन्हें पर्वतों, मैदानों, बादलों, नदियों और समुद्रों में घुमाती है। वे हीरो फ्रांस के 'रूसो' (Rousseau) के मानसपुत्र थे। लेकिन वे बिल्कुल रूसो-जैसे नहीं थे। उनमें उन ऋषियों का भी समावेश हुआ जिन्होंने उपनिषद् रचे और सन्तों का जो अनदेखे, अनसुने के पीछे विह्वल हो गये थे।

यद्यपि द्विवेदीजी की मृत्यु बहुत बाद में हुई, परन्तु १६२०-२२ तक उनका सक्रिय सम्पादन-काल समाप्त हो चुका था। उसके पहले ही उन्हें दिखने लगा कि इतने मनोयोग से बनायी हुई उनकी पाठशाला में उच्छृंखल आवाजें आना शुरू हो गयी हैं। कुछ ही दिन पूर्व बाल गंगाधर तिलक का भी स्वर्गवास हुआ हुआ था। तिलक और द्विवेदीजी के साथ सारे देश और हिन्दी की एक भावनात्मक प्रक्रिया का युग समाप्त हुआ। उसी समय अरब सागर के तट पर जो नया आदमी उतरा, वह बिल्कुल भिन्न था; उसकी भाषा अटपटी थी, उसकी वाणी के भीतर अतल गहराई की गूँज थी और मुद्रा सौम्य। देखने में वह बिल्कुल साधारण जान पड़ता था, परन्तु उसके चारों ओर एक विचित्र-सा हलका-हलका विनम्र प्रकाश निकल रहा था। धीरे-धीरे परन्तु बहुत आत्मविश्वासपूर्ण शब्दों में उसने कहा, "मैं सत्य के लिए सारे भारतवर्ष को अरब सागर में डुबो देने को तैयार हूँ।" यह बात, यह ध्वनि, यह अनुभूति बिलकुल नयी थी। सारे देश को जैसे बिजली छू गयी। सब ने क्षितिज के पार उस अनन्त दिशा की ओर ललककर देखना शुरू किया जिधर वह देख रहा था। उल्लास और आतुरता से सबने पूछा, "आप वहाँ क्या देख रहे हैं? वहाँ तक हमारी निगाह नहीं पहुँचती।" उत्तर उसी सौम्य स्वर में मिला, "मैं वहाँ सत्य देख रहा हूँ। मैं अपनी अन्तर्ध्वनि सुनता हूँ। बहुत गहराई में वह क्षितिज पार का सत्य ध्वनित होता रहता है। प्रयत्न करो।"

लोगों ने प्रयत्न किया। पता नहीं उन्हें अन्तर्ध्वनि सुनायी पड़ी या नहीं, क्षितिज के पार का सत्य दिखलायी दिया या नहीं, परन्तु मन में गहरे उतरने पर उन्हें उद्वेलित करती हुई एक प्यास अवश्य मिली। उस प्यास के लक्षण भी सत्य ही जैसे थे, वही गहराई, वही उद्दामता, वही अनन्तता। उन्होंने सोचा, वह प्यास ही अन्तर्ध्वनि है।

गांधीजी अपने साथ न सिर्फ़ नया सत्य लाये थे, बल्कि उसकी अनुभूति की एक नयी प्रणाली भी। उनके 'अनुशासन' का तात्पर्य भी नया था। उनके सत्याग्रह में एक अनोखी बात थी; जब उनकी सेना युद्धक्षेत्र में उतर जाती, संग्राम कठिन हो जाता, तभी वे घोषित करते कि हर सत्याग्रही स्वयम् अपना सेनापति है।

जिन लोगों ने उस दिशा में देखा जिधर यह नया महापुरुष देख रहा था और अन्तर्ध्वनि सुनने की चेष्टा की, उन लोगों ने हिन्दी में छायावादी कविता का आवाहन किया। कुछ ऐसे भी थे जिन्हें अन्तर्ध्वनि सुनने की न अभिलाषा थी और न शायद सामर्थ्य ही। उन्होंने क्षितिज की दिशा में न देखकर

महापुरुष की ओर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर दी। उन्होंने उस समय 'राष्ट्रीय' कही जाने वाली कविताएँ लिखीं और समाज-सुधार के उपन्यास लिखे जिसके शीर्ष पर प्रेमचन्द हैं। संक्षेप में हिन्दी में गाँधीजी का व्यक्तित्व दो भागों में विभाजित हो गया। एक ने सत्य की अनुभूति की प्रणाली ली और दूसरे ने सत्य की वे व्याख्याएँ जो गांधीजी ने विकसित कीं।

इस नयी भावनात्मक प्रक्रिया के साथ-साथ कई घटनाएँ घटीं। एक तो 'अनुशासन' की जगह हिन्दी में फिर 'अराजकता' का युग आया। इस अराजकता के साथ हिन्दी के लेखकों की संख्या फिर बढ़ी और नये सामाजिक स्तरों से लोग हिन्दी में आये। 'अराजकता' का यह दूसरा चरण पहले चरण से भिन्न था। इस बार 'अनुशासन' का तात्पर्य ही बदल गया। अब द्विवेदीजी की तरह हिन्दी लेखक को अनुशासित करना सम्भव ही नहीं रह गया। इसकी एक भगीरथ पुनरावृत्ति आगे चलकर कम्युनिस्ट प्रगतिवादी आन्दोलन ने करने की चेष्टा की। कम्युनिस्ट प्रगतिवादियों के पास द्विवेदीजी की गुरुसुलभ गरिमा, आन्तरिक ममता एवम् शालीनता तो नहीं थी, परन्तु उन्होंने बाल्टी के बेंत की उत्पीड़क टेकनीक का ख़ासा उपयोग किया। परिणाम वही निकला जिसकी आशा थी। हिन्दी के लेखकों ने पाठशाला में शामिल होने से इन्कार कर दिया। शिक्षक के पास विद्यार्थी ही नहीं रह गये। अस्तु, प्रगतिवाद बाद की घटना है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

जिस जगह छायावादी कवि, राष्ट्रीय कविता और समाज-सुधार के उपन्यास आकर मिलते हैं, उसको ध्यान में रखकर ही मैंने यदा-कदा 'सत्याग्रह-युग' का प्रयोग किया है। इस नाम से उस युग की विभिन्न धाराओं की व्यापक एकता को सामने रखने में आसानी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त हम प्रथम महायुद्ध के बाद से आज़ादी तक के पूरे काल को भी एकसाथ देख सकेंगे। अपने प्रथम लेख 'हिन्दी की दो पीढ़ियाँ और युग-परिवर्तन' (राष्ट्रवाणी : जून, १९५६) में मैं उस युग के हीरो के उत्थान, विकास और पतन की रूपरेखा दे चुका हूँ जिसकी कथा इस युग में भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गयी है। अब यह आवश्यक है कि हम भावनाओं के इस विस्फोट और प्रवेग को उस देशव्यापी स्नायविक दुर्बलता की अन्तःसलिला से जोड़ें जिसका विवेचन मैंने इस लेख के आरम्भ में किया है।

मैंने कहा है कि इस युग के चिन्तकों और साहित्यकारों में हमें एक विशेष प्रकार की कातरता का आभास मिलता है। जिस हद तक इस कातरता का कारण देश भर में व्याप्त था, उस हद तक इसका लक्षण देश की अन्य भाषाओं में भी मिलता होगा। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने में असमर्थ हूँ। यह

बात दूसरी है कि यह मेरे लिए, हम सबके लिए एक मनोहर सपना है जिस दिन हम हिन्दी के ही माध्यम से देश भर के साहित्य और चिन्तन के विषय में सब कुछ कहने में समर्थ हो जायेंगे, जिस तरह अँग्रेज़ी के माध्यम से संसार भर के साहित्य के विषय में कहने का दावा करते हैं। शायद वह समय शीघ्र आ रहा है। सूचना-मार्तण्ड बन्धु प्रभाकर माचवे शायद उसके हरावल हैं। जिस दिन वह समय आयेगा, और माचवेजी के अनुरूप लेखकों का बाहुल्य हो जायेगा, उस दिन फिर एक बार हिन्दी में विस्फोट होगा; एक नया युग जन्म लेगा; नये सिरे से अभूतपूर्व 'अराजता' का दौर-दौरा होगा। लेखकों की विशाल भीड़ में और भी वर्गों के लोग शामिल होंगे—ऐसे लोग भी कविताएँ लिखेंगे जिनके कवि होने की हम बीस वर्ष पहले कल्पना भी नहीं कर सकते थे, और आज भी सिर्फ़ कल्पना ही कर सकते हैं—उदाहरण के लिए, भारतीय सेना के सैनिक ? अस्तु।

छायावाद-युग या सत्याग्रह-युग का साहित्यकार कई दृष्टियों से खण्डित व्यक्तित्व का साहित्यकार है। अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद द्विवेदी-युग ने पूर्ण व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा। व्यक्तित्व को खण्डित कर देने से एक तरह की मुक्ति का भान अवश्य हुआ और अनुभूति किनारे तोड़कर बह निकली। परन्तु इस भावना के प्रवाह में भी एकांगीपन की ओर इंगित प्रायः आलोचकों ने किया है। एक दिलचस्प रुचिभेद से इसका संकेत मिल जायेगा। उस काल में किसी के विषय में इतना कह देना कि वे 'कवि' हैं, लगभग इसका पूर्ण परिचय हो जाता था कि वे किस तरह के आदमी हैं! आज हम यह जानने के लिए कि कोई किस प्रकार का कवि है, यह जानना आवश्यक समझते हैं कि वह किस तरह का आदमी है। द्विवेदी-युग में भी 'कवि' होना एक टाइप' का द्योतक नहीं था। कोई भी कवि हो सकता था और तरह-तरह के लोग कवि होते भी थे। यह नये प्रकार का कवि जो चौबीस घण्टे, बारह मास 'कवि' ही था, जिसकी वेशभूषा, वाणी, बाह्य आवरण सब में असाधारणता थी, छायावाद-युग में जन्मा और शीघ्र तिरोहित भी हो गया। हमने पहले कहा है कि गांधीजी का व्यक्तित्व हिन्दी में दो भागों में दो विभक्त हो गया। यदि हम गांधीजी को उस युग का पूर्ण व्यक्तित्व मानें तो बहुत कुछ इस खण्डित व्यक्तित्व के स्रोत का भी अनुमान लगा सकते हैं। साथ ही उस डोलते हुए प्रश्न की छाया भी हमें मिल जायेगी : कहीं हम इस नैसर्गिक प्रकार के अयोग्य न सिद्ध हो जायें! खण्डित व्यक्तित्व कातरता को जन्म देता है; कातरता स्नायविक दुर्बलता को।

परन्तु हिन्दी के लेखक की एक और विशेष स्थिति थी जो उसकी अपनी

अलग समस्या थी। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि नये लोगों के बावजूद भी हिन्दी का लेखक अभी न बहुत बड़ी संख्या को प्राप्त कर सका था, न समाज के हर वर्ग तक अपने को पहुँचा सका था। अभी भी वह काशी, इलाहाबाद और दो-एक अन्य केन्द्रों से सीमित था। इसके पूर्व कि यह होता, हिन्दी के सामने जो समस्या पहले भी थी, उसने एक विशिष्ट रूप धारण कर लिया। हिन्दी के लेखक को अपनी भाषा की मान्यता के लिए उत्कट संघर्ष में रत हो जाना पड़ा। यह एक बाह्य दबाव था जिसने ख़ासा स्नायविक तनाव, फलत. स्नायविक दुर्बलता पैदा की। एक तो मध्यदेश के उस शिक्षित वर्ग ने जिसे समाज का 'बुद्धिजीवी' वर्ग कहते हैं, आरम्भ से ही हिन्दी का उस तरह साथ नहीं दिया जिस तरह बँगला, मराठी या अन्य भाषाओं में हुआ। यह वर्ग समाज में शीर्षस्थ था। हर ओर हिन्दी लेखक को एक बौद्धिक 'स्नॉबरी' का सामना करना पड़ता था। यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी का लेखक या शिक्षक होना सम्मान से कुछ नीचे की बात समझी जाती थी। बेशक, हिन्दी के लेखक ने इसे स्वीकार कभी नहीं किया। परन्तु उसे सब जगह इसका सामना अवश्य करना पड़ा। इसका एक फल यह हुआ कि हिन्दी के लेखक ने 'बौद्धिकता' (Intellectualism) को अत्यन्त सन्देह और कोप की दृष्टि से देखना सीख लिया। अब यह आदत छूट रही है, परन्तु धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा के दावे को बार-बार अस्वीकृत किया गया, साम्प्रदायिकता का प्रश्न भी इसमें आकर जुड़ गया, प्रादेशिक भाषाओं के साथ प्रतिद्वन्द्विता की भावना उभरी, और स्वयम् गांधीजी ने हिन्दुस्तानी का एक अलग प्रश्न खड़ा कर दिया। स्नॉबरी का सामना तो अन्य भाषाओं को भी करना पड़ा, परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ इन अँग्रेज़ और अँग्रेज़ी-भक्त कुलीनों की कुलीनता समाप्त हो गयी। लेकिन हिन्दी को इस स्नॉबरी का अनुभव राष्ट्रीय शिविर में भी हुआ। स्वयम् हिन्दी-भाषी क्षेत्र के चोटी के नेता, यहाँ तक कि सबसे ऊँची चोटी के नेता, ऐसे थे जिन्हें हिन्दी से कोई सरोकार नहीं था।

इस सबका प्रभाव पड़ा। हिन्दी के लेखक हिन्दी के पहले हो गये, लेखक बाद में। राष्ट्रीय भावना के सारे उत्थान-पतन को अनुभव करने के बावजूद उनकी आदत हिन्दी के बन्द कमरे में रहने की हो गयी। पहले तो इससे ही इनकार किया गया कि हिन्दी बोलने और पढ़ने वालों की संख्या अधिक नहीं है। जब यह युद्ध समाप्त हो गया और हिन्दी-भाषी सत्रह करोड़ माने जाने लगे तो दूसरा अधिक द्योतक तर्क सामने आया कि हिन्दी अभी राष्ट्रभाषा होने के 'योग्य' नहीं है। जितना ही यह आरोप दुहराया जाता, उतना ही हिन्दी के लेखक कुछ भयाकुल, कुछ आवेशपूर्ण भावना से एकजुट होकर एक

स्वर में आवश्यकता से अधिक आत्मपूजन, अभिनन्दन, योग्यता-सिद्धि में रत होने लगे। उनके लिए उच्चस्वर अभिनय, एक घेरे में बँधी हुई बिरादरी-भावना जीवन-मरण का प्रश्न मालूम पड़ने लगी। इस बिरादरी का ज़ोर यहाँ तक था कि एक ओर स्वतन्त्रता-आन्दोलन में जूझने वाले 'हिन्दी भक्त' राष्ट्रीय नेता और दूसरी ओर अँग्रेज़ी-राज से रायसाहब का ख़िताब पाने वाले पुश्तैनी ग़ुलाम एक ही पाँत में बैठते, एक ही तरह बोलते और एक ही तरह अनुभव करते : उनकी 'राष्ट्रीयता' सम्बन्धी धारणाएँ भी बहुत कुछ समान हो गयीं। हिन्दी के लेखक को यह समझने की आदत पड़ने लगी कि उसकी 'राष्ट्रीयता' कुछ उस 'राष्ट्रीयता' से भिन्न है जो पण्डित जवाहरलाल नेहरू की है, या बंगाल की है, या महाराष्ट्र की है, या तमिलनाड की है। इसके अपवादस्वरूप उदाहरण भी हैं, परन्तु यह एक प्रधान मनःस्थिति थी। और इसके बहुत नीचे अन्तःसलिला की भाँति वही प्रश्न था : कहीं हम अयोग्य न सिद्ध हो जायें। हिन्दी का कमरा बहुत बड़ा था, लेकिन कमरा तो था ही।

१६५० में स्वतन्त्र देश में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर लिया। एक झटके के साथ परिस्थिति बिलकुल बदल गयी। आज़ादी के बाद फिर एक विस्फोट हुआ। दीवारें टूटीं। बिरादरी छिन्न-भिन्न हो गयी। वे जिन्होंने अँधेरी कोठरियों में औरों के साथ बैठकर दिये के नीचे कविताएँ लिखी थीं, पढ़ी थीं, साउथ एवेन्यू में दिखलायी पड़ने लगे। 'अराजकता' का तीसरा और सबसे व्यापक चरण आरम्भ हुआ। 'योग्यता' अब एक स्वर में अभिनन्दन की वस्तु नहीं रह गयी, वह विश्लेषण और वैचारिक प्रतियोगिता की वस्तु हो गयी। श्रद्धा का स्थान विवेक ने लिया। इतना ही नहीं, साहित्य में विविधता आने लगी। नयी पीढ़ी ने जन्म लिया। जिस तरह छायावाद-युग ने द्विवेदी युग की अनुभूति-प्रक्रिया को बदल दिया था, उसी तरह अनुभूति-प्रक्रिया में फिर परिवर्तन हुआ। अनुभूति हृदय की प्यास न होकर विचारों और मूल्यों की अनुभूति हुई। नये कवि का आगमन हुआ जिसने खण्डित व्यक्तित्व के विरुद्ध, जो भावना और बुद्धि को अलग करती है, विद्रोह किया और पूर्ण व्यक्तित्व के साथ दोनों को अभिन्न करने की माँग की। इतना ही नहीं, इस नयी चेतना में लेखक के लिए पूरा भारतवर्ष एक राष्ट्र हो गया, हिन्दी-क्षेत्र की अलग सत्ता नहीं रह गयी। वह भारतीय लेखक होने का प्रयास करने लगा, हिन्दी-लेखक नहीं। जिन मानसिक प्रतिबन्धों ने प्रेरणा देकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाया था, राष्ट्रभाषा बनने के बाद सबसे पहला आघात उन्हीं प्रतिबन्धों पर करना आवश्यक हो गया।

फिर भी कुछ अंशों में पुरानी स्नायविक दुर्बलता रह-रहकर चिलक उठती

है। बन्द कमरे में रहते-रहते हम इसकी गन्ध और इसकी गूँज के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि खिड़कियाँ और दरवाज़े खुलने की कल्पना से ही घबराहट होती है। ऐसा न हो कि हमारे भाई-बन्द जो इस बड़े हॉल के चारों तरफ़ कमरों में रहते हैं, यहाँ आ जायें, हमें रास्ता बना लें ! ऐसा न हो कि वे हमारी कमज़ोरियों, कठिनाइयों, परेशानियों से परिचित हो जायें !

अभी हाल में किसी पत्रिका में एक लेखक-बन्धु का लेख पढ़ा। उन्होंने बड़े दर्द से बयान किया था कि पिछले वर्षों में भारत की अन्य भाषाओं से हिन्दी में बहुत-सी पुस्तकें अनूदित हुई हैं जबकि हिन्दी से अन्य भाषाओं में बहुत कम। लेखक-बन्धु को इसमें हिन्दी का दुर्भाग्य ही नज़र आया। उनकी इस प्रतिक्रिया को व्यक्तिगत समझकर उपेक्षित कर जाता। परन्तु यही चर्चा दो-एक अन्य पत्रिकाओं में देखी, लोगों से सुनी। और तब समझ में आया कि यह हमारी स्नायविक दुर्बलता बोल रही है। अगर मन को स्थिर करके विचारें तो इससे अधिक स्वाभाविक और क्या होगा कि भारत की तमाम भाषाओं का सामयिक और अतीत साहित्य हिन्दी में अनूदित हो जाये ? हिन्दी प्रदेश और हिन्दी-लेखकों का तो इसमें लाभ है ही, अन्य भारतीय भाषाओं का भी लाभ है। राष्ट्रभाषा की सहज उपयोगिता यही है कि बँगला का लेखक यदि यह जानना चाहे कि तमिल, मलयाली, मराठी, कन्नड़ में क्या लिखा जा रहा है, तो उसे यह जानकारी हिन्दी के माध्यम से प्राप्त हो जाये।

और वर्ष भर पूर्व जब भारती का तेज़ लेख 'धुरीहीनता' प्रकाशित हुआ था तो इस स्नायविक दुर्बलता ने कितना तहलका मचाया था—क्रोध, दुर्वचन, श्राप, कटूक्तियों की बाढ़ आ गयी ! इसलिए कि भारती ने अन्ध श्रद्धा के अनावश्यक महल को चोट से ध्वस्त कर दिया और लेखकों को वहाँ लाकर खड़ा कर दिया जहाँ उनसे आदमी की तरह बात की जा सके, खुलकर बहस की जा सके और शायद ममत्व भी दिया जा सके। जिन असंगतियों को भारती ने खोलकर सामने कर दिया था, उन्हें झूठा कोई नहीं कह सका — लेकिन इस शोर के साथ टूटी तलवारों की मूठें अवश्य घुमायी गयीं कि भारती ने इतना बड़ा सत्य कहा कैसे और वह भी महाराष्ट्र की एक पत्रिका में जिसको अहिन्दी-भाषी मराठी, बल्कि दक्षिण भारत भर के लोग पढ़ते हैं।

एक समूची पीढ़ी हिन्दी में इस दृष्टिकोण को बनाने के लिए खर्च कर दी गयी कि हिन्दी के लेखकों की एक अलग जाति है जो देश के अन्य लेखकों से भिन्न है। लेखक-लेखक का भ्रातृत्व न विकसित होकर एक भाषा की दूसरी भाषा के प्रति नीति ही विकसित होती रही और हिन्दी के लेखक

बिना कहे ही चुपचाप यह मानकर चलते रहे, जैसे हिन्दी स्वयम् एक राष्ट्र हो, अन्य भाषाएँ दूसरा राष्ट्र हों, जैसे हिन्दी की एक 'परराष्ट्र-नीति' हो और हिन्दी के हर लेखक के लिए इस परराष्ट्र नीति का झण्डा बुलन्द करना ज़रूरी हो। मैं उस पीढ़ी और उसकी 'परराष्ट्र-नीति' के विरुद्ध विद्रोह करना चाहता हूँ। सारा भारत एक राष्ट्र है। मैं उसका स्वाधीन लेखक हूँ। हम दोनों के बीच किसी समूह या प्रदेश की सार्थकता नहीं है। इस विषय में मेरे मन में कोई भी द्विविधा नहीं है। मैं हिन्दी में लिखता हूँ, इसलिए कि अन्य भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी में लिखना मेरे लिए आसान है। लेकिन मेरा मातृत्व हिन्दी से बड़ा है। तेलुगु में आसान पड़ता, तेलुगु में लिखता और न अपनी राष्ट्रीयता कभी महसूस करता, न दुःखी होता।

इतना ही नहीं, मैं भारत की सभी भाषाओं के लेखकों के विषय में उसी तरह खुलकर लिखना चाहता हूँ जिस तरह हिन्दी के विषय में। मैं जानता हूँ कि अन्य भाषियों की पिछली पीढ़ी ने भी यों ही दरवाज़े बन्द किये हैं, यों ही बिरादरीपन के कटघरे से आत्माभिनन्दन किया है। मैं उन्हें भी तोड़ने का अधिकार चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि उसका अधिकार मुझे तभी मिलेगा जब मैं पहले अपनी दीवारें तोड़ूँगा। वहाँ भी नयी पीढ़ी होगी। वह मेरी आवाज़ों का उत्तर देगी। परन्तु यदि वह नहीं भी देती तो भी मेरा कर्तव्य पहला क़दम उठाने का विशेष है, क्योंकि मैं हिन्दी का ही नहीं, राष्ट्रभाषा का लेखक हूँ।

संक्षेप में यह वह स्थिति है जहाँ आज हिन्दी का लेखक खड़ा है, ये वे रास्ते हैं जिन्हें पार करके वह आया है। उसने अपने इस अस्सी वर्ष में कितने अन्दरूनी विस्फोट सहे और बाहरी संघर्ष। 'गोष्ठी-साहित्य' से आरम्भ करके आज वह देशव्यापी लेखक-समूह में बदल गया है। और हर उठान के साथ उसमें नये सामाजिक स्तरों, नये क्षेत्रों से लेखक आकर जुड़ते रहे। हर लहर ने 'टिपिकल' हिन्दी-लेखक का स्वरूप ही बदल दिया, यहाँ तक कि आज शायद ही कोई 'टिपिकल' रह गया हो। अनधिकार-चेष्टा से आरम्भ करके राष्ट्र-भाषा का बोझिल दायित्व उसके कन्धों पर आ गया है। उसकी अनुभूति, प्रक्रिया और साहित्यिक धारणाओं में पचास वर्षों में तीन या चार मूलभूत क्रान्तियाँ हो चुकी हैं। और यह सब इतनी गर्दनतोड़ तेज़ रफ़्तार से कि उन अनुभूतियों को भी पूरी तरह भोगने, तृप्ति तक पहुँचाने की फ़ुरसत नहीं रही। इसके पहले कि वह एक प्रकार से बोलने, अनुभव करने की कोशिश करता, एक नयी बाढ़ आती और सबको बहाकर कोसों दूर ले जाकर पटक देती। आज हिन्दी में जितने कवि और लेखक 'सुदूर इतिहास' की सामग्री

बनकर जीवित हैं, शायद ही किसी अन्य साहित्य में हों। किसी नगर के सब कवियों को इकट्ठा कर लीजिये, रीतिकाल से लेकर नयी कविता तक सब एकसाथ दिखलायी देंगे जिस तरह पुराने खँडहरों की खुदाई में मिट्टी की पर्तों में तह-पर-तह सभ्यताएँ एकसाथ दिखलायी देती हैं। और आज जब सहसा आज़ादी के साथ विचारों, मान्यताओं, आदर्शों के साकार होने का प्रश्न आ गया है, तब इसमें आश्चर्य की बात क्या है कि इतिहास की ये ज़िन्दा पर्तें घबराने लगें, और मालूम पड़े कि पैरों-तले की ज़मीन अब छूटी, अब छूटी? इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि तेज़ विवाद और जलते प्रश्न उठ खड़े हों और हर नये तर्क के साथ भान हो कि यह तो तमाम मूल्यों को जड़ से उखाड़ने की बात है?

समस्या समझौते की नहीं है, समझने की है। दुःखी होने की नहीं है, साहस की है। नयी ज़मीन पर फूंक-फूंककर क़दम रखना चाहिए, यह ठीक है; लेकिन कहीं ऐसा न हो कि हम फूंकते ही रह जायें, क़दम रखने की नौबत ही न आये। इससे ज़्यादा स्वाभाविक और क्या होगा कि इन प्रश्नों, इन विवादों, इन समस्याओं से सबसे अधिक मथित वे ही हों जो नयी चेतना, नयी अनुभूति, नयी कल्पनाओं के वाहक हैं? यह नहीं है कि वे कहीं बाहर से आ गये हैं। भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक का भावनात्मक अभियान उनके ख़ून में दौड़ता है, उनकी हड्डियों में जज़्ब हो चुका है। लेकिन वे वर्तमान से, भविष्य से सार्थकता की माँग करते हैं।

और अन्त में इससे अधिक स्वाभाविक और क्या होगा कि उनकी आत्म-विश्वासपूर्ण और तेजस्वी ममता के आगे अतृप्त स्नायविक दुर्बलता घबराये, उसे न पैरों-तलेका साँप दिखायी दे, न पैरोंके आगे का रास्ता?

मेरे आह्वान से अगर प्रेत जागते हैं
मेरे सगो, मेरे भाइयो,
तो तुम चौंकते क्यों हो?
मुझे दोष क्यों देते हो?
ये तुम्हारे ही तो प्रेत हैं।
तुम्हें किसने कहा था, मेरे भाइयो,
कि तुम अधूरे और अतृप्त मर जाओ?

—अज्ञेय

अक्टूबर, १९५७

शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट

शमशेर की कविता के बारे में बातें करने में मैं एक कठिनाई महसूस करता हूँ। मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि चर्चा को किस पहलू से उठाया जाय। मैं महसूस करता हूँ कि शायद बहुत से आरम्भिक सवाल भी शमशेर की कविता को लेकर होंगे। इस स्तर पर शायद लोग यह भी प्रश्न उठाने की ज़रूरत समझें कि जो कुछ शमशेर ने अब तक लिखा है या प्रकाशित कराया है, वह कविता है भी या नहीं। लिखने को तो शमशेर ने ग़ज़लें भी लिखी हैं, 'निंदिया सतावे मोहें सजनी' जैसे गाने भी लिखे हैं, मुसद्दसनुमा एक पत्राचार भी उनके संग्रह में है। लेकिन शमशेर की कविता का वह केन्द्रीय भाग, जो उनका ख़ास रंग है, बहुतों के लिए संदेह-भरी भ्रू-भंगिमा का अवसर भर हो सकता है। इस प्रश्न का जवाब देने के लिए नयी कविता को लेकर चलने वाली पिछले बीस बरसों की बहस को फिर से उधेड़ना पड़ेगा जो शायद बहुतों को पिष्टपेषण लगेगा। फिर शमशेर की कविताओं की दुरूहता का प्रश्न है। इसमें शक नहीं कि हिन्दी में शमशेर से ज़्यादा दुरूह कविताएँ किसी और ने नहीं लिखी हैं। शमशेर के बारे में बात करने वाले व्यक्ति से शायद एक उम्मीद की जा सकती है कि वह बहुत कुछ व्याख्याता का काम करे। यह काम अपने में ही इतना दिलचस्प है कि शायद पूरी बातचीत इसी तक सीमित रह जाय। मगर अनुभवी और जागरूक साहित्य-रसिकों की इस गोष्ठी में व्याख्या करने का साहस करना न सिर्फ़ ख़तरनाक है, बल्कि कोरा दंभ भी लग सकता है। इससे भी आगे, शिल्प और प्रयोग का एक पहलू है और इससे मिला-जुला इन कविताओं के 'नयेपन' का भी सवाल है। शमशेर ने कविता के छंद, लय, शब्दावली सब में बहुत से नये प्रयोग किये हैं। उन्होंने ऐसे नये प्रतीकों और बिम्बों का सृजन किया है जो कविता के अभ्यस्त पाठकों और श्रोताओं को अक्सर चुनौती की तरह लग सकते हैं।

लेकिन इन आरम्भिक सवालों को मैं एक और कारण से उत्तरित मान कर चलने की इजाज़त चाहूँगा। इन सवालों के विभिन्न पहलुओं में उलझने में ख़तरा यह है कि बात शमशेर की कविता पर न होकर शमशेर की कविताओं जैसी कविता पर हो जायगी। और इस तरह शायद कवि शमशेर के साथ हम न्याय नहीं कर सकेंगे। क्योंकि नयी कविता की सामान्य विवेचना

के लिए शमशेर को उदाहरण की तरह इस्तेमाल करना एक बात है, और कवि शमशेर का जो अपना निजी स्वतःसंपूर्ण काव्यजगत् है, उसमें प्रवेश करना दूसरी बात है। दोनों तरह की चर्चाएँ महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं, लेकिन उनके अभिप्राय अलग-अलग हैं। पहले प्रकार की चर्चा तो काफ़ी हो चुकी है। इसलिए भी दूसरे ढंग से विचार करने की उपयोगिता कुछ अधिक दिखती है। इसके अलावा यदि हम सीधे शमशेर की मनोभूमि में प्रवेश करने की कोशिश करेंगे तो शायद आरम्भिक शंकाओं का उत्तर भी एक हद तक मिल जायगा।

नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अन्तर्भुक्त रही है कि न सिर्फ़ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है, या नये प्रतीकों या बिम्बों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। लेकिन बहस में इस पर बल कम दिया गया है। चेतना के जो तत्त्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केन्द्र में आ गये। और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया। इसलिए मैं शमशेर के काव्य में अनुभूति की इस बनावट की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

○○ ○○○ ○○

कवि मालार्मे ने कहा है :

"अपाहिजत्व की देवी ओ आधुनिक कल्पने ! मैं तुझे अपने जीवन की ये थोड़ी-सी पंक्तियाँ समर्पित करता हूँ जो कृपा के उन क्षणों में लिखी गयी हैं जब तूने मेरे भीतर सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितांत न कुछ के प्रति बंजर प्रेम का स्फुरण नहीं किया।"

शायद ही आज का कोई कवि हो जिसे अपने ढंग से इस मालार्मीय विडंबना का सामना कभी-न-कभी न करना पड़ा हो। आख़िर यह सृजन-कर्म किस लिए ? इस सारे कल्पना-विलास का क्या मतलब है ? मालार्मे की ही तरह आज का हर कवि एक न एक बार अपने ऊपर पलायनवादी होने का आरोप लगाता है। और अगर वह ख़ुद नहीं लगाता तो और लोग उस पर लगाते हैं, क्योंकि अपनी प्रकृति से ही कविता यह प्रश्न उठाती है : जहाँ हम हैं, वहाँ से कहाँ चलें ? किस ओर ? काव्यानुभूति अपने आप में एक तरह का अतिक्रमण है। लेकिन किसका अतिक्रमण और किस दिशा में ?

एक समय उत्तर बहुत आसान था। यह अतिक्रमण तमस् से ज्योति की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर था।

हमारे चारो ओर रोज़मर्रा का एक जीवन है। इसी का अतिक्रमण करने की कोशिश कविता करती है। इस रोज़मर्रा के जीवन को हम चाहें तो तमस् कह लें, मध्यवर्गीय कुण्ठाएँ कह लें, कोल्हू के बैल का अंधा चक्कर कह लें, वस्तुओं का शिकंजा कह लें, लोलुपता और फ़ैशन कह लें, या विज्ञान की जड़, यांत्रिक दुनिया कह लें—लेकिन क्या हम उसे उसी निपट आत्मविश्वास के साथ 'असत्य' कह सकते हैं जिस तरह 'प्राकृत-जन' के गुणगान को तुलसीदास ने एक चौपाई में कह डाला था? अगर चारो ओर का प्राकृत जीवन सत्य है तो फिर क्या सचमुच हम सत्य का ही अतिक्रमण नहीं करते? किस ओर? सत् से असत् की ओर? यही काव्यानुभूति की मालार्मीय विडंबना है। जितने गहरे मालार्मे को यह विश्वास जकड़ता जाता था कि चारो ओर के भौतिक, जड़ जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूति के लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असम्भव दिखता था। सृजन-प्रक्रिया स्वयम् में ही एक विशाल व्यर्थता का प्रतीक लगती थी। मालार्मे के पास इस अपाहिज विडंबना का एक ही हल था : लिखा ही न जाय। 'सृष्टि के प्रति नफ़रत और नितांत न-कुछ का बंजर प्रेम।' कविता के जन्म में ही निषेध का तीर बिंधा हुआ है।

मालार्मे की तरह कवि-जीवन में शमशेर किन-किन संघर्षों से गुज़रे हैं, इसकी पूरी जानकारी हमारे पास नहीं है। शायद कभी हो। लेकिन कुछ संकेत शायद उन्होंने दिये हैं। निषेध के तीर ने कितनी काव्यानुभूतियों को जन्म लेने के समय ही बींध दिया? यह आकस्मिक नहीं है कि इतने लम्बे जीवन में उनके दो संग्रह प्रकाशित हुए और उनका नाम रखा गया 'कुछ कविताएँ, (१९५९), फिर 'कुछ और कविताएँ' (१९६१)। मालार्मीय विडंबना एक संकोच के रूप में काव्यानुभूति को विद्ध करती है। संकोच के शाब्दिक अर्थ की ओर भी मैं ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा—सिमटना, अपने कोष में वापस चला जाना। कविता सिर्फ़ जन्म ही नहीं लेती, वह कवि से अलग होकर एक सार्वजनिक अस्तित्व ग्रहण करती है। जन्म और अस्तित्व, काल-क्षण और काल-प्रवाह के बीच एक दरार है। शून्य से, नितांत न कुछ से, कविता का जन्म होता है—इस गति में शायद रुकावट नहीं है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है। शमशेर की कविता में एक प्रतिगति है, उसी शून्य, उसी न कुछ में वापस चले जाने की। गति और प्रतिगति—अभिव्यक्ति और संकोच के इस तनाव में एक तरह की स्थिरता,

संतुलन पैदा होता है। यह स्थिरता, यह अटकाव, यह स्थिति अनस्तित्व और अस्तित्व के बीच एक अंतराल है—विशुद्ध सम्भावना का क्षण है। यह वह मनोभूमि है जहाँ कविता अपने अर्थ से आलोकित होती है।

विश्लेषण की यह शब्दावली दुरूह या रहस्यवादी न हो जाय, इसलिए मैं बात को बीच में रोककर शमशेर की एक छोटी-सी कविता प्रस्तुत करूँगा जो उनकी अन्य कविताओं के मुक़ाबले में ज़्यादा विश्रुत है। इसका शीर्षक है : एक पीली शाम।

एक पीली शाम
पतझर का ज़रा अटका हुआ पत्ता
शांत
मेरी भावनाओ में तुम्हारा मुखकमल
कृश म्लान हारा-सा
(कि मैं हूँ वह मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं ?)
वासना डूबी
शिथिल काजल में
लिये अद्‌भुत रूप-कोमलता
अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।

अतल में गिरने के पहले संकोच का, अटकाव का, एक क्षण है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। वह सृजन के रूप में शुद्ध सम्भावना के एक झिलमिलाते हुए अंतराल में अटका हुआ है। यह वह क्षण है जहाँ आँसू अनस्तित्व-गर्भ से अलग होकर जन्म लेता है। जन्म लेना अलग होना है, अनस्तित्व-गर्भ से अतल की ओर जाना है। निजी और बिलकुल पराये के बीच एक और क्षण है—जहाँ आँसू निजी है भी और नहीं भी है; पराया है भी और नहीं भी है। न तो वह बिलकुल आत्मपरक है, और न बिल्कुल वस्तु-परक। वह अभिव्यक्ति भी है और संकोच भी है।

अपने दूसरे संग्रह 'कुछ और कविताएँ' की भूमिका में शमशेर कहते हैं : "मेरी अक्सर कविताओं के, जो सन् ४०-४१ के आस पास की थीं, प्रकाशन का समय दस-बारह साल बाद आया, या शायद तब भी नहीं आया।"··· "मैं जितना महत्त्व ऐसी अभिव्यक्ति को देता हूँ—कवि के जीने मात्र के लिए मैं उसे जितना महत्त्वपूर्ण समझता हूँ—उतना उसके प्रकाशन को नहीं। कला के 'प्रकाशन' को वास्तव में मैं कोई महत्त्व नहीं देता। कला कैलेंडर की चीज़

नहीं है। वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज़ है ।...वह 'अपने आप' प्रकाशित होगी। और कवि के लिए वह सदैव कहीं न कहीं प्रकाशित है।" आगे चलकर उसी भूमिका में वे फिर लिखते हैं, "यह चयन मैंने काफ़ी ऑब्जेक्टिव दृष्टिकोण रखकर किया है—जहाँ तक सम्भव था। प्रायः ऐसी ही कविताएँ लीं, जो या तो पहले ही किसी अच्छी या सुथरी माने जाने वाली रुचि के चुनाव में आ चुकी थीं या जिनके बारे में परस्पर भिन्न रुचि के कुछ पाठक या श्रोता अपनी पसंद का इज़हार कर चुके थे।"..."तीन और कविताएँ भी ज़रूर ऐसी हैं जो मुझे जी से पसंद हैं, और जो सुर्रियलिस्ट पेंटिंग हैं और जिन्हें इसीलिए मैं अपने इस चयन में शामिल न करता"......"शिला का ख़ून पीती थी वह जड़, पर छायावादी युग के एक प्रतिनिधि कवि-विचारक प्रस्तुत संग्रह पर कुछ सुझावों के संदर्भ में टिक लगा चुके थे—'मैं उनका हृदय से आभारी हूँ—अतः सुर्रियलिज़म से अपने सैद्धान्तिक विरोध को सिद्धान्त के ताक़ पर रखा और इस रचना को संग्रह में शामिल कर लिया।'

इन ऐंठे हुए उद्धरणों को यदि हम सिर्फ़ एक वाजिबी विनयशीलता तक ही सीमित मानेंगे, तो शमशेर की वास्तविक समस्या को नहीं देख पायेंगे। व्यक्तिशः विनयशीलता और रवादारी शमशेर में बहुत है, और जिन लोगों का उनसे सम्पर्क हुआ है, उनके लिए यह अपने आप में एक अनुभव रहा है। यह भी नहीं है कि आज के युग में कविता के प्रकाशन में प्रस्तुत कठिनाइयों और बाधाओं से उत्पन्न यह शमशेर का युक्तिवाद है। हो सकता है कि सतह पर विनयशीलता और युक्तिवाद भी हो। लेकिन इस संकोच की जड़ें गहरी हैं और काव्यानुभूति के अस्तित्व को ही स्पर्श करती हैं। मालार्मीय विडंबना का सामना करने का शमशेर का यह अपना ढंग है। एक तरफ़ यह कहना कि प्रकाशन को कवि बिल्कुल महत्त्व नहीं देता, दूसरी तरफ़ प्रकाशन के समय इतनी सतर्कता और भिन्न रुचि द्वारा लगाई हुई 'टिक' की इतनी कृतज्ञ तलाश, इन दोनों में अंतर्विरोध दिख सकता है! यह संकोच रची हुई सृष्टि को ऊपर आने से रोकता है, उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। इसका प्रभाव यहाँ तक हो सकता है कि लिखी हुई कविताएँ प्रकाश में न आयें और 'कहीं न कही' के संदिग्ध अंतराल में अटकी रह जायँ, सिर्फ़ एक 'टिक' के अभाव में। यह लगभग ऐसा है जैसे मालार्मे ने हल यह निकाला हो कि कविता लिख तो ली जाय, लेकिन उसे प्रकाशित न कराया जाय।

शमशेर का वक्तव्य है कि कविता में हम अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं। आशा करता हूँ कि ऊपर दिए गये संकेतों से इस वक्तव्य की मार्मिकता स्पष्ट हो जायगी। अर्थात् हम आतमपरकता की वस्तुपरकता की

तलाश करते हैं, तलाश की यह मुद्रा वस्तुपरकता या सच्चाई की अनुपस्थिति को मानकर चलती है। या तलाश इस बाहर से आते हुए 'टिक' निशान की तलाश है। लिखा सो सही।

हम एक ऐसी सृष्टि की कल्पना करें जिसमें जन्म देने वाले ब्रह्मा तो हैं, लेकिन उस सृष्टि को धारण करने वाले, उसे निरंतर अस्तित्व प्रदान करने वाले—सही लगाने वाले विष्णु का अभाव है। सच्चाई की तलाश इसी विष्णु तत्त्व की तलाश है। देवताओं के इन प्रतीकों का प्रयोग मैं जानबूझ कर रहा हूँ। क्योंकि एक तरह की वैष्णव भावना, अर्पित निरीहता शमशेर की कविता में बराबर मौजूद है। वही है जो उनके काव्यजगत् को धारण करती है। मालार्मे के काव्यजगत् में तो रचने वाले ब्रह्मा का ही अभाव है, लेकिन शमशेर की समस्या विष्णु तत्त्व को स्थापित करने की है :

मैं सकाज तो नहीं, न मैं कुल
जीवन;
कण समूह में हूँ मैं केवल
एक कण !
—कौन सहारा
मेरा कौन सहारा !

चीजें जन्म लेती हैं, लेकिन वे अपनी गति से निरंतर अस्तित्व में स्थापित नहीं होतीं। इस निरंतर अस्तित्व के लिए एक बाहरी प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है, उसी तरह जैसे विष्णु तत्त्व जीव को अपनी अँजुली में धारण करके सार्थकता देता है। यही शमशेर की काव्यानुभूति का आरम्भ-स्थल है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहें तो यह रहस्यवाद नहीं है, पुष्टिमार्ग की तलाश है।

०० ०० ००

इस चर्चा को यहीं छोड़ कर अब मैं एक दूसरे तत्त्व की ओर इशारा करूँगा। आज से लगभग पंद्रह वर्ष पहले, 'दूसरा सप्तक' में अपनी संगृहीत कविताओं पर वक्तव्य में शमशेर ने अपनी कविता की परिभाषा यों दी थी :

"सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। अब यह हम पर है कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अंदर घुला सकते हैं।"

इस सूत्र की लगभग हूबहू वैष्णव शब्दावली अवश्य ही आपका ध्यान आकर्षित करेगी। यह आकस्मिक नहीं है। १६५६ में प्रकाशित 'कुछ कविताएँ'

के आवरण-पृष्ठ पर इस सूत्र को फिर दुहराया गया है। बहरहाल, मैं 'अवतार', 'लीला' और 'अपने अंदर घुलाना' इन शब्दों पर ज़ोर न देकर 'सुंदरता' की चर्चा करना चाहूँगा। क्योंकि तात्त्विक रूप में शमशेर की काव्यानुभूति सौन्दर्य की ही अनुभूति है। जिन लोगों का ख़याल है कि छायावाद के बाद हिंदी कविता ने सौंदर्य का दामन छोड़ दिया है, उन्होंने शायद शमशेर की कविताओं का आस्वादन करने का कष्ट कभी नहीं किया। मैं एक क़दम और आगे बढ़कर कहना चाहूँगा कि आज तक हिंदी में विशुद्ध सौंदर्य का कवि यदि कोई हुआ है, तो वह शमशेर हैं। और इस 'आज तक' में मैं हिंदी के सब कवियों को शामिल करके कह रहा हूँ।

अपने उसी वक्तव्य में आगे चलकर शमशेर कहते हैं :

"तस्वीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता—इन सब में बहुत कुछ एक ही बात अपने-अपने ढंग से खोल कर या छिपाकर या कुछ खोलकर या कुछ छिपाकर कही जाती है।"

इतने बड़े पैमाने पर यह बात सच है या नहीं, इस झगड़े में न पड़कर हम इस कथन को शमशेर की कविताओं के लिए अवश्य प्रयुक्त कर सकते हैं—एक ही बात है जो अपने ढंग से खोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर या कुछ छिपा कर इन तमाम कविताओं में कही गई है। चाहे हाशिये पर 'चीन' का नाम लिखा हो, या 'अल्जीरियाई वीरों' का, या 'सौन्दर्य' का, या 'सींग और नाख़ून' का। और वह एक बात वही है जिसे शमशेर ने पहले कहा है : 'सुंदरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है।'

सुंदरता के इस 'अवतार' की निरंतर प्रक्रिया में ही सब कुछ समाया हुआ दिखता है। इस अनुभव की व्यापकता दिखलाने के लिए मैं आपके सामने दो कविताएँ प्रस्तुत करूँगा। इन कविताओं के शीर्षक हैं, लेकिन पहले आप बिना शीर्षक के उन्हें देखें :

मैं ने
क्षितिज के बीचोबीच
खिला हुआ देखा
कितना बड़ा फूल !
देख कर
गम्भीर शपथ की एक
तलवार सीधी अपने सीने पर
रखी और प्रण लिया

कि :
वह आकाश की माँग का फूल
जब तक मैं चूम न लूंगा
चैन से न बैठूंगा
और महान् संदेश लिए
दौड़ता हुआ संदेशवाहक हो जैसे—
मैं दौड़ा :
चार दिशाओं का आलोक
सिर पर धारे
पाँवों में उत्साह के पर औ'
अक्षुण्ण गति के तीर
बांधे।
और पहुँच कर वहीं
अपने प्रेम की
बाँहों में बाँहें डाल दी मैंने
और इस सीमा के ऊपर खड़े हुए
हम दोनों प्रसन्न थे।
अमर सौंदर्य का
कोई इशारा-सा
एक तीर—
दिशाओं की चौकोर दुनिया के बराबर
संतुलित
सधा हुआ
निशाने पर
छूटने-छूटने को था
००० ००० ०००
(हमारा अंतर
एक बहुत बड़ी विजय का
आलोकचिह्न
है।)

दूसरी कविता :

एक अंधकार के चमकीले निर्झर में
तुम्हारे स्वर चमकते हैं :

एक इंतज़ार के झुरमुट में
यह फल है
जिसका अंतर एक तीखी पुकार है
उस आकाश में तुम्हारी गूँज
कि जैसे ख़ून बजता हो हवा में
कि जैसे मुक्त जीवन का प्रवाह बजता हो
सौन्दर्य जो त्वचा में नहीं
थिरकते रक्त में नहीं
मस्तिष्क में
नहीं : कहीं इनके पार से
बरसता है अणु-अणु, पल-पल में
बदन में दृष्टि में
शब्द में : और उसके पार से
कहीं शब्द के अर्थ में
दुःख-सा, मौन-सा
अपरिमित सुख की चेतना में
मथता है,
मथता है
ओ स्पर्श
मुझे क्षमा करना
कि तुम मुझी में होकर मुझी से परे हो
ओ माध्यम
क्षमा करना
कि मैं तुम्हारे पास जाना चाहता रहा;
वह जो तुम्हारे हृदय में बज रहा है
मैं उस साज़ में एक चाँद
देखता हूँ
उसको पकड़ना चाहता रहा हूँ
मेरी अपनी इस चाह के अलावा मैं कुछ नहीं
कुछ नहीं
तुम कि एक सितारे की झलक आँसू में :
उस आँसू की झलक में एक किरण
मैं हूँ
और कुछ नहीं

कुछ नहीं
वह न होता मेरा, जो तुम्हें मेरे ही लिए
प्रिय है
मैं उसी के हित हूँ।
काश कि मैं न होऊँ
न होऊँ
तो कितना अधिक विस्तार
किसी पावन विशेष सौन्दर्य का
अवतरित हो!
पावन विशेष सौन्दर्य का
कितना अधिक विस्तार
अवतरित हो
यदि मैं न होऊँ।

बेशक दूसरी कविता में झिलमिलापन और भावों की उमड़न पहली कविता के मुक़ाबिले अधिक है। लेकिन क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि पहली कविता का शीर्षक 'चीन' है और वह 'चीनी' जनता का लोकसत्तात्मक गणतन्त्र राज्य' के चीनी अक्षरों को चित्र-पहेली की तरह इस्तेमाल करके रची गयी है और दूसरी कविता का शीर्षक 'सौन्दर्य' है? सच तो यह है कि शमशेर की सारी कविताएँ यदि शीर्षकहीन छपें, या उन सब का एक ही शीर्षक हो 'सौन्दर्य' शुद्ध सौन्दर्य, तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। शमशेर ने किसी विषय पर कविताएँ नहीं लिखी हैं। उन्होंने कविताएँ, सिर्फ़ कविताएँ लिखी हैं, या यों कहें कि एक ही कविता बार-बार लिखी है। शमशेर इस पल-छिन अवतार लेते हुए सौंदर्य के गवाह हैं--ऐसे गवाह जिसने इस अवतार के हर रंग और हर विस्तार को उसके 'अनन्त लीला' रूप में स्पृहा के माध्यम से ठीक-ठीक स्वायत्त करने की शपथ ली हो। यह स्पृहामय साक्षी भाव शमशेर की काव्यानुभूति का दूसरा तत्त्व है।

०० ००० ००

इन दोनों तत्त्वों को समन्वित करने के पहले एक और तत्त्व को भी हम देख लें। वह है हमारे ऐतिहासिक परिवेश का। पिछले बीस-पच्चीसबरसों की हिन्दी कविता में जो एक व्यक्त या अव्यक्त संघर्ष काव्य के आदर्शों को लेकर रहा है, स्थूलतः प्रगतिवाद-बनाम-प्रयोगवाद का, क्या उसका हल शमशेर ने निकाल लिया है? सतही तौर पर कहा जा सकता है कि शायद ऐसा है। सामाजिक दृष्टि से रामविलास शर्मा और अज्ञेय दोनों को एकसाथ साधने

का 'सौभाग्यशाली' और असंभव पराक्रम शमशेर ने कर दिखलाया है। बेशक इसमें उनकी अद्भुत विनयशीलता और संकोची स्वभाव का भारी योगदान है। मैं पहले संकेत कर चुका हूँ कि इस विनयशीलता और संकोच की जड़ें गहरी हैं, लेकिन कुछ ऐसा भी है जो इस को अच्छे खासे कमाल का रूप भी देता है। वक्तव्य उन्होंने सारे प्रगतिवाद के पक्ष में दिये, कविताएँ उन्होंने बराबर वह लिखीं जो प्रगतिवाद की कसौटी पर खरी न उतरतीं। मार्के की बात यह है कि इनमें से कोई भी पहलू दिखावा नहीं है। ये दोनों ही मुद्राएँ उनमें निजीपन की वास्तविक आवश्यकता से ही उपजती हैं। उनकी कविताएँ तो उनके लिए नितांत निजी हैं ही, प्रगतिवाद से उनका उलझाव भी कम निजी नहीं है। शमशेर से ज़्यादा इससे और कौन अवगत है कि इन दोनों के बीच में एक खाई है जिसे वे भर नहीं पाते ? जितनी बार वे प्रगतिवाद के आदर्श की चर्चा करते हैं, उतनी ही बार वे 'ऊँचे रुचि और मति' तक पहुँच पाने की अपनी असमर्थता का भी बलपूर्वक उद्घोष करते हैं। १९५१ में जब उन्होंने 'दूसरा सप्तक' का वक्तव्य लिखा, तब भी यही स्थिति थी; और १९६१ में 'कुछ और कविताएँ' की भूमिका लिखते समय भी लगभग यही स्थिति है। आग्रह में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य हुआ है जिसके संकेतों का ज़िक्र हम आगे करेंगे।

मनोविश्लेषण को ही काव्य-विश्लेषण का पर्याय मानने वाले इस स्थिति को विभाजित व्यक्तित्व का सटीक उदाहरण समझ कर संतुष्ट हो जायेंगे। लेकिन मनोविश्लेषण आदमी के व्यक्तित्व के बारे में जो कुछ भी बतलाता है, कविता के बारे में कुछ नहीं बतलाता। क्योंकि कविता का आधार यह निजीपन है, मनोविश्लेषण का 'अहं' जिसके आगे सतही मालूम पड़ता है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विवाद जब आज पुराने पड़ चुके हैं तो शमशेर की एक दुविधाग्रस्त स्थिति के अवशेष उनके दोनों संग्रहों में एक रोचक ढंग से दिखलाई पड़ते हैं। हमने आपके सम्मुख चीन पर लिखी उनकी पुरानी कविता रखी। अगर कविता के साथ छपी टिप्पणी और हाशिये के चीनी अक्षरों का ज़िक्र न किया जाय तो कविता में अपने-आप में प्रगतिवाद का कोई अविशेष नहीं रह जाता, यह हमने देखा। इसी तरह 'माई' "का० भारद्वाज" 'ये शाम है', 'हमारे दिल सुलगते हैं' आदि कविताओं का प्रगतिवाद भी उन कविताओं में उतना नहीं जितना इन कविताओं के साथ जड़ी हुई टिप्पणियों में। यह निष्कर्ष निकालने का लोभ होता है कि शमशेर का प्रगतिवाद उनकी कविता के हाशिये तक सीमित रह गया। क्या इस निष्कर्ष से शमशेर की काव्यानुभूति के केन्द्र तक पहुँचने में सहायता मिलती है ?

शायद ! क्योंकि प्रगतिवाद शमशेर के लिए मात्र वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो उनकी निजी ज़रूरत को पूरा करता है। उनकी काव्यानुभूति की बनावट का अंग बनकर प्रस्तुत होता है। इसी अर्थ में वह उनके लिए अभिनय नहीं है, वास्तविकता है। 'कुछ और कविताएँ' की भूमिका में शमशेर लिखते हैं :

१. "कवि का कर्म अमनी भावनाओं में, अपनी प्रेरणाओं में, अपने आन्तरिक संस्कारों में समाज-सत्य के मर्म को ढालना—उसमें अपने को पाना है, और उस पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से, पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करना है, जहाँ तक वह कर सकता हो। मैं जितना महत्त्व ऐसी अभिव्यक्ति को देता हूँ—कवि के जीने मात्र के लिए मैं उसे जितना महत्त्वपूर्ण समझता हूँ—उतना उसके प्रकाशन को नहीं···"

२. "एक दौर था जब मैं ऐसी चीज़ें लिखने के लिए अधिक उत्सुक था, उसके लिए अपने अन्दर काफ़ी प्रेरणा महसूस करता था। पर अपेक्षित स्तर मुझे सदा अपने कवि-व्यक्तित्व की पहुँच से ऊँचा और असम्भव-सा महसूस होता। फिर भी मैंने अपनी प्रेरणाओं को कुछ ऐतिहासिक सत्यों से जोड़ने की, उनके मर्म को अपनी धड़कन के साथ व्यक्त करने की कोशिश की······ फिर भी मैं दोहरा कर कहना चाहूँगा कि जहाँ तक वह मेरी निजी उपलब्धि हैं, वहीं तक मैं उन्हें दूसरों के लिए भी मूल्यवान समझता हूँ।"

सबसे पहले मैं कवि के जीने मात्र पर बल देना चाहूँगा। स्थूल रूप में कविता किसी के जीने मात्र के लिए जैविक आवश्यकता की तरह महत्त्वपूर्ण नहीं होती। शमशेर के लिए यह स्तर मनोवैज्ञानिक जीवन का भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि कवि कविता न लिखे तो पागल हो जाय। कविता और जीवन की अभिन्नता अनुभूति के स्तर पर है। काव्यानुभूति और जीवनाभूति एक ही वस्तु हैं।

इस प्राथमिक स्थिति को अच्छी तरह समझ लेने के बाद मैं उद्धरण के अंतिम वाक्य की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। 'जहाँ तक वह मेरी निजी उपलब्धि है, वहीं तक मैं उन्हें दूसरों के लिए भी मूल्यवान समझता हूँ।' इसमें 'जहाँ तक' और 'वहीं तक' पर बल ख़ुद शमशेर का दिया हुआ है। शमशेर का मार्क्सवाद आरम्भ से ही इसे 'जहाँ तक—वहाँ तक' की बारीक छन्नी से छाना हुआ मार्क्सवाद है।

'दूसरा सप्तक' के वक्तव्य में शमशेर 'समाज-सत्य' को आग्रहपूर्वक 'मार्क्स-वाद' का पर्याय घोषित करना ज़रूरी समझते हैं। १६६१ तक जो चीज

मार्क्सवाद थी, वह 'समाज' सत्य का मर्म' हो गई। बेशक इन दस वर्षों में परिवर्तन हुआ है, कम-से-कम आग्रह का। कम-से-कम शमशेर के लिए एक लाभ इसमें अवश्य दिखता है कि 'अपनी भावनाओं में', 'अपनी प्रेरणाओं में', 'अपने संस्कारों में'—'समाज-सत्य के मर्म' को ढालना और उसमें अपने को पाना उतना कठिन नहीं है जितना वह जिसे वे मार्क्सवाद के नाम से अभिहित करते हैं।

केन्द्रीय शब्द 'निजी उपलब्धि' है। सत्य के निजी उपलब्धि की यह प्रक्रिया क्या है? समाज-सत्य वह है जो हमारे निजत्व के बाहर है। मूलतः यह वह 'अतल' है जिसमें 'अटका हुआ आँसू' गिरता है। इस बाहर के सत्य को अपने भीतर खींच लाने की प्रक्रिया ही 'निजी उपलब्धि' है। बाहर का सत्य इस भीतर खींचने की प्रक्रिया का प्रतिरोध करता है, इसीलिए वह अनुभूति में 'जहाँ तक' ''वहीं तक' की कशमकश वाली शब्दावली में अभिव्यंजित होता है। मैंने आरम्भ में उस गति की चर्चा की थी जो आत्मपरकता में वस्तुपरकता की तलाश करती है। निजी उपलब्धि की यह दूसरी गति उसका विलोम है—वस्तुपरकता की आत्मपरकता की तलाश है। यह अतल का वह प्रक्षेप है जो आँख की कोर पर अटके हुए आँसू को शून्यगर्भ से पृथकत्व का जीवित क्षण प्रदान करता है। बाह्य यथार्थ, सामाजिक सत्य, वस्तुजगत्, भिन्न रुचि, अथवा अतल वह है जो आन्तरिकता पर, कविता पर, जीवनानुभूति पर 'टिक' लगाता है, उसकी पुष्टि करता है :

मैं मींच कर आँखें
कि जैसे क्षितिज
तुमको खोजता हूँ।
ओ हमारे साँस के सूर्य !
साँस की गंगा
अनवरत बह रही है
तुम कहाँ डूबे हुए हो ?

००० ००० ०००

समाज सत्य को निजी उपलब्धि बनाना उसे आत्मसात् करना या उपयोग में लाना है। लेकिन शमशेर के लिए काव्यानुभूति के केन्द्र में, उसके साथ सायुज्य में उसकी सत्ता नहीं है। प्रगतिवाद से उलझाव के दौर में भी वह एक तरह से हाशिये पर स्थित है। वह काव्यानुभूति की 'पहुँच के बाहर' एक क्षितिज, एक अतल, एक काव्येतर अनुभूति की तरह अस्तित्व ग्रहण करता है। काव्यानुभूति के साथ इस ख़ास रिश्ते में जुड़ना ही उसका एक

साथ निजी उपलब्धि भी होना है, 'पहुँच के बाहर' भी होना है। जहाँ तक उसकी यह अवस्था शमशेर के काव्य में है, वहीं तक वह औरों के लिए भी उपयोगी है। आजकल की शब्दावली में कहें तो काव्यानुभूति और प्रगतिवाद एक तरह के सह-अस्तित्व में आमने-सामने दर्पण की तरह रखे हुए हैं—कविता और हाशिये पर की लिखावट की तरह। लेकिन यह निरपेक्षता नहीं है, साक्षात्कार है; रिश्ते का अभाव नहीं है, रिश्ते की सम्भावना है। वस्तुत: सम्भावना ही वह आधारभूमि है जिसमें आत्म और वस्तु दोनों का अस्तित्व होता है। इस सम्भावना को सिर्फ़ दिमाग़ी क़ौल की तरह नहीं, बल्कि सीधी, माध्यमहीन, जीवन की धड़कन की तरह अनुभूत करना ही काव्यानुभूति है।

मैंने इस ओर संकेत किया है कि आरम्भ में जिसे शमशेर मार्क्सवाद कहते थे, उसके लिए दस वर्ष बाद कुछ अधिक ढीली शब्दावली 'समाज सत्य' या उससे भी अधिक ढीली शब्दावली 'समाज-सत्य का मर्म', 'इतिहास की धड़कन' आदि का प्रयोग करते हैं। शायद यह हाशिये की लिखावट को कुछ और सूक्ष्म, या धुँधला बनाने की कोशिश है। इस अर्थ में यह अनुभूति की मुख्य बनावट में थोड़े से परिवर्तन का सूचक है। बाहरी आकार से मर्म की ओर जाने का यह आग्रह इस निजी उपलब्धि को काव्येतर अनुभूति से अलग एक स्वायत्तता देने का उपक्रम है। लेकिन अभी भी इसका रूप आत्मपरक और वस्तुपरक, चित् और अचित् के सायुज्य का नहीं है। एक तरह से शमशेर की प्रकृति हमेशा वस्तुपरकता को उसके शुद्ध रूप, या उन्हीं के शब्दों में उसके 'मर्म-रूप' में पकड़ने की रही है। इसीलिए 'उस दौर' में भी जब वह वास्तविकता के बाहरी आकारों की ओर बहुत आकर्षित थे, तब भी उनके लिए मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता का ही दूसरा नाम था। लगता यह है कि बाद की शब्दावली एक अनावश्यक शब्दभार को हटाने भर की कोशिश है—जो कुछ हमेशा था, उसे ही ठीक तौर पर कहने का आग्रह है। इसीलिए मार्क्सवाद का छूटता हुआ दामन, उनके लिए मोहभंग का रूप नहीं लेता, बल्कि केंचुल छोड़कर चुपचाप आगे बढ़ जाने की अनुभूति देता है। आज भी उनकी काव्यानुभूति में वस्तुता अपनी शुद्ध स्थिति में अभेद्य किन्तु सूक्ष्म क्षितिज की तरह मौजूद है—और पहले भी मार्क्सवाद इससे अधिक क्या था?

०० ००० ००

इस प्रकार शमशेर मालार्मीय विडम्बना का हल अपने ढंग से निकालते हैं, वस्तुपरकता के मर्म में आत्मपरकता का, और आत्मपरकता के मर्म में वस्तुपरकता का आविष्कार करके। चित् और अचित् एक-दूसरे का निषेध

नहीं करते, बल्कि एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से यह स्थिति छायावाद से भिन्न है जिसमें चेतना के ही दो दर्पण इस पार और उस पार रखे हुए हैं और बीच का अचित् ब्रह्माण्ड उनकी परस्पर छाया की तरह आभासित होता है। यह दृष्टि मार्क्स के अद्वैतात्मक भौतिकवाद से भी भिन्न है जिसमें प्रकृति और पुरुष के दोनों दर्पण अचित् के ही हैं और चेतना भौतिकता के ही दर्पण में भौतिकता की पड़ती हुई छाया की तरह आभासित होती है।

कविता दर्शन नहीं है। क्योंकि कवि अपनी मान्यताओं का चुनाव जिस तरह करता है, उस तरह दार्शनिक नहीं। दार्शनिक अपनी मान्यताओं में उनकी अपनी परस्पर संगति खोजता है, जबकि कवि के पास मान्यताओं के लिए एक ही संगति है—जीने की ज़रूरत से ही उनको संगति। इसलिए शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट की इस व्याख्या को आप उनके दर्शन के रूप में नहीं, बल्कि दृष्टि के रूप में, एहसास के रूप में ग्रहण करें। उसके रूप में जिसकी गवाही वे देते हैं—'सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है।'

मैंने सुविधा के लिए चेतना को वस्तुपरकता और आत्मपरकता के दो छोरों में बाँट कर विश्लेषण किया और उनकी दो गतियों को आपके सामने रखा। लेकिन काव्यानुभूति के क्षण में यह सारी स्थिति इस तरह अलग-अलग नहीं प्रस्तुत होती। उसकी प्रतीति एक समूची इकाई की तरह होती है। यह इकाई यथार्थ की इकाई है।

इस प्रकार देश-काल से बँधे हुए यथार्थ के मर्म में ही एक दरार, फाँक या रिक्तता है जहाँ देश न वैसा देश है जिसे हम साधारणतः जानते हैं और न काल घटनाओं की न लौटने वाली गति है जिसे घड़ी नापती है।

ये लहरें घेर लेती हैं
ये लहरें···
उभर कर अर्द्ध द्वितीया
टूट जाता है···
अंतरिक्ष में
ठहरा एक
दीर्घ समतल मौन
दूर···उत्तर पूर्व तक
सौन

ब्रह्माण्ड
टूटे हुए मिले चले गये हैं
अगिन व्यथा भर सहसा
कौन भाव
बिखर गया इन सब पर।

इसी तरह एक दूसरी कविता है :

एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
पूरब से पच्छिम को एक क़दम से नापता
बढ़ रहा है
कितनी ऊँची घासें चाँद-तारों को छूने को हैं
जिनमें घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
अपनी शाम को सुबह से मिलाता हुआ
फिर क्यों
दो बादलों के तार
उसे महज़ उलझा रहे हैं ?

देश की ही तरह काल में भी फाँक है। यों शमशेर की कल्पना काल को भी देश की ही तरह अनुभूत करती है, एक विशाल विस्तार की तरह जिसमें पौर्वापर्य की बाध्यता नहीं है। देश के रूप में काल की अनुभूति, या यों कहें कि काल की वह सरहद जहाँ वह देश से अभिन्न दिखता है, अस्तित्व की किस अवस्था का सूचक है, यह विवेचना की अलग दिशा है, और मेरे लिए बहुत आकर्षक भी है। लेकिन यह विस्तार की बात है। बहरहाल, इस सिलसिले में मैं उनकी 'अमन का राग' और हाल ही में 'कल्पना' में प्रकाशित 'गिन्सबर्ग के नाम' कविताओं का ज़िक्र करूँगा जहाँ काल देश में परिवर्तित होकर 'यूटोपिया' का निर्माण करता है। यह इतिहास को इतिहास के भीतर देखने की कोशिश है। शमशेर के लिए यूटोपिया का अस्तित्व भविष्य की भविष्यता में नहीं, भविष्य की वर्तमानता में है, बल्कि अतीत और भविष्य दोनों की वर्तमानता में है। इसीलिए वह इतिहास की सरहद पर नहीं ऐतिहासिक क्षण के मर्म में उसकी धड़कन में विद्यमान है। नैरन्तर्य या पौर्वार्य नहीं है, बल्कि निःसीमता है।

ख़ैर, इस प्रसंग को छोड़कर, मैं आपका ध्यान दूसरी कविता की ओर आकृष्ट करूँगा जिसमें दो पहाड़ों को ठेल कर उभरते हुए आदमी का बिम्ब है। ठेले जाते हुए पहाड़ देश में, और सुबह और शाम काल में दरार या रिक्तता की स्थापना करते हैं, इतना तो स्पष्ट होगा। यह फांक वही है

जो पहली कविता में 'अन्तिरिक्ष में ठहरे हुए एक दीर्घ समतल मौन' से व्यक्त होती है।

१. आसमान में गंगा की रेत आईने की तरह हिल रही है।
   मैं उसी में कीचड़ की तरह सो रहा हूँ।
   और चमक रहा हूँ कहीं
   न जाने कहाँ।

२. सोने के सागर में ठाहरह
   एक नाव है
   (नाव वह मेरी है)
   ....
   ओ मन ओ
   तू एक नाव है
   (और नाव वह हमारी है)

यथार्थ के मर्म में जो फाँक है, वह कुछ नहीं है, कवि के मर्म की ही फाँक है। चेतना के अन्तरिक्ष में ही इस अभाव का, न-कुछ का, दीर्घ समतल मौन का जन्म होता है। इस तरह जैसे पानी की सतह पर फैले हुए तेल की झिल्ली, फैलने की प्रक्रिया में ही बीच में फट जाती है, और पानी की सतह पर एक शुद्ध अभाव छोड़ जाती है। इस अंतर्वर्ती शुद्ध विस्तार के उस पार आईने में जो दिखता है, वह और कोई नहीं है कवि स्वयम् है। ब्रह्माण्ड चेतना के उस पार नहीं है, बल्कि चेतना के भीतर अंतवर्ती विस्तार के उस पार है।

लेकिन इस 'बेठोस नीले आईने' में, बर्फ़ की इस पारदर्शी पोली परत में, वह जो अपने को ही देखता है—उसका प्रतिबिम्ब हूबहू वैसा ही नहीं है, जैसा वह है। और न वह बिल्कुल दूसरा, बिल्कुल भिन्न ही है, न तो वह प्रतिच्छवि ही है और न छायाभास ही है—वह इन दोनों के बीच की स्थिति अर्थात् बिम्ब है। देखने की क्रिया ही बिम्ब देखना है। बिम्बों का सृजन ही काव्यानुभूति की वह नैसर्गिक अवस्था है, जहाँ वह जीवन की अनुभूति से एकाकार होती है। बिम्ब आत्म की वस्तुता और वस्तु की आत्मता की तलाश है। इस स्थिति को मैं 'ऑपटिक्स' के उदाहरण से स्पष्ट कर सकता हूँ जिस तरह वर्तुल आईने में देखने पर प्रतिबिम्ब आईने और देखने वाले के बीच अंतर्वर्ती विस्तार में अटका हुआ मालूम पड़ता है—उसी तरह चित् और अचित् के दोनों दर्पण बीच में एक बिम्बलोक का निर्माण करते हैं। यथार्थ के दो नहीं, तीन लोक हैं :

तीन

ब्रह्माण्ड

टूटे हुए मिले चले गये हैं।

०० ००० ००

यथार्थ के मर्म में, अथवा चेतना के मर्म में जो फाँक है, क्या उसे पाटना संभव है? काव्यानुभूति का क्षण जो एकसाथ ही अंतवर्ती विस्तार के दो कोरों पर रखे हुए आईनों के साक्षात्कार का और इसीलिए अपने को ही दो हिस्सों में विभाजित पाने का क्षण है, काँपते हुए, डरे हुए, पिघलते हुए प्रश्न का भी क्षण है। यह तथ्य कि काव्यानुभूति के तल में प्रश्न है, उत्तर नहीं; शमशेर को छायावाद के निकट ले जाता है—विशेषत: महादेवी के, जिनमें भी काव्यानुभूति मुख्यत प्रश्न का रूप लेती है। लेकिन महादेवी का प्रश्न शुद्ध प्रश्न है—वह शुद्ध मैं का शुद्ध तू के प्रति फेंका हुआ तीर है। दूसरी तरफ़ शमशेर का प्रश्न प्रश्न की शुद्धावस्था नहीं है, वह मैं का ऐसे तू के प्रति फेंका हुआ तीर है जो प्रश्न के पहुँचते-पहुँचते मैं में ही परिवर्तित हो जाता है। शमशेर के प्रश्न के कोर पर उत्तर की सम्भावना झिलमिलाती है। वस्तुत: वह प्रश्न नहीं है, उत्तर भी नहीं है : उत्तर की संभावना है। मेरे लिए यहाँ उदाहरण देना सम्भव नहीं है, लेकिन मैं आप विद्वज्जनों से प्रार्थना करूँगा कि जहाँ-जहाँ शमशेर की कविताओं में 'कौन ?', 'न जाने कौन ?' आदि प्रश्नवाची व्यंजनाएँ प्रयुक्त हुई हैं, उनकी आप महादेवी के 'कौन', 'न जाने कौन' आदि से तुलना करें तो समानता और अंतर दोनों स्पष्ट होगा। महादेवी का 'कौन' भी असीम की स्थापना करता है, लेकिन वह असीम घिरा हुआ असीम है। आशा करता हूँ कि 'घिरे हुए असीम' की कल्पना सिर्फ़ शाब्दिक उलटवाँसी नहीं लगेगी, लेकिन आप देखेंगे कि यह वही है जिसे पहले दरार, फाँक या अंतर्वर्ती विस्तार का नाम दिया गया।

प्रश्न के कोर पर उत्तर की जो सम्भावना झिलमिलाती है, वही बिंबलोक है। यह सम्भावना मालार्मीय विडंबना के बीच कल्पना के अनुग्रह की दुर्लभ घड़ियों की तरह आती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि बिंबलोक दरार को पूरा का पूरा भर देता है। सुन्दरता का अहैतुक अवतार, अनंत और अपरम्पार लीला होने लगती है। यह यूटोपिया का वह क्षण है जिसमें पूरा का पूरा काल देश में परिवर्तित हो जाता है। अत्यधिक उल्लास, और चमकते हुए उत्साह के साथ, परिपूर्ति का यह अनुभव एक नये तरह की नि:सीमता, बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रता की नि:सीमता से कवि का साक्षात्कार कराता है, क्योंकि यह सिर्फ़ उल्लास और आवेग का नहीं बल्कि एक बहुत बड़ी विजय

का भी क्षण है। यह पाश टूटना, उस संकोच और प्रतिरोध के पाश का टूटना है जो आत्म और वस्तु की परस्पर उन्मुख गतियों को परस्पर विपरीत गतियों में बदलता रहता है। परिपूर्ति की यह धारासार बारिश, जो लगता है कि कोई भी ख़ाली जगह नहीं छोड़ती, शमशेर की यूटोपियन कविताओं में व्यक्त हुई है। मैं पहले कह चुका हूँ कि यूटोपिया भविष्य की भविष्यता नहीं, बल्कि उसकी वर्तमानता है, अर्थात् यूटोपियन दृष्टि वर्तमान का निषेध नहीं करती, भविष्य और वर्तमान के बीच जो अंतराल है, उसका निषेध करती है। तब उस 'घिरे हुए असीम' का क्या होता है? क्या वह घिरा हुआ या असीम नहीं रह जाता? घिरा हुआ असीम वह तब भी रहता है; फ़र्क इतना ही है कि जो कुछ पहले अभाव या रिक्तता की तरह लगता था, वह सहसा भाव या परिपूर्ति में बदल जाता है। शून्य अवस्था धन अवस्था में बदल जाती है। क्या इस रिक्तता को जो अलग करती दिखती थी, इस तरह नहीं देखा जा सकता है कि वह दोनों आईनों को जोड़ती हुई दिखे? शमशेर की यूटोपियन कविताओं में ही उनके बिंब सर्वाधिक सघन ठोस, और अपारदर्शी मालूम पड़ते हैं, या यों कहें कि वे कम से कम बिंब रह जाते हैं और अधिक से अधिक प्रतिच्छवि मालूम पड़ने लगते हैं। उनकी वह गहराई जो उन्हें एक बिंबलौकिक चमक देती है, विलीन होने लगती है। यूटोपिया की तलाश हाशिये की लिखावट की तलाश है। अर्थात् जैसे-जैसे कवि यूटोपिया की ओर बढ़ता है, वह अपनी मृत्यु की ओर बढ़ता है। क्योंकि यूटोपिया की अंतिम परिणति मार्क्सवाद है (कम से कम शमशेर के लिए अब तक रही है), और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूति के बाहर पड़ता है। वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहाँ कवि मर जाता है कवि ही क्यों यथार्थ भी मर जाता है, हाथ आता है सिर्फ़ एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य।

आख़िरकार यूटोपिया का मतलब क्या है? वह लोक जिसका अस्तित्व नहीं है। इस तरह उसके अस्तित्व में ही अनस्तित्व का आवरण है। उसका संकल्प जितना शुद्ध, जितना उन्मुक्त होगा, उतना ही वह निषिद्ध एवं वर्जित होता जायगा, इसी कारण वह बिंबलोक है। सरहद के पार यूटोपिया की स्पृहा अपने अंतिम रूप में मृत्यु की स्पृहा की तरह महसूस होती है :

> आईनो, रोशनाई में घुल जाओ और आसमान में
> मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।
> आइनो, मुस्कराओ और मुझे मार डालो।
> आइनो, मैं तुम्हारी ज़िन्दगी हूँ।

लेकिन शमशेर की कविता के हाशिये पर सिर्फ़ मार्क्सवाद का नाम नहीं लिखा है। दूसरी तरफ़ एक और हाशिया है जिस पर एक और इबारत है जो एक दूसरे अर्थ में वर्जित है। उस इबारत का नाम शमशेर देते हैं—सुर्रियलिज़्म या अतियथार्थवाद। यह पहली इबारत की ठीक उलटी इबारत है। धन का ऋण पक्ष है। अतियथार्थ वस्तुतः इतिहास में क्या था या क्या है, यह उतना प्रासंगिक नहीं है जितना यह कि उसका निजी इस्तेमाल शमशेर करते हैं। उनके लिए अतियथार्थवाद शुद्ध आत्मपरकता है जिस तरह मार्क्सवाद शुद्ध वस्तुपरकता है। रेखाचित्रों की शक्ल में वह 'कुछ कविताएँ' नामक संग्रह में 'घनीभूत पीड़ा, शीर्षक कविता में हाशिये पर मौजूद है और ये चित्र 'चीन' नामक कविता के चीनी अक्षरों की भाँति कविता की 'पहुँच के बाहर' होते हुए भी कविता के 'अभिन्न अंग' हैं। बहर-हाल, मुख्य बात यह है कि दोनों हाशियों की तरफ़ कवि का रुख़ एक-जैसा नहीं है। मार्क्सवाद या वस्तुपरकता वह है जिसका कवि क़ायल है, लेकिन जिसे वह काव्यानुभूति में ला नहीं पाता। अतियथार्थवाद वह है जो बरबस काव्यानुभूति में फूटा पड़ता है, लेकिन कवि जिसका क़ायल नहीं है और जिसे दबाकर, निकाल कर कविताओं में से अलग कर देना चाहता है। एक तरफ़ अपने को वायवी बनाकर असम्भव ऊँचाई को छू लेने की स्पृहा है, दूसरी तरफ़ अपने को पत्थर की तरह ठोस बनाकर उमड़ती हुई वायवीयता को दबा देने की कोशिश है। इन दोनों हाशियों के बीच शमशेर की काव्यानुभूति एक व्याकुल शांति की तरह स्थिर है। मूलतः वह जिसे हम जीवन कहते हैं, दो अतियों अथवा सीमान्तों के बीच गति और प्रतिगति का एक झीना, झिलमिलाता हुआ और बेचैन सन्तुलन है।

मार्क्सवाद की तरह अतियथार्थ भी एक यूटोपिया की सृष्टि करता है। यह यूटोपिया एक तरह की निषेधात्मक यूटोपिया है। धन बिंबलोक के मुक़ाबिले में ऋण बिंबलोक है। 'कुछ और कविताएँ' में दी हुई दो कविताएँ 'सींग और नाखून' तथा 'शिला का ख़ून पीती थी' इस निषेधात्मक या यों कहें, निषिद्ध यूटोपिया का चित्र प्रस्तुत करती है। यहाँ भी काल पूर्णतः देश में समाहित हो जाता है—जैसे समय का प्रवाह पत्थर होकर रुक गया हो। इसके आगे राह नहीं है। अर्थात् घिरा हुआ असीम यहाँ भी पूरा का पूरा भर गया-सा लगता है :

शिला का ख़ून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं

सीढ़ियाँ भी बादलों को झूलती
टहनियों-सी
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना :
सुतल था
आत्मा के कल्पतरु का ?

आप देखेंगे कि यह बेचैन छटपटाहट जो गति और प्रतिगति के बीच संतुलन खोजती हुई 'अमन् का राग' में उन्मुक्त हो गई थी, यहाँ आकार ठोस, बिल्कुल जड़ हो गयी है। इन कविताओं के बिंब भी उतने ही सघन, ठोस और अपारदर्शी हैं। लेकिन इस ध्रुवान्त पर वे सबसे अधिक दुरूह लगते हैं। 'अमन् का राग' या 'चीन' में अर्थ जो शब्दों की सतह पर तैरता दिखता है, यहाँ आकर 'गुम' हो गया है। पूरी कविता के भीतर एक विशाल अनुपस्थिति की व्यंजना होती है। इस निषिद्ध यूटोपिया के पास पहुँचने पर भी बिंब अपनी बिंबलौकिकता खोने लगते हैं, वे बिंब नहीं रह जाते : वे प्रतीक हो जाते हैं। ये प्रतीक किसके प्रतीक हैं? ये प्रतीक हैं—कुछ-नहीं के। अक्षरशः कुछ-नहीं के। यह पीड़ा की वह अवस्था है जहाँ उसमें से स्पृहा, उच्छ्वास, तड़प, बेचैनी सब कुछ अनुपस्थित हो जाता है और दर्द संगमर्मर की एक जड़ चट्टान की तरह जम जाता है। हाशिये की इस ऋण दिशा में भी कविता जैसे-जैसे बढ़ती है, अपनी मृत्यु की ओर बढ़ती है। इसलिए कि इसके आगे पागलपन, मानसिक विक्षिप्तता की स्थिति है जो चेतना की मृत्यु का पर्याय है। घबरा-घबरा कर शमशेर इस प्रतीकात्मक अतियथार्थ से यदि वापस लौटते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। वह अपने होशो-हवास की दुरुस्ती को बनाये रखने के लिए ही संघर्ष करते हैं।

सीमान्तों तक जाकर इस खाईं को नहीं पाटा जा सकता। फिर आदमी क्या करे? हार कर, हताश कातरता के साथ शमशेर उस घिरे हुए असीम के बीच में सन्तुलन की तलाश करते हैं। यह मध्यता एक फाँस, अटकाव, की तरह महसूस होती है, जैसे कुछ ऐसा है जो हमेशा के लिए चंगुल में फँस गया हो। मध्य का यह फाँसदार सन्तुलन निष्क्रिय नहीं है। वह मुख्यतः गति है—'ओ सुदूर पन, ओ केवल लयगति।'

लेकिन मध्य का यह सन्तुलन एक विधेयक, सक्रिय, स्वयम्भू उत्स की तरह नहीं जन्म लेता, जैसा कि अज्ञेय के काव्य में है। इसके विपरीत यह सन्तुलन दो निषेधों के आपसी निषेध से पैदा होता है। शमशेर मूलतः अतिवादी हैं, ऐसे अतिवादी जो अपने ही अतिवाद से सहम कर वापस लौटने की चिरंतन मुद्रा में

गिरफ़्तार हो गये हैं। यही है जो उलझी हुई भावनाओं का रूप ग्रहण करता है। दो पहाड़ों को ठेल कर उभरते हुए आदमी वाली कविता में भी, जो उनकी दूसरी कविताओं के मुक़ाबले इस सन्तुलन को अधिक से अधिक विधेयक रूप देती दिखती है—अन्त में बादलों के दो-चार निषेध करने वाली दो गतियों की तरह उस फाँस की याद दिला ही देते हैं।

इस प्रकार यथार्थ की तह में निषेध है जो बिम्बलोक को जन्म देता है। यह निषेध मालार्मे की तरह सिर्फ़ रिक्तता की सृष्टि न करे, इसलिए इसको ज्यों-का-त्यों आत्मसात् करना सम्भव नहीं है। दूसरी तरफ़ इसकी सत्ता से इन्कार करना धन या ऋण यूटोपिया में पहुँचना है जो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। अतः इसके प्रति सहमा हुआ-सा, कातर निरीह, वैष्णव भाव ही एकमात्र उपाय है। जैसे ही यह भाव उदित होता है, बिम्बलोक एक बेचैन सन्तुलन की भाँति जन्म लेता है।

शायद अब आप देखेंगे कि शमशेर सचमुच कितनी साँसत में है। उनकी स्पृहा की समस्या इस निषेध को विधेय रूप में आत्मसात् करने की है। बिना तट पर पहुँचे हुए ही तटस्थ होने की है। चेतना के सीमान्तों को चेतना के मध्य में महसूस करने की है। इसी कारण इतनी ऐंठन, इतना उलझाव, इतना पेचो-ख़म है और उनके ऊपर तैरती हुई निरीह, मौन, आर्द्र सरलता है। ख़ास बात यह है कि यह मुख्य स्थिति भाव या वस्तुओं के तमाम रूपों में छिपकर अलग-अलग नहीं आभासित होती, बल्कि भावों या वस्तुओं के मर्म में मौजूद यह एक ही स्थिति दिखती है। इसको शमशेर बारम्बार घुलना या घुलाना कहते हैं—और इसीलिए काव्यानुभूति यथार्थ के जिस हिस्से को पकड़ती है, शीर्षकों के बावजूद एक ही कविता का निर्माण करती दिखती है।

'घिरे हुए असीम' के निषेधों की यह भावभूमि बारम्बार उन बिम्बों को जन्म देती है जो अपनी विविधता के बावजूद एक ही हैं :

१. रह गया सा एक सीधा बिम्ब
   चल रहा है जो
   शान्त इंगित-सा
   न जाने किधर।
२. मैं सुनूँगा तेरी आवाज़
   पैरती बर्फ़ की सतहों में तीर-सी
३. एक दरिया उमड़कर पीले गुलाबों का
   चूमता है बादलों के झिलमिलाते
   स्वप्न-जैसे पाँव

४. मौन आहों में बुझी तलवार
५. कठिन प्रस्तर में अगिन सूराख़
६. ग़रीब के हृदय
 टँगे हुए
७. सुर्मई गहराइयाँ
 भाव में स्थिर
८. पूरा आसमान का आसमान है/एक इन्द्रधनुषी-ताल
९. मोह मीन गगन लोक में बिछल रही
१०. मैं खुले आकाश के मस्तिष्क में हूँ
११. कई धाराएँ खड़ी हैं स्तम्भवत् गति में
१२. ऊषा के जल में सूर्य का स्तम्भ/हिल रहा है
१३. धुँधली बादल रेखा पर टिका हुआ आसमान
१४. क्षितिज के बीचोबीच खिला हुआ फूल
१५. अंधकार के चमकीले निर्झर में
 तुम्हारे स्वर चमकते हैं
१६. ख़ून बजता है हवा में
 आदि-आदि ।

ये सारे बिम्ब निषेध की प्रक्रिया में सन्तुलित हैं। उनका अस्तित्व लगभग घुलकर रिक्त होते जाने के क्षण में है। उनकी चमक, उनकी पारदर्शिता और उनकी गत्यामकता इसी से उपजती है। इसके अलावा वे उसी घिरे हुए असीम में अटके हुए हैं; अन्धकार का चमकीला निर्झर उस असीम में गिर रहा है, लेकिन उसमें चमकता हुआ स्वर उसे पूरा का पूरा नहीं भरता। इस सन्तुलन में एक थरथराहट है। यह थरथराहट एक गति में फँसी हुई प्रतिगति है। बिम्ब न सही, तो थरथराहट, झिलमिलापन उस असीम को भरता हुआ दिखता है। घिरे हुए असीम को भरती दिखती हुई बिम्बों के साथ की थरथराहट या चमक ही उनकी बिम्बलौकिकता है। इस बेचैन, छीजते हुए सन्तुलन को हम पदार्थों की रेडियो-प्रक्रिया के दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

मैंने 'बिम्बलोक' शब्द का प्रयोग किया है! बिम्ब और बिम्बलोक के अन्तर को स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक है। यह लगभग उसी तरह का अन्तर है जो विष्णु और विष्णुलोक में है। विष्णुतत्त्व और विष्णुलोक में अन्तर है। उसी तरह बिम्ब के बिम्बतत्त्व और बिम्बलौकिकता में अन्तर है। शमशेर की कविता में घिरे हुए असीम को बिम्ब की बिम्बात्मकता नहीं, उसकी बिम्बलौकिकता भरती है। अन्तिम रूप में शमशेर की काव्यानुभूति बिम्ब की

नहीं, बिम्बलोक की अनुभूति है। इसी का निर्माण वे बार-बार करते हैं और विविध बिम्बों के बावजूद एक ही कविता लिखते हैं। अन्ततः इस बिम्बलोक में बिम्ब का भी पर्यवसान हो जाता है। लेकिन बिम्ब का पर्यवसान उस लोक का भी पर्यवसान है।

निषेध का अन्त नहीं है। विधेय-रूप में निषेध को आत्मसात् करने पर भी वह निषेध ही बना रहता है, उसका अन्त नहीं होता। निषेध का अन्त वहाँ है जहाँ से विधेयकता का आरम्भ होता है। शमशेर का बिम्बलोक कब तक इस निषेधात्मक यूटोपिया से घिरा रहेगा? अवतार को लीला-रूप में देखने की कोशिश तात्त्विक दृष्टि से घटित होने को केवल होने के रूप में देखना है। आप देखेंगे कि यही समस्या भक्तिकाल की भी दार्शनिक समस्या है। यूरोप के अस्तित्ववादी दार्शनिक यास्पर्स ने कहा है कि असली प्रश्न यह है कि क्या नास्तिक संत होना सम्भव है? यास्पर्स का दर्शन इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश है।

शमशेर की काव्यानुभूति के मौन विस्तार में भी यही प्रश्न मँडराता रहता है।

○○ ○○ ○○

काव्यानुभूति की इस बनावट का शिल्प के स्तर पर एक नतीजा यह निकलता है कि शब्द जो जड़ थे, सहसा पोले पड़ने लगते हैं। शब्द की जड़ अवस्था वह है जो उनको रूढ़ अर्थों के पाश में बाँधती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक अचल स्थिरता की तरह परिभाषाबद्ध हो जाता है। उनके पोले पड़ने का मतलब है कि अर्थ को परिभाषा के तात्त्विक कैवल्य की भाँति नहीं, बल्कि प्रक्रिया की तरह देखा जाय। तब शब्द के पाश टूटने लगते हैं और वे परिभाषा का अर्थ नहीं, जीवन की अनुभूति का अर्थ देने लगते हैं। शब्द की अर्थशक्ति में इतना बड़ा परिवर्तन हिन्दुस्तान में एक बार और हो चुका है जब गुमनाम ध्वनिकार ने व्यंजना शक्ति का आविष्कार किया। उस समय शब्दों के पाश टूटने की अनुभूति हुई होगी। ध्वनि-सिद्धान्त तत्त्वतः घटित को अस्तित्व की तरह फैलता हुआ देखने का प्रयास है। क्या ध्वनि-सिद्धान्त और बाद में विकसित होने वाले विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत में कोई असंलक्ष्यक्रम रिश्ता है? आप विद्वज्जनों के संमुख मैं इस ख़तरनाक क्षेत्र में प्रवेश करने की मूर्खता नहीं करूँगा। इस गुत्थी को खोलना समर्थ व्यक्तियों का काम है। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि शब्दों के प्रति शमशेर की, और समूची नयी कविता की दृष्टि हिन्दुस्तान की पुरानी उपलब्धियों से अलग नहीं है; बल्कि

ठेठ उनके मध्य में स्थापित है। आज की कविता की समस्या लगभग उसी शक्ल में सामने आती है जिस तरह वह ध्वनिकार के सामने आयी थी। उसमें पहले की सभी दृष्टियों का समाहार हो गया। शमशेर की कविता या समूची नयी कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की ज़रूरत नहीं है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की ज़रूरत है :

> "जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
> सजग-सा होकर पसरने लगा
> आप से आप।"

ऐसी अवस्था में ऐसे शब्द साथ-साथ आने लगते हैं जिनके साहचर्य की कल्पना पहले नहीं की गई थी और 'साँस की गंगा', 'हलकी मीठी चा-सा दिन', 'हँसी का फूल', 'मौत के रंगीन पहाड़', 'अगोरती विभा', 'काग़ज़ी विस्मय' 'सुलगता हुआ पहरा', 'मोतियों को चबाता हुआ गुल' जैसे प्रयोग सिर्फ़ चौंकाने वाले करिश्मे नहीं लगते, बल्कि गूँजते हुए अर्थ से भर जाते हैं। कविता शब्दों और शब्दों के संयोग से नहीं बनती, बल्कि शब्दों का जाल जो यथार्थ पर फेंका जाता है, उससे बनती है। यह फेंका हुआ जाल ही अर्थ है। और अगर यथार्थ स्थिरता नहीं, गत्यात्मक प्रक्रिया है, तो शब्दार्थ को भी गत्यात्मक प्रक्रिया होना पड़ेगा। यही शमशेर के शिल्प की समस्या है।

०० ०० ००

मैंने आपके सम्मुख काव्यानुभूति की बनावट प्रस्तुत की। ऐसे बहुत से सवाल हैं जो मैंने छोड़ दिए हैं। इस बनावट से कवि का जो स्पृहात्मक सम्बन्ध है, उसकी प्रकृति क्या है ? यह सौंदर्य की तरह क्यों आभासित होता है ? इस समूचे अस्तित्व का हमारे रोज़मर्रा के जीवन से क्या सम्बन्ध है ? छायावाद या हिन्दी-काव्य की परम्परा से इसका किस तरह का रिश्ता है ? सबसे बढ़कर वह भावात्मक अवस्था जो इस बनावट को ऐन्द्रिकता देती है, उसका व्यापार किस तरह का है, वह सब मैंने छोड़ दिया है। इनमें से कुछ प्रश्न तो ढाँचे की इस विवेचना के बाहर हैं, और कुछ का उत्तर देना शमशेर के ही शब्दों में मुझसे ज़्यादा 'ऊँचे रुचि और मति' वाले विद्वानों का काम है।

इसलिए शायद आपको लगे कि काव्यानुभूति की बनावट की इस विवेचना में मैंने शमशेर की कविता के रेशे-रेशे बिखेर कर रख दिये और कविता की इहलीला समाप्त हो गयी। आख़िरकार विश्लेषण कविता की जगह तो नहीं

ले सकता। क्षमा-याचना के रूप में मैं आपके सामने शमशेर की दो बहुत मार्मिक कविताएँ 'सागर तट' तथा 'लौट आ ओ धार' रखकर इस विवेचना को समाप्त करूँगा। इन कविताओं में जो अवतरित होता हुआ सौंदर्य है, यथार्थ पर थपेड़े मारता हुआ 'चेतना का जो स्पन्दन है, यदि उसकी धड़कन को कुछ अधिक गहराई के साथ आप महसूस कर सकेंगे, तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा : आपके प्रति भी और कवि शमशेर के प्रति भी।

—(इलाहाबाद की विवेचना-गोष्ठी में पठित,)
१६६४

अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग और अभिव्यंजना की कुछ समस्याएँ

सिद्धान्ततः हिन्दी के सृजनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। क्या इस पर दो मत हो सकते हैं? जुलाई, १६६३ की 'कल्पना' में श्री शमशेर बहादुर सिंह की दस कविताएँ, पाँच एलेन गिन्सबर्ग के नाम और पांच अन्य, छपी थीं। उनमें अंग्रेज़ी शब्दों का काफ़ी प्रयोग किया गया था। इन प्रयोगों के औचित्य पर कवि की एक संक्षिप्त टिप्पणी भी प्रकाशित हुई थी। इस विवेचना के दौरान हम उन कविताओं और टिप्पणी का इस्तेमाल बात की तह तक पहुँचने के लिए करेंगे। इसलिए नहीं कि शमशेर इस विषय में विशिष्ट अपराधी हैं (वस्तुतः रचनाओं में अंग्रेज़ी का प्रयोग बहुतों ने किया है), बल्कि इसलिए कि अपने प्रयोगों के विषय में शमशेर बहुत सतर्क और सधे हुए कवि हैं और जो तर्क उन्होंने दिये हैं, वे एक व्यापक मनोवृत्ति और विचार-रीति को प्रतिबिम्बित करते हैं।

खुद शमशेर सिद्धान्ततः इन प्रयोगों की अवांछनीयता से ही अपनी टिप्पणी का आरम्भ करते हैं: 'विदेशी शब्दों का प्रयोग, जब तक उनकी कोई ख़ास ज़रूरत न हो, मैं भी अवांछनीय समझता हूँ। एकदम अवांछनीय, साहित्य में तो और भी।' इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर देना आसान है, लेकिन कृतिकारों के व्यवहार को देखते हुए, बहुत से अपवाद भी तत्काल ध्यान में आते हैं। सिद्धान्त और अपवाद के बीच सीमारेखा कहाँ खींची जाए, मुख्य प्रश्न यही है। इन अपवादों की क्या प्रकृति है, उनका औचित्य किस प्रकार सिद्ध या असिद्ध होता है, ये अपवाद जन्म ही क्यों लेते हैं, इत्यादि बहुत से उपप्रश्न इस सम्बन्ध में उठते हैं। शमशेर के अनुसार 'प्रश्न है शब्दों को खपा ले जाने का; किसी पूर्वग्रह से नहीं, भावों के स्वाभाविक आग्रह से।'

लग सकता है कि बहस एक बहुत छोटे दायरे को लेकर है और इसमें अधिक माथापच्ची बाल की खाल निकालने जैसा होगा। एक अर्थ में यह ठीक भी है। आख़िर उपन्यासों, कहानियों, कविताओं आदि में कुल मिला कर कितने अंग्रेज़ी शब्द होंगे? प्रतिशत के हिसाब से नहीं के बराबर। लेकिन साहित्य के प्रभाव इतने सूक्ष्म तन्तुओं से निर्मित होते हैं कि इस तरह की

स्थूल धारणाओं से हम भाव और भाषा का प्रांजल आस्वादन कर ही नहीं सकते। किसी व्यापक नियम में जो अपवाद उत्पन्न होते है, वे ख़ुद ही विचारशीलता और सहृदयता के लिए चुनौती की तरह होते हैं और बारम्बार हमारे रुचि-विवेक को उकसाते रहते हैं। सबसे संवेदनशील रूप में साहित्य के प्रति हमारी उन्मुखता शब्दों और उनके आपसी सम्बन्धों के प्रति उन्मुखता ही है, यह खोज हिन्दुस्तान के प्राचीन साहित्याचार्यों की सबसे मूल्यवान उपलब्धि रही है। विचार और आलोचना के यंत्रों को बारीक उधेड़-बुन के लिए प्रस्तुत करना अपने-आप में साहित्यिक संवेदनशीलता को अधिक सूक्ष्म, अधिक उत्सुक और अधिक तत्पर बनाना है।

अतः हम स्वीकार करके चलेंगे कि विश्लेषण का दायरा छोटा है, लेकिन इससे अभिव्यंजना की जिन समस्याओं पर प्रकाश पड़ सकता है, वे महत्त्वपूर्ण हैं। बल्कि, यह दायरा कितना छोटा है, और क्यों छोटा है, ख़ुद यह सीमा-निर्धारण ही इन अपवादों के उद्‌भव, प्रकृति और औचित्य पर काफ़ी रोशनी डालता है।

इस दायरे के सीमा-निर्धारण की कोशिश से ही आरम्भ करें। एक ख़ास अर्थ में सृजनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग की यह समस्या मुख्यतः हिन्दी के 'आधुनिक' लेखक को ही व्यापती है। आधुनिक से मेरा मतलब स्थूलतः उस मनोभूमि से है जो छायावाद के पहले और दूसरे दौर के बाद तथाकथित 'नयी कविता' या 'नवलेखन' में अभिव्यक्त हुई। इन शब्दों को मैं यहाँ व्यापक अर्थों में प्रयुक्त कर रहा हूँ— छायावादी मनोभूमि से भिन्नता लक्षित करने के लिए। अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से प्रयोगवादी तथा प्रगतिवादी, दोनों ही छायावादी मनोभूमि से भिन्न हैं।

छायावादी मनोभूमि मूलतः उस दायरे से बाहर पड़ती है जहाँ अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग का प्रश्न उठता है। उदाहरण के लिए हम निराला की अनामिका, महादेवी या रामकुमार वर्मा के गीत, प्रसाद के नाटकों या 'कामायनी' को लें, अथवा दूसरे दौर में बच्चन की 'मधुशाला', 'निशा-निमन्त्रण' आदि या दिनकर की 'रसवन्ती' या 'हुंकार' को लें। क्या हम इनमें कहीं अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग की कल्पना भी कर सकते हैं ? इतना ही नहीं कि इन रचनाओं में बड़े मनोयोग से अंग्रेज़ी शब्दों से बचने की कोशिश की गयी है। संवेदना की यह दुनिया ही ऐसी है जिसमें दूर-दूर तक यात्रा करने के बावजूद भूले से भी किसी अंग्रेज़ी शब्द से भेंट होने की गुंजायश ही नहीं है। यह भी नहीं कि ये लेखक अंग्रेज़ी से परिचित नहीं हैं, या अंग्रेज़ी इनकी ज़बान पर नहीं चढ़ी। स्वर्गीय निराला रौ में आकर अक्सर अंग्रेज़ी बोलते थे। बच्चन

तो अंग्रेज़ी के अध्यापक थे ही और अब भी उनका काम एक तरह से दुभाषिये का ही है। महादेवी बातचीत में अंग्रेज़ी बचाती हैं, लेकिन अंग्रेज़ी से उनका परिचय लक्ष्मीकान्त वर्मा या शमशेर बहादुर सिंह से कम नहीं है। रामकुमार वर्मा या सुमित्रानन्दन पन्त तो इस तरह खिचड़ी बोलते हैं जैसे सचिवालय के पदाधिकारी हों। प्रश्न परिचय या अभ्यास का नहीं है—इनका काव्य-प्रदेश ही ऐसा है जहाँ पहुँचने पर हमारी वह दुनिया, जहाँ अंग्रेज़ी शब्द हैं, बहुत पीछे छूट जाती है।

इसके विपरीत, जब हम उस काव्य-प्रदेश में प्रवेश करते हैं जहाँ अज्ञेय हैं, लक्ष्मीकान्त वर्मा हैं या आज के बहुत से 'नयी कविता' के कवि हैं, तो हम अक्सर इन अंग्रेज़ी शब्दों से मुठभेड़ के लिए तैयार रहते हैं, बल्कि कभी-कभी तो ये अंग्रेज़ी शब्द अपनी अनिवार्यता घोषित करते हुए दिखते हैं। यहाँ भी सवाल सिर्फ़ अभ्यास या परिचय का नहीं है, इस काव्य-देश की आबोहवा का है, मनोभूमि की प्रकृति का है।

इस आबोहवा या प्रकृति में क्या और क्यों अन्तर पड़ा, और आज की सृजनात्मक समस्याओं से इसका क्या सम्बन्ध है, इसकी विवेचना आगे होगी। अभी हम इस सीमारेखा को ध्यान में रख लें। साथ ही यह भी कि इस बदली हुई आबोहवा में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रति सभी 'नये कवियों' का व्यवहार एक-सा नहीं हैं। यहाँ तक कि एक ही कवि का व्यवहार विभिन्न मनःस्थितियों में एक-सा नहीं हैं। लेकिन सबके लिए अंग्रेज़ी शब्द आहूत या अनाहूत अतिथि की तरह समस्या जरूर हैं—एक ऐसी जीवित समस्या जिसको निकालना या जिसके आगे हाथ-पैर फूल जाना उनके साहित्यिक सृजन की महत्त्वपूर्ण घटना है। छायावादी मनोभूमि में इस समस्या का अस्तित्व ही नहीं है।

दायरे को हम थोड़ा और छोटा करें और उन स्थितियों को अलग करें जहाँ अंग्रेज़ी शब्द अभिव्यंजना के केन्द्र को नहीं छूते। निराला ने 'कुकुरमुत्ता' में 'कैपिटलिस्ट' शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन यह प्रयोग विवशता से नहीं हुआ है, बल्कि समसामयिक वातावरण में अनुगुंजित व्यंग्य के साथ हुआ है: ज़ाहिर है कि इस विशेष तेवर में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग कभी ही कभी हो सकता है। पर नाथूराम शंकर शर्मा के 'जाकिट के पाकिट' हैं सब लटकावेंगे' या उर्दू में अकबर इलाहाबादी के 'पपीहे पुकारा किये पी कहाँ। मगर यह प्लीडर से लीडर हुए' की तरह अभिव्यंजना की केन्द्रीय समस्या नहीं पैदा करता। इसी तरह जहाँ किसी अंग्रेज़ी रचना से मौलिक उद्धरण ही उद्दिष्ट हो, वह प्रयोग भी दायरे के बाहर पड़ता है।

एक और कोटि 'प्लेटफ़ार्म', 'स्टेशन'; सिपोट', 'स्टीमर', 'बेंच', 'टेलीफ़ोन' जैसे शब्दों की है जो हिन्दी के नहीं तो अंग्रेज़ी-हिन्दी की संधिरेखा पर हैं। इन्हीं की तरह 'पेनिसिलीन', 'सिबाजोल', 'नेफ्थलीन' अथवा 'हैंडिल', 'स्विच' जैसे नाममात्र पारिभाषिक या अर्ध-पारिभाषिक शब्द हैं जिनकी ज़रूरत कथा-साहित्य, नाटक या कभी-कभी कविताओं में पड़ सकती है। इनमें से अधिकांश का प्रयोग हिन्दी की भाषागत समृद्धि का ही द्योतक है। कुल मिलाकर प्रभाव यही पड़ता है कि ऐसे प्रयुक्त शब्द हिन्दी के हैं या होते जा रहे हैं, या कम से कम लेखक का प्रच्छन्न आग्रह है कि इन्हें हिन्दी का मान लिया जाए। सुविधा के लिए मैं ऐसे शब्दों को हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्द कहूँगा और उन्हें ऐसे अहिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दों से पृथक् करूँगा जिनके पीछे न ऐसी मान्यता है, न मान्यता का आग्रह है। हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग भी हमारे दायरे के बाहर है, क्योंकि एक तरह से यह हिन्दी प्रयोग ही है, अंग्रेजी प्रयोग नहीं। बेशक आज की भाषागत अस्थिरता के माहौल में ऐसे सन्दिग्ध शब्दों की सूची तैयार करना असम्भव है जिनके बारे में मतभेद हो कि वे 'हिन्दी-अंग्रेज़ी' हैं या 'अहिन्दी-अंग्रेज़ी'। शायद इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय कोशकारों का हो। लेकिन सन्दिग्ध क्षेत्र के बावजूद ये दोनों दो कोटियाँ हैं, इतना तो स्पष्ट है ही। आख़िरकार हिन्दी और अंग्रेज़ी के शब्दकोश तो अलग-अलग ही हैं।

हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दों को ज्यों-का-त्यों ले लेना चाहिए या डॉ० लोहिया के अनुसार लालटेन, गिलास आदि की तरह लाटफ़ारम, टेसन, रपट, इस्टीमर, बिच और तेलीफूंक की शक्ल में 'हिन्दीकृत' करके लेना चाहिए, यह अलग बहस है और रोचक भी है। लेकिन मुझे लगता है कि इस क्षेत्र में पहल विवेचनात्मक गद्य और बोलचाल में ही होगी। मैंने देखा कि 'कल्पना' में 'रेलवई टेसन' लिखा जाने लगा है। प्रचलित हो जाए तो अच्छा है। मगर बीच में ही सर्वेश्वर की कविता 'प्लेटफ़ार्म' को 'लाटफ़ारम' बना देने की सलाह देना कठिन काम जान पड़ता है। 'मैजिस्ट्रेट' को हम 'मजिस्टर' कर भी दें तो क्या 'डाक्टर' को 'डागदर' भी कर दें ?

इन हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दों में ऐसे भी हो सकते हैं जिनके सटीक और चलने लायक शुद्ध हिन्दी पर्याय प्रतिभावानों या क़िस्मतवर पत्रकारों या घुमक्कड़ों को मिल जाएँ। हाल ही में डॉक्टर लोहिया ने 'रोडोडेन्ड्रान' फूल के लिए उर्वसीयम् से 'खन्डक' शब्द खोज निकाला है जिसको चलाने का ज़िम्मा भी 'धर्मयुग' ने बड़ी सदाशयता से ले लिया। अर्सा हुआ, अज्ञेय ने 'एयर-कन्डीशन्ड ट्रेन' के लिए दिल्ली स्टेशन से 'ठण्डी गाड़ी' खोज निकाला था

जिसको चलाने का ज़िम्मा मेरी जानकारी में अभी तक किसी ने नहीं लिया है। लेकिन ऐसी बटेरें छिट-पुट ही हाथ लगेंगी, क्योंकि हिन्दी-अंग्रेज़ी के प्रचलित अथवा प्रचलन-प्रार्थी शब्द अनगिनत हैं, हिन्दीकृत रूप और सटीक पर्याय थोड़े से। पन्त की 'स्वीट-पी', 'पैंज़ी', 'कैन्डीटफ्ट', 'नैस्टर्शियम', 'वरबीना', आदि की पुष्प-सूची (जिन्हें मेरे पड़ोस का माली 'सीपी', 'पंजी', 'चाँदीटप', 'नस्टासन' और 'बरबीना' कहता है), बच्चन के 'डैफ़ोडिल', या अज्ञेय के 'कंकरीट का पोर्च' अथवा 'स्टीमर की सीटी' या लक्ष्मीकांत के 'पेनिसिलीन की, सिबाज़ाल की टिकिया'...आदि के पीछे यही न्याय हो सकता है कि जब तक हिन्दी में चालू पर्याय नहीं दिखते—और शायद कभी न दिखें—तब तक इन्हें हिन्दी का ही मान लिया जाए। कोई जरूरी नहीं है कि कविता लिखने के दौरान आदमी डॉ० रघुवीर के शब्दकोश का भी जायज़ा लेता चले।

अभिव्यंजना की केन्द्रीय समस्या वहाँ उठती है जहाँ असन्दिग्ध रूप से अहिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन अहिन्दी-अंग्रेज़ी प्रयोगों मे भी एक वर्ग है जिसका अर्थवत्ता की दृष्टि से अलग परीक्षण करना उचित है। उपन्यासों, कहानियों, नाटकों आदि में अंग्रेज़ी शब्दों और कहीं-कहीं तो पूरे वाक्यों का, विशेषतः कथोपकथन में, प्रयोग मिलता है जो निस्सन्देह अहिन्दी-अंग्रेज़ी है। ये प्रयोग एक तरह के आंचलिक प्रयोग हैं या अक्सर हूबहू-यथार्थ चित्रण की चिन्ता से उपजते हैं। कुल मिला कर हूबहू-यथार्थ चित्रण अथवा आंचलिकता किसी साहित्य की मुख्य धारा नहीं हो सकती, इसलिए ये प्रयोग जहाँ अंशतः उचित दिखते हैं, वहीं वे अभिव्यंजना की शक्ति को सीमित भी करते हैं। दो-चार चीज़ें आंचलिक हों तो ठीक है, वरना किसी भाषा के बारे में यह कहना कि उसका पूरा का पूरा साहित्य 'आंचलिक' है, उसकी प्रशंसा करना नहीं होगा, उसकी भर्त्सना करना होगा।

आंचलिकता परिभाषा से ही अपने से भिन्न, न केवल समाज में, बल्कि साहित्य में भी, मुख्य धारा की अपेक्षा रखती है। जब तक जीवन और साहित्य में परिचित, केन्द्रस्थ और खुला हुआ एक ऐसा प्रवाह न हो जिसके मुक़ाबले में आंचलिकता अपरिचित, अनोखी, दूर की, कटी हुई और अपने आप में बन्द या स्वतः सम्पूर्ण न जान पड़े, तब तक उसकी छविमयता, रमणीकता और ताज़गी का मज़ा ही नहीं आ सकता। बात सिर्फ़ सामाजिक या भौगोलिक अंचल की नहीं है। आंचलिकता 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की तरह इतिहास के अंचल की भी हो सकती है। आंचलिकता दृष्टि और वर्णन-शैली में, शब्दावली के आपसी रिश्ते में निहित है। प्रेमचन्द्र के उपन्यास आंचलिक नहीं हैं,

क्योंकि उनके गाँवों की कोई स्वतः सम्पूर्ण सत्ता इस आधार पर नहीं बनती कि जीवन की मौलिक उद्‌भावना ही यहाँ पाठक के जीवन-मूल्यों से अलग स्तर पर हो। उनके गाँव पूरे समाज के अंग हैं, स्वतः सम्पूर्ण छविमय समाज नहीं। इसके विपरीत रेणु के 'मैला आँचल' में वर्णन-शैली में ही हमें दो दृष्टियों का बोध होता रहता है—एक, खड़ीबोली द्वारा अभिव्यंजित वह जीवन-स्तर जो अप्रस्तुत है, लेकिन जहाँ से दूरबीन लगा कर पाठक और लेखक दोनों ही उस अंचल को देखते हैं; दूसरे, आंचलिक शब्दावली द्वारा चित्रित भिन्न स्तर पर बीतता हुआ वह छविमय जीवन जिसकी शर्तें बिलकुल अलग हैं। हम बराबर उस खाईं से अवगत रहते हैं जो खड़ीबोली में स्थित पाठक एवं वर्णनकार को आंचलिक शब्दावली में स्थित आंचलिक समाज से अलग करती है। दूरी का यह बोध कथा के सौन्दर्य-बोध का अनिवार्य अंग होता है। इस बोध में यह ज्ञान भी निहित रहता है कि पाठक और वर्णनकार का खड़ीबोली वाला जो स्तर अकथित रह गया है वह मुख्यधारा है, और आंचलिक अनोखा, दूर का, छविमय है। इस उन्मेष की इससे अधिक सार्थकता नहीं हो सकती कि वह साहित्य की मुख्य धारा को थोड़ा स्फुरण देने के बाद ख़ुद उसमें लय हो जाए जिसकी अवान्तर स्वीकृति ही उसके जीवन का केन्द्र है।

यह आंचलिकता सिर्फ़ खेतों, खलिहानों, क़स्बों या पहाड़ी इलाक़ों में ही हो, ऐसा नहीं है। एक तरह की आंचलिकता हमें महानगरों में, कनाट-प्लेस, चौरंगी, चौपाटी में, क़हवाघरों, होटलों, क्लबों में भी प्राप्त होती है। खेत-खलिहानी-क़स्बाई-पहाड़ी आंचलिकता अपने साथ नाना प्रकार की ग्राम्य, क़स्बाई, पहाड़ी शब्दावली लाती है जिसे वह कथा-साहित्य में, या लोकगीतों का समाँ बाँधने वाली 'आंचलिक' कविताओं में उँड़ेल कर चुक जाती है। ज़्यादा दिन नहीं हुए इस तरह के कथा-साहित्य और 'पिया पिछवारे पहरू ठनका किया' या 'चले नहीं जाना बालम' या 'पिया पानी बरसा' के क़िस्म की कविताओं का ख़ासा ज़ोर था। देखते-देखते यह शैली बासी पड़ गयी या ज़रूरत से ज़्यादा 'बहुमूल्य' लगने लगी। इस बुखार के कितने शब्द हिन्दी की मुख्य धारा में खप गये? शायद बहुत नहीं।

महानगरीय आंचलिकता, या आजकल की उदीयमान उक्ति हिन्दुस्तानी-अंग्रेज़ समुदायों की आंचलिकता अपने साथ अंग्रेज़ी शब्द, मुहावरे और वाक्य लाती है। इसका महत्त्व भी खेत-खलिहानी-क़स्बाई-पहाड़ी आंचलिकता से अधिक नहीं है, या शायद उससे भी कम है, क्योंकि इन अंग्रेज़ी प्रयोगों के मुख्य धारा में खप जाने की गुंजायश और भी कम है।

खाई के अतिरिक्त दो और तत्त्व आंचलिक दृष्टि में होते हैं। जिस यथार्थ को उस पार हम देखते हैं, उसका एक मूलभूत गुण झिलमिलाती छविमयता होती है। एक हद तक यह छविमयता हूबहू-यथार्थ का आभास देती है—लेकिन वह मुख्यतः ऐसी तस्वीर होती है जिसके चारो ओर चौखटा कस कर उसे बाक़ी सृष्टि से अलग कर दिया गया है। वास्तव में हमें यथार्थ का बोध इतना नहीं होता जितना चेतना में यथार्थ की पड़ती हुई प्रतिच्छवि का। प्रेमचन्द में जहाँ यथार्थ और चेतना की चौहद्दी एक ही है, हमें यथार्थ के बाहर भी चेतना का कोई अस्तित्व है, इसका बोध नहीं होता। वहाँ सचेत होने का मतलब हमेशा बाहर किसी वस्तु की ही चेतना होने, का होता है, जबकि आंचलिकता में चेतना की यह स्वतंत्र सत्ता, जो यथार्थ से बड़ी है, रिक्त अवशेष की तरह बराबर आभासित होती रहती है जैसे रंगारंग बादलों के पीछे नीला आकाश दिखता है। चूँकि यह शुद्ध चेतना है, जिसे यथार्थ भर नहीं पाता, इसलिए खाई का बोध होता है। कल्पना की उड़ान में आंचलिकता का आरम्भ-स्थल यथार्थ की वस्तुनिष्ठता नहीं है, चेतना का आन्तरिक महाशून्य है जिसकी गति यथार्थ को खोल लेने, उसमें तल्लीन हो जाने की ओर है। खाई, चेतना की स्वतंत्र सत्ता और यथार्थ की अविकल छविमयता, इन तीनों का संश्लिष्ट सौन्दर्य-बोध ही आंचलिक शब्दावली का गीतिमय व्यापार है।

बराबर एकतान भाषा का प्रयोग करके भी कल्पनात्मक दूरी का निर्माण किया जा सकता है। लेकिन, तब उसमें छविमयता नहीं होगी, अधिक गहरी अर्थवत्ता होगी। तब यह काम ज़्यादा कठिन होगा और ज़्यादा आन्तरिक भी होगा। छविमयता को उत्पन्न करने के लिए भाषा में तहें या सिलवटें डाली जाती हैं। लगभग उसी तरह जैसे एक ज़माने में शब्दालंकारों के द्वारा भावों को कुछ अधिक भड़कीला, अधिक लक़-दक़ बनाने की कोशिश की जाती थी। छविमयता का काम ग्राम्य-क़स्बाई-पहाड़ी आंचलिकता से भी लिया जा सकता है और अंग्रेज़ी शब्दावली वाली महानगरीय आंचलिकता से भी। कहाँ तक यह शब्दावली इसमें सफल होती है, यही उसकी कसौटी है। बेशक जहाँ ग्राम्य शब्द इसमें सफल नहीं होते, वहाँ वे स्तर से गिरने पर भदेस या अत्यधिक सँवारे जाने पर 'बहुमूल्य' लगने लगते हैं, वैसे ही छविमयता में अशक्त अंग्रेजी शब्द गिरने पर बाज़ारू और उठने पर पांडित्य-प्रदर्शक लगने लगते हैं। मगर मुख्यतः यह तहों वाली भाषा ही आंचलिक केन्द्र का निर्माण करती है।

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' को आंचलिक कहना शायद अनुचित या आकस्मिक जान पड़े। वह किसी भौगोलिक अंचल की कथा नहीं है। लेकिन

यदि हम आंचलिकता को कथाकार की दृष्टि से सम्बद्ध मानें और परिभाषा के अनुसार कटे हुए, अपने-आप में बन्द, स्वतःसम्पूर्ण समाज की उद्भावना और छविमयता को उसकी कसौटी मानें तो आंचलिक दृष्टि के तत्त्व उसमें मिलेंगे। एक अर्थ में उसके मुख्य पात्र केवल व्यक्ति या वर्ग विशेष नहीं है—वे मिलकर एक अलग 'समाज' का निर्माण करते दिखते हैं। बेशक इस समाज की स्वतःसम्पूर्णता उतनी चरम नहीं है जितनी 'मैला आँचल' के समाज की। वस्तुतः इस समाज का 'समाज' न बनकर जगमगाते द्वीपों की तरह बिखर-बिखर जाना ही कथाकार का महत्त्वपूर्ण कथ्य है। मगर इसके पीछे उपन्यासकार की वह मौलिक तलाश ही है जो खाई के उस पार अन्य मूल्यों पर आधारित एक भिन्न सामाजिकता की छविमय सम्भावना को देखना चाहती है। दीपक की लौ की तरह इस सम्भावना का अस्तित्व और निर्वाण एक ही प्रक्रिया का नाम है जो इस ज्योतिर्मय 'दुःखभरी कहानी' को जन्म देती है। इसी अर्थ में 'नदी के द्वीप' में आंचलिकता का आभास होता है—खाई, चेतना की स्वतंत्र सत्ता और यथार्थ की छविमयता। ध्यान में रखना जरूरी है कि आंचलिकता इन पात्रों में या उनके सामाजिक वर्ग में नहीं है, बल्कि उनके वर्गत्व की ओर जो कथाकार की विशिष्ट उन्मुखता है, उसके कारण है। इन्हीं पात्रों की कहानी बिना आंचलिकता के भी कही जा सकती थी जिस तरह पूर्णिया ज़िले के किसानों की कहानी प्रेमचन्द की तरह बिना छविमयता के कही जा सकती थी। व्यर्थ विवाद बचाने के लिए हम इस दृष्टि को 'अर्ध-आंचलिक' या 'द्वीपभावी' या कोई अन्य नाम दे दें—मेरा मूल आग्रह उस खाई पर है जो इस कथा के सौन्दर्य-बोध का अभिन्न अंग है।

'नदी के द्वीप' में एक बहुत मार्मिक स्थल पर रेखा का प्रसिद्ध वाक्य है : "भुवन, जाने से पहले मैं एक बात कहना चाहती हूँ। आइ ऐम फ़ुलफ़िल्ड।…" इस विशिष्ट संदर्भ में यह अंग्रेज़ी का वाक्य बहुत सटीक है और बदला नहीं जा सकता। इसकी जगह हिन्दी अनुवाद या पर्याय रख देने से बात बनेगी नहीं, इसमें सन्देह नहीं। सौन्दर्यबोध की जिस शर्त की यह माँग है जो यहाँ हिन्दी के द्वारा पूरी नहीं की जा सकती, वह क्या है?

यही नहीं कि अंग्रेज़ी का वाक्य नहीं बदला जा सकता। उसके पहले के हिन्दी वाक्य को भी यदि हम अंग्रेज़ी कर दें तो प्रभाव नष्ट हो जायेगा। मुझे अनुवाद देने की जरूरत नहीं है। पाठक स्वयं ये परिवर्तन करके अन्दाज़ लगा सकते हैं। जो चीज़ 'आई ऐम फ़ुलफ़िल्ड' को मात्र सूचना से उठा कर आधी उत्सर्जित-आधी संयत, आधी आत्मीय-आधी अभिजात भावाभिव्यक्ति बनाती है, वह सिर्फ़ उसका अंग्रेज़ी होना नहीं है, बल्कि हिन्दी वाक्यों के बीच अंग्रेज़ी

होना है। अंग्रेज़ी और हिन्दी शब्द परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया में आबद्ध हैं। लेकिन मूलतः अंग्रेज़ी शब्दों का सृजनात्मक व्यापार उस दूरी का निर्माण करना ही है जो आत्मीयता को हिन्दुस्तानी-अंग्रेज़ियत की भद्रता में लपेट कर, निपट हिन्दी आत्मीयता से जो यहाँ निर्लज्जता का ख़तरा पैदा कर देती, पृथक् करती है।

यह लगभग उसी तरह की बात है जैसे हिन्दुस्तान में हिन्दी फ़िल्मों में तो स्त्री-पुरुष का चुम्बन निर्लज्जता के आधार पर 'फ़िल्म सेन्सर' द्वारा वर्जित है, लेकिन अंग्रेजी फ़िल्मों में वही दर्शक ऐसे चित्रों के योग्य समझे जाते हैं। इसमें वास्तविकता भी है। अंग्रेज़ी अभिनेताओं के साथ हमारा उस तरह का निपट परिचित साधारणीकरण नहीं होता जिस तरह हिन्दी अभिनेताओं के साथ। हिन्दी भाषियों के घेरे में अंग्रेजी फ़िल्म की भाषा एक खाईं पैदा करती है और यथार्थ पर छविमयता का आवरण डालकर निर्लज्जता को 'उस पर' खड़ा कर देती है। वरना इस क्रिया में उतनी ही निर्लज्जता या शालीनता है, चाहे हिन्दी में हो या अंग्रेज़ी में। चूँकि यह आवरण शब्दों की अपनी अर्थवत्ता के कारण नहीं उपजता, बल्कि मात्र भाषा के 'परायेपन' के कारण, इसीलिए यह छविमयता का ऊपरी आवरण है, अर्थ की गहराई या शब्दों की आन्तरिकता का नहीं। एक ही भाषा के दो शब्दों 'पानी' और 'जल' का अन्तर गुणतः वही नहीं है जो पानी और 'वाटर' का है। छविमयता और आन्तरिक अर्थवत्ता का यह अन्तर अच्छी तरह हृदयंगम करना ज़रूरी है।

रेखा के वाक्य में कुल मिला कर प्रभाव यह पड़ता है कि न सिर्फ़ बात अंग्रेज़ी में कही गयी है, बल्कि उस 'फुलफ़िलमेन्ट' की अनुभूति के योग्य होने के लिए, उससे अवगत होने के लिए भी अंग्रेज़ी में एक ख़ास तरह से दीक्षित समाज का अंग होना आवश्यक है। चूँकि उपन्यास हिन्दी में है, इसलिए हम बराबर चेतन या अचेतन रूप से मनोभूमि की उस मुख्य धारा से अवगत रहते हैं जिसकी सीमा से दूर ये अंग्रेज़ी 'आंचलिक' प्रयोग स्वतन्त्र छविमयता ग्रहण करते हैं। जैसे ही पात्र अंग्रेज़ी में बात करते हैं, हम यह मान लेते हैं कि इस जीवन-स्तर पर, या कल्पना के इस समवाय में मूल्यों, मान्यताओं, व्यवहारों, घटनाओं आदि के विषय में कुछ प्रश्न हैं जो नहीं पूछे जाएँगे, कुछ संगतियाँ हैं जिनकी हम आशा करेंगे—जिस तरह किसी कहानी का आरम्भ 'एक था राजा...' से होते ही घटनाक्रम और मूल्यों में कुछ विश्वास-शृंखलाओं के लिए हम प्रस्तुत हो जाते हैं और मान लेते हैं कि कुछ सन्देह है जो नहीं उठाये जाएँगे। सम्पन्न हिन्दी वर्णन शैली के बीच अंग्रेज़ी शब्दावली का प्रयोग

इसी शाब्दिक ध्वन्यात्मकता के साथ 'अर्ध-आंचलिकता' या 'द्वीपभाव' का आभास देता है, आंचलिक केन्द्र का निर्माण करता है।

एक क्षण के लिए कल्पना करें कि सारा उपन्यास अपवादरहित, बिना सिलवटों वाली हिन्दी में होता तो क्या अन्तर पड़ता? सारे कथोपकथन हिन्दी में होते, अंग्रेज़ी कविताएँ न होतीं और बंगला गीत न होते; पंजाबी टप्पा भी न होता। हमें तत्काल लगता है कि ऐसा होने के लिए पूरे उपन्यास का 'फ़ोकस' ही बदलना पड़ता। पात्र और घटनाएँ वही रहने पर भी दूरस्थता की एक पारदर्शी झिल्ली है जो उतर जाएगी। भुवन के शब्दों में 'मेरे माया-लोक की विभूति बिखर जाएगी।' पाठक और आलोचक के रूप में हम उपन्यासकार से यह माँग नहीं कर सकते कि वह अपना 'फ़ोकस' बदल दे। लेकिन उस 'फ़ोकस' के रहते वह क्या उपलब्ध करता है और क्या उससे छूट जाता है, इसकी छानबीन तो हम कर ही सकते हैं।

अंग्रेजी या आंचलिक शब्दावली का प्रयोग इस छबीली दूरी के निर्माण के लिए एकमात्र तरीक़ा नहीं है। वह विभिन्न सम्भाव्य तरीक़ों में से एक तरीक़ा है—और शायद सबसे सरल—जिसमें शब्द की अभिव्यंजकता का बहुत कम उपयोग होता है। उदाहरण के लिए, एक दूसरे क्षेत्र में, सुमित्रा-नन्दन पन्त संस्कृत-गर्भित शब्दावली के प्रयोग से—केवल उसकी तत्समता का उपयोग करके—अक्सर टुकड़-गदाई चिन्तन को दूरस्थता की महिमा से मण्डित करने की कोशिश करते हैं; और हम अक्सर उनकी कविता में महसूस करते हैं कि शब्द और अर्थ एक-दूसरे को छूकर निकल जाते हैं, उनमें आपसी युगबद्धता नहीं उत्पन्न होती। क्या अंग्रेज़ी, क्या आंचलिक, क्या पन्त की संस्कृत-गर्भित शब्दावली, भाषा की इन सिलवटों के सृजनात्मक प्रयोग का एक ही आयाम है—दूरस्थ छविमयता—चाहे वह छबीलापन बौद्धिक हो, या 'लोक' तत्त्व का हो, या पावन-पावन महिमा-मण्डित हो। शब्दों का इस्तेमाल उनकी पूरी अर्थवत्ता की ख़ातिर नहीं होता, बल्कि जिस वर्ग से वे आते हैं, उस वर्ग की ख़ातिर होता है। शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग को हम वर्गाश्रयी या 'टाइप' प्रयोग कहेंगे।

मेरे कहने का आशय कदापि नहीं है कि शब्दों का वर्गाश्रयी उपयोग हमेशा पन्त की तरह असफल ही होता है। 'नदी के द्वीप' या 'मैला आँचल' में यह प्रयोग निश्चय ही सफल है—उसी तरह जैसे निराला की 'राम की शक्तिपूजा' में। लेकिन इसके कृत्रिम या रीतिबद्ध हो जाने का ख़तरा बहुत है और जब यह सफल होता है तो भी एक विशिष्ट दिशा में सीमित हो कर। 'राम की शक्तिपूजा' में कविता के प्रवाह में हम मूलतः शब्दों, अर्थों, बिम्बों,

या पात्रों से पूर्व उस तत्सम स्रोत से प्रतिध्वनित होते हैं जहाँ से ये शब्द निकले चले आ रहे हैं। धीरे-धीरे वह तत्सम स्रोत, संस्कृत शब्दों का ऊर्जस्व देव-वाणीपन अधिक जीवन्त और अनवरुद्ध रूप में अनुभूत होने लगता है। सफलता का मतलब यहाँ यही है कि इस स्थायी अनुभव में शब्द अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो कर पूर्णतः अपने वर्ग में समाहित हो जाते हैं। भाषा की इस वर्गाश्रयी अनुभूति को कथातत्त्व, बिम्ब-शृंखलाएँ, गति, काव्य-लय सब बारम्बार सम्पुष्ट करते हैं—उनकी स्वयं की सत्ता विलीन होती जाती है—और हमें कुल मिला कर एक विराट् ओज का बोध होता है।

इन सबके बावजूद शब्दों के इस वर्गाश्रयी प्रयोग की एक सीमा है। यह सीमा निराला की भी है, और अंग्रेज़ी कवि मिल्टन के 'पैराडाइज़ लास्ट' की भी है। तत्सम शब्दावली में जिस अखिल ब्रह्माण्डीय स्तर पर बात उठायी है, उसका यह लाज़मी नतीजा था कि ठोस मानवीय स्थिति को वात्याचक्र में बदल दिया जाता; पात्रों के चेहरे धुँधले हो जाते जैसे सफ़ेद वाष्प के बादल में लिपटे हुए हों और हमें मानवीय अनुभूति की जगह ऊर्जा की इकाइयों के व्यापार की प्रतीति करायी जाती। निराला के राम के अस्पष्ट चेहरे की तुलना तुलसीदास के निष्कम्प थमे हुए आलोक में दिखते हुए राम के चेहरे से बार-बार करने से यह बात स्पष्ट दिखेगी—क्योंकि तुलसीदास की भाषा में तहें नहीं हैं। इस एकाग्र मनःस्थिति में, जिसमें शब्द अर्थ से अधिक अपने वर्ग को ध्वनित करें, हमें अपनी चेतना की सम्पूर्णता को खण्डित करना पड़ता है; एक समूचे वर्ग को भीतर से न देख कर बाहर से देखना पड़ता है; अर्थात् जटिलता को पचा कर नहीं, बल्कि हठात् उसका त्याग करके अनुभूति का साक्षात्कार करना पड़ता है। और ऐसी स्थिति में देर तक रहना सम्भव नहीं है। रह-रह कर उसकी याद आने लगती है जिसे चालू साहित्यिक भाषा में 'यथार्थ' कहा जाता है। यह हलका आभास आख़िरकार शेष रह जाता है कि ज़िन्दगी के पहाड़ को उड़ा देने के लिए एक बहुत विशाल, बहुत महाप्राण 'फूः' का निर्माण किया गया है। ओज और ऊर्जा निराला की 'बादल राग' या 'मेरा अन्तर वज्र कठोर' जैसी कविताओं में भी है जिनमें शब्दों को भाषा के पूरे प्रसार में झंकृत किया गया है। लेकिन वहाँ इस अतिरिक्त 'फूः' की व्यंजना नहीं होती। इस तत्सम ऊर्जा में ऊपरी छविमयता का एक तत्त्व आ जाता है जो भाव को पूर्णतः सार्वभौमिकता में विसर्जित करने के बजाय शब्दों का एक फेन—चाहे वह अपने सन्दर्भ में कितना ही उचित क्यों न जान पड़े—छोड़ जाता है। शब्दों की यह चमक कलेवर की ही है, उनकी आन्तरिकता की नहीं।

छायावादी शब्दावली के दृष्टान्त से मैं यही संकेत करना चाहता हूँ कि हिन्दी के लिए छायावाद की संस्कृत-गर्भित शब्दावली जितनी वर्गाश्रयी थी, उससे कहीं अधिक अंग्रेज़ी शब्दावली वर्गाश्रयी है। अंग्रेज़ी वाक्य आते ही जितना हम उसके अर्थ की ओर उन्मुख होते हैं, उससे अधिक इस ओर कि बात अंग्रेज़ी में कही गयी है। आख़िरकार संस्कृत शब्द एक स्तर पर हिन्दी भाषा से एकाकार हो जाते हैं—लेकिन अंग्रेज़ी शब्द तो बहते पानी में पत्थर की तरह नितान्त पृथक् हो कर रहते हैं; चाहे बहता पानी उन पत्थरों को कितना ही सुडौल क्यों न कर दे; चाहे उन पर लहरों का उतार-चढ़ाव ही क्यों न अंकित हो जाए। इतना ही नहीं जितना ही अंग्रेज़ी शब्द या वाक्य हिन्दी संदर्भ में बिलकुल मौजूँ, बिलकुल 'खपा हुआ' लगेगा, उतना ही उसका अंग्रेज़ी में होना वह प्राथमिक प्रतीति होगी जिसमें शब्द या वाक्य की अपनी अर्थवत्ता लय होती जाएगी।

इस विश्लेषण को ध्यान में रखकर, हम फिर रेखा के उस वाक्य को देखें—'आई ऐम फुलफ़िल्ड' या इसी तरह के एक अन्य मार्मिक स्थल पर :

> भुवन ने एकाएक पास आकर उसके दोनों कान पकड़ लिये, धीरे-धीरे उसका मुँह ऊपर उठाते हुए कहा, 'पगली एक तो बात नहीं सुनती, फिर चिढ़ाती है?' और ओठों के कोमल स्पर्श से उसका सीमान्त छू लिया।
>
> रेखा ने अस्पष्ट स्वर में कहा, "गाड ब्लेस यू..."

अंग्रेज़ी वाक्य का इतना मर्मस्पर्शी प्रयोग, हिन्दी सृजनात्मक लेखन में अन्यत्र शायद ही मिलेगा; अपने संदर्भ में नगीने की तरह जड़े हुए, जगमगाते हुए। लेकिन संदर्भ और वाक्य का यह रिश्ता एकतरफ़ा नहीं होता। ये वाक्य, ये शब्द भी संदर्भ का निर्माण करते हैं। इन संदर्भों का निर्माण कलात्मक अभिव्यक्ति की मुख्य आवश्यकता को कहाँ तक समृद्ध अथवा सीमित करता है? 'नदी के द्वीप' में ऐसे बहुत से वाक्य हैं जो रेखा के बिलकुल निजी हैं—जो सीधे उसकी आन्तरिकता को व्यक्त करते हैं। ऊपर जो अंग्रेज़ी वाक्य हमने उद्धृत किये, उनका भी एक निजी आयाम है। लेकिन वे पूर्णतः निजी नहीं हैं। लगता है इन मार्मिक स्थलों पर रेखा एक 'टाइप' है—वह 'टाइप' जो मार्मिक स्थलों पर अंग्रेज़ी बोलता है।

कलाकार, चाहे वह अज्ञेय जैसा सशक्त और सक्षम ही क्यों न हो, अंग्रेज़ी शब्दों की इस अतिरिक्त व्यंजना से बच नहीं सकता, अधिक से अधिक वह इसका कलात्मक उपयोग ही कर सकता है, जो अज्ञेय ने किया है। लेकिन अभिव्यंजना की समस्या को हल करने के लिए अंग्रेज़ी की जिस बैसाखी का

सहारा लिया जाता है, वह बैसाखी ही उस हल की सीमा बन जाती है। रेखा, भुवन, गौरा सब बीच-बीच में अंग्रेज़ी बोलते हैं। धीरे-धीरे तूलिका के हलके आघातों से अंग्रेज़ी की आवृत्ति से यह चित्र उभरने लगता है कि ये सब 'एक दूसरी दुनिया के जीव' हैं; अंग्रेज़ी बोलना उस दुनिया के दूसरेपन की एक शर्त हो जाती है। बेशक यह दूसरापन सिर्फ़ अंग्रेज़ी पर आश्रित नहीं है—जिस हद तक 'मैला आँचल' का दूसरापन मुख्यतः आंचलिक शब्दावली पर आधारित है। उस दूसरेपन के मूल्यगत, कल्पनात्मक, नैतिक आयास भी हैं। लेकिन इन आयामों के लिए अंग्रेज़ी शब्दावली वह प्रत्यक्ष संदर्भ पैदा करती है जिससे वे अलग नहीं किये जा सकते। और इस अंग्रेज़ी संदर्भ का एक पहलू मूल्यगत, कल्पनात्मक, या नैतिक नहीं है—सपाट वर्गाश्रयी है।

मसलन चन्द्रमाधव भी ख़ासी अंग्रेज़ी बोलता है और उस 'दूसरी दुनिया' का जीव नहीं है जिसके चारों ओर निवेदित आन्तरिकता का अभेद्य दुर्ग रच कर भुवन, रेखा और गौरा केन्द्रस्थ हो गये हैं। लेकिन चन्द्रसाधव उस केन्द्र में घुस जाने के मिए व्याकुल है—दीवार फाँद कर, सेंध फोड़ कर, दरवाज़े तोड़कर, और हो सके तो इस सारे मायालोक में पलीता लगाकर। एक तरह की 'दो-चार-हाथ-जबकि-लबे-बाम-रह गया' जैसी स्थिति से वह ग्रस्त है। उसकी धारणा है कि वे बाह्यउपकरण जो उस दुर्ग में प्रवेश करने का अधिकार देते हैं, सब उसके पास हैं। फिर भी उसका प्रवेश वर्जित है। कथा में चन्द्र-माधव की यह 'लबे-बाम' सरीखी खीझ, कुढ़न, नफ़रत उस दुर्ग के दुर्गत्व को स्थापित करती है और उस दुर्ग के आन्तरिक, मूल्यगत एवं कल्पनात्मक आभासों को विरोधन्याय से प्रखर भी करती है। इस बौद्धिक गुण्डई-बनाम-मूल्यवान मायालोक की कशमकश में अंग्रेज़ी प्रयोग की क्या भूमिका है? महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चन्द्रमाथव की यह प्रवेशाधिकार-धारणा सिर्फ़ उसी की नहीं है। पाठक भी उससे सहमत होता है। तभी तो साधिकार और अनधिकार चेष्टा की 'लबे-बाम' वाली मिश्रित भावना उत्पन्न होती है। सचमुच उस दुर्ग के कुछ बाह्य उपकरण हैं। अगर चन्द्रमाधव अपनी पत्नी की तरह उन बाह्य उपकरणों से बिलकुल हीन होता, और तब उसमें घुसने की चेष्टा करता, तो वह बिलकुल अनधिकार चेष्टा होती। न वह 'दूसरी दुनिया' का दुर्गत्व स्थापित करती, न उसके आन्तरिक जगत् को इस तरह उजागर करती। यहीं हमें अनुभव होता है कि अन्य लक्षणों के साथ अंग्रेज़ी का प्रयोग भी उन बाह्य-उपकरणों की स्थापना में योग देता है। व्यक्ति रूप में चन्द्र-माधव उस 'दूसरी दुनिया' का जीव न हो, 'टाइप' रूप में वह अवश्य है।

वह भुवन, रेखा, गौरा का पड़ोसी है, ऐसा पड़ोसी जिसे 'डिनर' में बुलाये जाने की उम्मीद थी—यह बात दूसरी है कि उसे बुलाया नहीं गया।

अंग्रेज़ी शब्दों या वाक्यों के आंचलिक अथवा अर्ध-आंचलिक प्रयोग की सीमा यही है कि अपने सफल रूप में वे भावों या पात्रों को अपनी स्वयम्भू आंतरिक सार्वभौमिकता में विसर्जित करने के बजाय, आरोपित, बाह्य उपकरणों वाले 'टाइप' की सीमित सामान्यता में विसर्जित करते हैं, सौन्दर्य को छविमयता में बदल देते हैं, क्योंकि सौन्दर्य का वर्गाश्रयीपन ही छविमयता है, छबीलापन है।

ऐसा क्यों होता है ? दोष अंग्रेजी का नहीं है, हिन्दी के घेरे के बीच अंग्रेज़ी शब्दों का है। एक स्तर पर सभी भाषाओं में आन्तरिक सार्वभौमिकता होती है—चाहे वह कितने ही छोटे समुदाय में बोली जाने वाली भाषा क्यों न हो। भाषा का यह आन्तरिक आयाम बराबर उसकी बाहरी सामाजिक अथवा ऐतिहासिक सीमाओं का अतिक्रमण करता रहता है। जैसे ही कोई कलाकार अपनी कलाकृति के लिए किसी भाषा को माध्यम-रूप में चुनता है, वह इस आन्तरिक सार्वभौमिकता से प्रतिश्रुत हो जाता है। इसी सार्वभौमिकता की सब कुछ पचा जाने वाली घुलनशीलता का परिणाम है कि, उदाहरणत: हिन्दी उपन्यास में, तमाम देशों-देशान्तरों, कालों-कालान्तरों, ऐतिहासिक एवं सामाजिक युगों के पात्रों का निर्माण सम्भव होता है जो उपन्यास के भाषा-माध्यम में बोलते हैं और हमें कहीं कुछ अयुक्त नहीं लगता। वोल्गा से गंगा तक, पाषाण-युग से बाईसवीं सदी तक, हम धारासार हिन्दी का प्रयोग देखते हैं। यही है जो रामचरित मानस में राम से लेकर रावण तक को अवधी के एकतान प्रसार में निर्मित करती है और यह प्रश्न उठने ही नहीं देती कि रावण की भाषा तमिल थी या संस्कृत, क्योंकि यह वह आयाम है जहाँ भाषा हिन्दी या अवधी, या ब्रज नहीं रहती—वह केवल भाषा हो जाती है; सिर्फ़ वाणी, जो कला का माध्यम है। यह सार्वभौमिकता मानवीय स्थिति का भी अतिक्रमण कर जाती है और हम कविता में जानवरों, बादलों, नदियों, पहाड़ों, पेड़ों, फूलों—सकल चराचर विश्व को हिन्दी बोलते देखते हैं। यहाँ भाषा का वाणीपन भी विसर्जित हो जाता है। अज्ञेय के दूर्वाचल में जब तमक कर दामिनी बोलती है : 'अरे यायावर रहेगा याद !' तो यह दामिनी का मानवीकरण नहीं है, हिन्दीकरण तो कदापि नहीं है—यह भाषा की वह सृजनात्मक अवस्था है जहाँ हिन्दीपन विलीन हो जाता है, वाणीपन भी विलीन हो जाता है; भाषा एक अदृश्य, अविरोधी, एकतान सार्वभौमिकता की तरह अनुभूत होती है, जिसके द्वारा नहीं, जिसके भीतर समस्त जीवन, समस्त

जगत् अस्तित्व ग्रहण करता है। जितना ही बड़ा कलाकार होगा, उतना ही बड़ा कलामाध्यम की इस सार्वभौमिकता का, घेरे को तोड़ कर बाहर निकल जाने की इस क्षमता का उपयोग उसकी कला में मिलेगा।

वह सार्वभौमिकता केवल वहीं नहीं अनुभूत होती जहाँ परदेशिकता, परकालिकता या जड़ता आदि की औपचारिक बाधाओं का अतिक्रमण होता है। यह सार्वभौमिकता वहाँ भी रहती है जहाँ पात्र बिलकुल समसामयिक हों, सहसामाजिक हों या जहाँ कवि स्वयम् अपनी ओर से कथन करता है। दामिनी के बोलने का दृष्टान्त तो नाटकीय ढंग से उस पहलू को उजागर कर देता है। वरना सिद्धान्ततः हिन्दीपन या वाणीपन के सार्वभौमिकता में विलीन होने की अनुभूति 'दूर्वाचल' की शेष पंक्तियों में भी है जहाँ कवि अपनी ओर से बोलता है। कारण यह है कि काव्यात्मक प्रभाव के दौरान हम एक तरह से कलामाध्यम के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं—जिस तरह सरोवर के भीतर डूबने पर जल निराकार प्रतीत होता है। उसके आकार, उसके विस्तार की सीमा को तो हम बाहर से ही देखते हैं। हिन्दी कलामाध्यम के बीच अंग्रेज़ी का प्रयोग हमें सहसा सरोवर के बाहर खड़ा कर देता है—भाषा की एकतान प्रसरणशीलता को खण्डित करता है; गति के बीच प्रतिगति उत्पन्न करता है; आन्तरिक सार्वभौमिकता को वर्गाश्रयीपन में बदल देता है।

एक कल्पित दृष्टान्त लें। पिछली पीढ़ी तक इसका रिवाज़ था कि नाटक में यदि मुसलमान पात्र का निर्माण करना हुआ तो हिन्दी को छिट-पुट उर्दू का जामा पहना दिया जाता था : उसी तरह प्रसाद के ऐतिहासिक चरित्रों की भाषा परिशोधित संस्कृतमय है। वही प्रसाद 'कंकाल' में भाषा का रूप बिलकुल बदल देते हैं। आज भी भाषा की इस तरह की सिलवटें नाटक, उपन्यास या काव्य में मिल जाएँगी। यह रीति बिलकुल विलुप्त नहीं हुई है, यद्यपि अब सिलवटें मिटायी जा रही हैं। अब हम कल्पना करें कि नाटककार को किसी दृश्य में एकसाथ तुलसीदास, जहाँगीर और सर टॉमस रो को प्रस्तुत करना है। इतिहास की चिन्ता न करके दृश्य में पंडितराज जगन्नाथ या वैसे ही किसी और आचार्य पंडित को शामिल कर लीजिए। सिद्धान्ततः इस स्थिति के भाषागत तीन हल हैं। एक तो हूबहू यथार्थवाद का हल है कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः अवधी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी और संस्कृत बोले और चूँचूँ का मुरब्बा तैयार हो। दूसरा हल यह है कि भाषा की एकतानता तोड़ दी जाए और हिन्दी की अवधी-मिश्रित, फ़ारसी-मिश्रित, अंग्रेज़ी-मिश्रित और संस्कृत-मिश्रित तहें पैदा की जाएँ। तीसरा हल यह है कि भाषा की आन्तरिक सार्वभौमिकता के स्तर पर ये सारे पात्र सिर्फ़ हिन्दी, एकतान हिन्दी बोलें,

भाषा में सिलवटें न पड़ें और कहीं कुछ अनुचित भी न जान पड़े। पहला हल अभिव्यंजना की समस्या को छूता ही नहीं, दूसरा केवल अंशतः छूता है—तीसरा हल ही समस्या के केन्द्र से उलझता है।

भाषा की तहों के बीच से बोलने वाला स्वर किस तरह वर्गाश्रयी हो जाता है, यह दूसरे हल में स्पष्ट है। कहा जाता है कि अद्वितीय से अद्वितीय पात्र भी एक अर्थ में 'टाइप' होते हैं। 'डानक्विक्ज़ोट' उन सबका 'टाइप' है जो 'डानक्विक्ज़ोट' जैसे हैं। लेकिन इस अर्थ में 'टाइप' होना वस्तुतः सार्वभौम होना है। दूसरा हल अपने पात्रों को इस तरह नहीं प्रस्तुत करेगा। उसका जहाँगीर सिर्फ़ उन सबका 'टाइप' नहीं होगा जो जहाँगीर जैसे हैं, बल्कि उनका भी जो फ़ारसी-मिश्रित हिन्दी द्वारा अभिव्यंजित होते हैं—और ऐसे लोग जहाँगीर से बहुत भिन्न, मौलाना रकाबुल्ला या मियाँ जुम्मन तक हो सकते हैं। बहुत वैयक्तिक चरित्र निर्मित होने पर भी नाटककार उसे उस बिन्दु पर खड़ा करेगा जहाँ उसकी वैयक्तिकता की और उसके फ़ारसीपन की रेखाएँ एक-दूसरे को काटती हैं। एक पहलू सपाट वर्गाश्रयी हो जाएगा। यही हाल तुलसीदास, सर टामस रो और पंडितराज का भी होगा। नाटक का दृश्य आदमियों के बीच न होकर, संस्कृति की इकाइयों के बीच हो जाएगा; सिर्फ़ भाषा में तहें डालने के कारण।

भारतीय समाज में जातिप्रथा की तरह हिन्दी भाषा में तहें हैं। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और 'चोखे चौपदे' में वे तहें साफ़ दीखती हैं। हरिऔध ने उन तहों को तोड़ने के बजाय उनका चतुर उपयोग करना चाहा और वे तहें उनकी सीमा बन गयीं। छायावाद और प्रेमचन्द ने इन तहों को थोड़ा पिघलाया, लेकिन अपना स्वर फिर भी उनसे आवृत्त ही रखा। इसकी सीमाएँ भी 'कामायनी' और 'गोदान' में दिखती हैं। अगर प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का ज़माना होता तो हिन्दी में भी साहित्य-शास्त्रों के आचार्यगण इन तहों को गौड़ी, मागधी, पांचाली जैसे नाम देकर हमेशा-हमेशा के लिए स्थिर कर देते; प्राकृत की तरह कुछ पात्रों के लिए आंचलिक शब्दावली अथवा अंग्रेज़ी का प्रयोग काव्यरूढ़ि बना देते और संस्कृत की तरह हिन्दी की भी मरण-तिथि पहले से निश्चित कर देते। रीतिबद्धता भाषा में चमक, लालित्य, स्थिरता, प्रसन्नता और वर्गाश्रयीपन पैदा करती है, लेकिन वह उसकी प्राण-शक्ति नहीं होती, प्राणशक्ति तो वहाँ होती है जहाँ रीतियाँ तोड़ी जाती हैं और शब्दों का प्रयोग इस प्रकार होता है कि वे सिलवटों के भीतर नहीं, भाषा के पूरे प्रसार में अपने अर्थ को अभिव्यंजित करते हैं। वही भाषा की

एकतानता है, उसकी आन्तरिक सार्वभौमिकता है। वही सृजनशीलता की केन्द्रीय समस्या भी है।

पिछले पचास-साठ वर्षों में हिन्दी में जितनी बार तहें पड़ी हैं, उतनी तहों को तोड़ने की कोशिश भी होती रही—अक्सर उन्हीं लेखकों द्वारा जिन्होंने तहें डाली हैं। निराला स्वयम् इसके उदाहरण हैं।

एक दूसरे सन्दर्भ में इलियट द्वारा प्रयुक्त उक्ति को उधार ले कर हम कह सकते हैं कि समर्थ साहित्यकार समूची भाषा को अपनी अस्थियों में आत्मसात करके लिखता है। इसके पूर्व कि वह भाषा को सटीकपन और सार्वभौमिकता के साथ स्पन्दित कर सके, भाषा का अपने सारे प्रसार, सारी सम्भावनाओं के साथ सृजनात्मक आँच में पिघल कर एकतान हो जाना ज़रूरी है। इस आँच में हर शब्द भाषा के समूचेपन को झंकृत करता हुआ आता है, वर्ग नहीं बनाता। यह पिघलन, यह सार्वभौमिकता ही उस समय खण्डित हो जाती है जब लेखक तहों या रीतियों के बीच से बोलता है—या जब वह अपने कला-माध्यम से कूद कर बाहर आ जाता है और बीच में दूसरी भाषा को माध्यम की तरह प्रयुक्त करता है, क्योंकि ये दोनों माध्यम पिघल कर एक नहीं हो पाते। ज़बरदस्ती उनको एक जुए में जोत देने से एकतान प्रसार पैदा नहीं होता—सिर्फ़ दो तहें पैदा होती हैं जो एक-दूसरे को सीमित करती हैं। छायावादी या लोकांचलिक शब्दों के बीच से हिन्दी की भाषागत सार्वभौमिकता की ओर जाने का एक रास्ता है; अंग्रेज़ी पैबन्द में तो वह रास्ता भी नहीं है। हिन्दी में छायावादी और लोकांचलिक शब्द प्रायद्वीप हैं, लेकिन अंग्रेज़ी शब्द द्वीप हैं।

अमीर ख़ुसरो के कमण्डल से निकली हुई जिस हिन्दी को छायावाद की शांकरी जटाओं से मुक्त करने का भगीरथ प्रयत्न पिछले बीस वर्षों के कथा-साहित्य, नाटक, काव्य की 'आधुनिक' मनोभूमि ने किया है, वह अंग्रेज़ी की जह्नु-जंघाओं में फँस कर रह जाए, इससे बड़ा गतिरोध और क्या होगा ?

इस प्रकरण को मैं 'नदी के द्वीप' से एक और उद्धरण देकर समाप्त करूँगा। यहाँ भी अंग्रेज़ी का एक मार्मिक वाक्य पूरी कमनीयता के साथ संदर्भ में जुड़ा हुआ है। उसे किसी पर्याय द्वारा हटाना मुश्किल जान पड़ता है :

> भुवन ने फिर कहा, 'रेखा क्या बात है ?'
>
> 'तुम हो—तुम सचमुच हो। यू आर रीयल !' रेखा का स्वर इतना धीमा था कि ठीक सुन भी नहीं पड़ता था।

भुवन ने कहा, 'आइ'म वेरी रीयल रेखा। पर ठहरो, पहले तुम्हें कम्बल उढ़ा लूँ—'एक हाथ में रेखा के दोनों हाथ पकड़े वह उठा, दूसरे हाथ से उसने कम्बल खींच रेखा की पीठ भी ढँक दी। स्वयं पैर समेट कर बैठा हो गया, कुछ रेखा की ओर उन्मुख।

रेखा सहसा हाथ छुड़ा कर उससे लिपट गयी। आँखें उसने कस कर बन्द कर लीं; भुवन के माथे पर अपना माथा टेक दिया। उसके ओठ न जाने क्या कह रहे थे; आवाज़ उनसे नहीं निकल रही थी।

भुवन कहता गया, 'क्या बात है रेखा, रेखा क्या बात है—' उसका स्वर क्रमशः धीमा और आविष्ट होता जा रहा था।

रेखा के ओठ उसके कान के कुछ और निकट सरक आये। पर स्वर उनमें से अब भी नहीं निकला।

पर सहसा भुवन जान गया कि वे शब्दहीन-स्वरहीन ओठ क्या कह रहे हैं।

'भुवन मैं तुम्हारी हूँ, मुझे लो।

रेखा की नितान्त निजी अभिव्यक्ति किस वाक्य में होती है? कलामाध्यम के बीच से फूटते हुए 'भुवन मैं तुम्हारी हूँ, मुझे लो' में या कलामाध्यम को खण्डित करने वाले 'यू आर रीयल!' में? इसका निर्णय मैं पाठकों पर छोड़ता हूँ।

एक तर्क हूबहू यथार्थ चित्रण का भी है। अभिव्यंजना के क्षेत्र में हूबहू यथार्थ चित्रण की क्या सीमाएँ हैं, इसके विस्तृत विवेचन की ज़रूरत आज तो नहीं ही होनी चाहिए। यूरोप के विचारक, जहाँ इसका जन्म हुआ था, इन सीमाओं की बख़िया काफ़ी उधेड़ चुके हैं। हिन्दुस्तान के साहित्यशास्त्र ने तो कभी हूबहू यथार्थवाद को सृजनशीलता की केन्द्रीय समस्या माना नहीं। अतः इस पर सिर्फ़ एक सरसरी निगाह डालना काफ़ी होगा।

ऊपर हमने नाटक का जो कल्पित दृष्टान्त दिया, उसमें पहला हल ही हूबहू यथार्थ चित्रण का हल होगा। यह हल क्यों ऊटपटाँग लगता है? इसीलिए कि इसमें कला माध्यम की सार्वभौमिकता का पूर्ण तिरस्कार है। भिन्न भाषाभाषी पात्र, भाषा के भीतर नहीं, भाषा के द्वारा अपना अस्तित्व ग्रहण करेंगे। दूसरा हल ही कृतियों में कभी-कभी दिखता है और हूबहू यथार्थ चित्रण का आभास देता है।

रेखा के ही अंग्रेज़ी प्रयोग को हम इस दृष्टि से देखें। तर्क यह होगा कि अगर समाज में सचमुच ऐसी रेखा या रेखाएँ हैं जो ऐसी संकर भाषा बोलती

हैं तो उपन्यासकार ने कथोपकथन में अंग्रेज़ी चिपका कर पात्र की जीवन्तता और यथार्थ को बढ़ा दिया—बुरा क्या किया ?

क्या सचमुच यही हुआ ? रेखा बंगालिन है—लेकिन हिन्दी इस तरह फर्राटे के साथ बोलती है कि बहुत से हिन्दी-लेखक उससे भाषा सीखें। प्रश्न यह नहीं है कि बंगालिन का इस तरह हिन्दी बोलना सम्भव है या नहीं। प्रश्न यह है कि यदि उसकी बातचीत में बंगाली-हिन्दी की तह डाल दी जाए, और ऊपर उल्लिखित वाक्य यों हो जाए—'भुबोन, जाने के पहिले हाम तूम शे एक टी बात बोलना माँगता—एई जे आई एम फ़ुलफ़िल्ड।' तो क्या इससे रेखा की यथार्थता और जीवन्तता बढ़ जाएगी या उपन्यास के केन्द्र का सत्यानाश हो जाएगा ? सिद्धान्ततः हम यह मान सकते हैं कि 'नदी के द्वीप' की पूरी कथा रेखा से ऐसी बंगाली-हिन्दी बुलवा कर कही जा सकती है, आंचलिकता और छबीलापन बढ़ जाएगा, लेकिन जीवन और यथार्थ के गहरे अर्थों की जो व्यंजकता इस समय उपन्यास में है, वह असम्भव हो जाएगी। यह जीवन और यथार्थ के निकट जाना नहीं हुआ—उसे अधिकाधिक 'टाइप' के रूप में परिभाषित करना हुआ। यह बिलकुल सम्भव है कि समाज में यथार्थतः ऐसी रेखा हो जो इतनी ही गहरी, इतनी ही शालीन और इतनी ही दर्दभरी हो, फिर भी हिन्दी न बोल पाती हो—बंगाली-हिन्दी बोलती हो। लेकिन यदि उसकी गहराई, शालीनता और वेदना का मजाक़ नहीं उड़वाना है तो उपन्यास में उसे धारासार हिन्दी ही बोलना पड़ेगा। हूबहू यथार्थ और आन्तरिक सत्य में इतना सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह अंग्रेजी वाक्यों का प्रयोग भी, केवल यथार्थ चित्रण के नाम पर एक सीमा तक ही अभिव्यंजना की मूलभूत समस्या का स्पर्श करता है।

दूसरे, यह अनुभव विरुद्ध है कि जिस हिन्दुस्तानी-अंग्रेज़ समुदाय का चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है, उसके सदस्य बातचीत में सिर्फ़ छिटपुट अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, उपन्यास के आरम्भ में ही 'सत्य' को ले कर चन्द्रमाधव, रेखा और भुवन की सारी बहस अंग्रेज़ी में ही होती और हूबहू लिखी जाती तो यथार्थ के नाम पर उपन्यास की शक्ति बढ़ती या फ़ूहड़पन ? क्या यह सृजनात्मक समस्या का हल होता ?

घूम-फिर कर बात वहीं पहुँचती है कि ये छिटपुट अंग्रेज़ी प्रयोग जैसे हैं, उनका असली अर्थ-व्यापार हिन्दी के घेरे के भीतर ही है—और इस रूप में उनका विवेचन पहले किया जा चुका है।

अब तक की मीमांसा से हम इतना निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गम्भीरतम अर्थों की व्यंजना कलामाध्यम के एकतान प्रसार के भीतर ही संभव है, उसके

बाहर नहीं। भाषा में सिलवटें डालकर, ख़ास तौर से अंग्रेज़ी की सिलवटें डालकर, एक तरह का वर्गाश्रयी एवं आंचलिक भाव अवश्य पैदा किया जा सकता है। हो सकता है कि यह भाव कृतिकार का उद्दिष्ट हो। लेकिन या तो यह भाव किसी मुख्यभाव का अनुचर हो कर आयेगा या यदि उसे स्वयं मुख्यता, दी गयी तो वह कृति की सार्वभौमिकता को ही खतरा पहुँचायेगा। हर हालत में अभिव्यंजना की केन्द्रीय समस्या का हल ऐसे प्रयोगों से नहीं निकलता। उनका औचित्य केवल एक सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। बल्कि, हम यह भी कह सकते हैं कि जैसे-जैसे हिन्दी के अधिक लचीले, अधिक व्यापक, अधिक मेधावी प्रयोग बढ़ते जायेंगे, वैसे-वैसे तहों वाली रीतिबद्ध भाषा पीछे छूटती जायेगी—चाहे वे छायावादी तहें हों, ठंठ का ठाठ की तहें हों, उर्दू-फ़ारसी-मिश्रित तहें हों, लोकांचलिक तहें हों या हिन्दुस्तानी-अंग्रेज़ी तहें हों।

लेकिन ऐसी स्थिति को हम क्या कहें जहाँ अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग—न व्यंग्य के तेवर के साथ, न उद्धरण के रूप में, न उन्हें हिन्दी मानने या मनवाने के आग्रह से, न आंचलिकता या हूबहू-यथार्थ के सीमित अर्थ में—बल्कि सीधे बेलाग-लपेट, अभिव्यंजना के केन्द्र में ही किया जाता है, सिर्फ़ बेबसी के नाम पर ? संक्षेप में ऐसी स्थिति के लिए हम तीन शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं : दिमाग़ी काहिली, सृजनात्मक कायरता और बेहयाई। इस बार की नयी 'कविता-७' लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'अक्ल का दाँत' शीर्षक कविता में 'फ़िजिकल' 'आवसेशन', और तो और अंग्रेजी बहुवचन 'फ़ाइल्स' और हिन्दी आलपीन की जगह 'पिन' का प्रयोग किया गया है। ये प्रयोग न आंचलिक हैं, न इन्हें हिन्दी में खपाने का प्रश्न है। (खपे हुए 'आलपीन' की जगह अंग्रेज़ी 'पिन' खपाने में क्या तुक है ?)—इनके पीछे सिर्फ़ काहिली है। इसी तरह शमशेर की गिन्सबर्ग कविताओं के अंग्रेज़ी प्रयोगों में न सिर्फ़ काहिली और कायरता है, बल्कि चूँकि उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए शमशेर ने टिप्पणी भी दी है, अतः बेहयाई भी है।

ये सख़्त शब्द हैं और इनका ठीक उपयोग हम तभी समझ सकेंगे जब हम उस मानसिक गठन को अच्छी तरह देख लें जिसके भीतर से ये अंग्रेज़ी प्रयोग निकलते हैं। इस मानसिक गठन की व्याप्ति शमशेर और लक्ष्मीकांत के बाहर बहुतों तक है। शमशेर ने अपनी टिप्पणी में कहा है :

> "उन्मुक्त भाव-शृंखला को सद्यः व्यक्त करने वाली कविता—यदि उसकी पृष्ठभूमि में किन्हीं विदेशी शब्दों की ध्वनि गूँज उठी है, इस प्रकार कि वह हिन्दी पर्याय या अनुवाद में अपना वातावरण या नाटक-तत्त्व खो देती है, उन विदेशी शब्दों को सीधे-सीधे ले आने के लिए बाध्य

होगी। ऐसे शब्द कम-से-कम आने चाहिए; केवल वहीं जहाँ वे भावों के साथ लिपटे हुए हैं, या मनःस्थिति में ऐसे नाटक-तत्त्व की अभिव्यक्ति करते हैं जो अनुवाद के शब्दों में झूठा हो जाता है।"

जिस दृष्टि से हमने 'नदी के द्वीप' के 'अर्ध-आंचलिक' प्रयोगों की विवेचना की, उससे शमशेर की दृष्टि भिन्न है और समस्या के एक ओर पहलू की ओर संकेत करती है। यहाँ कवि की मनःस्थिति में ही ये अंग्रेज़ी शब्द स्फोट रूप में विद्यमान हैं; और उस मनःस्थिति की एक गूँज उठाने वाली पृष्ठभूमि भी है। इस तर्क में बकवास कहाँ है?

शमशेर की स्थापना के दो हिस्से किये जा सकते हैं। एक तो उस पृष्ठभूमि का तर्क है जिसके कारण विदेशी शब्दों की गूँज कविता में उठती है। दूसरा तर्क सृजन-प्रक्रिया में परिलक्षित उन्मुक्त भाव-शृंखला की सद्यः अभिव्यक्ति का है। अन्ततः ये दोनों तर्क मिलाकर एक हो जाते हैं, लेकिन सुविधा के लिए हम इन पर अलग-अलग विचार करेंगे।

पहले पृष्ठभूमि। शमशेर का मतलब शायद विशिष्ट कविता की पृष्ठभूमि से है, लेकिन हम उस व्यापक पृष्ठभूमि को ही देखें, जिसमें ये विशिष्ट पृष्ठभूमियाँ समाहित हो जाती हैं।

हमने आरम्भ में कहा था कि अपने काव्य-जगत् की ख़ास प्रकृति के कारण, छायावादी कविता अंग्रेज़ी शब्दों की सम्भावना के दायरे के बाहर पड़ती है। इसके विपरीत 'आधुनिक कवि' का वातावरण अधिक द्विभाषी और अंग्रेजी-ध्वनित है। क्यों? क्यों छायावादोत्तर कविता की पृष्ठभूमि ही इस तरह की गूँज उठाती है?

इसकी जड़ में हमारी सामाजिक बातचीत की गति है। हमारी आज की सामाजिक बातचीत में बीच-बीच में अंग्रेज़ी फेन किस तरह आ जाता है इसके मनोरंजक, खेदजनक और कड़ुवें संस्मरणों का ख़ज़ाना सबके पास होगा। यह द्विभाषी अभ्यास 'उन्मुक्त भाव-शृङ्खला' की तरह सुर-नर-मुनि सबको बहाये ले जाता है। मैं इसका उल्लेख किसी की निन्दा के लिए नहीं कर रहा हूँ। केवल बातचीत की आज की स्वाभाविक—या अस्वाभाविक—गति की ओर संकेत कर रहा हूँ। मैं फिर दुहराना चाहूँगा कि इस गति के शिकार तथाकथित 'नयी कविता' के कहवाघर-वासी आधुनिक कवि ही नहीं हैं, छायावाद और उत्तर-छायावाद के 'ड्राइंग-रूम-वासी' कवि भी हैं। लेकिन फिर भी इन कवियों की कविता उन्मुक्त भाव-शृङ्खला अथवा अबाध्य प्रवाह के बावजूद अंग्रेज़ी को छूती नहीं जान पड़ती।

इस चमत्कार का कारण यह है कि छायावाद या उत्तर-छायावाद की संवेदना बातचीत की घनीभूत लय को पकड़ने की कोशिश ही नहीं करती। उन कवियों का स्रोत रोज़मर्रा का वह द्विभाषी वातावरण है ही नहीं जिसके वे उतने ही अभ्यस्त हैं जितने नये कवि। यदि वे भी बातचीत की लय को पकड़ने की कोशश करें तो तत्काल उनके सामने भी अंग्रेज़ी शब्द, मुहावरे और विचार-समुदाय अनाहूत प्रेतों की तरह नाचने लगेंगे और पृष्ठभूमि में उनकी गूँज उठने लगेगी। 'नये' कवियों के लिए यह पृष्ठभूमि समस्या इसी-लिए पैदा करती है कि वे अक्सर बातचीत को अधिक केन्द्रित, अधिक घनीभूत करके काव्य-लय में परिवर्तित करने की कोशिश करते हैं। हूबहू नहीं — अधिक केन्द्रित, अधिक घनीभूत करके। यह अन्तर महत्त्वपूर्ण है और अभि-व्यंजना की समस्या का मुख्य अंश है।

अन्तर महत्त्वपूर्ण है—क्योंकि द्विभाषी वातावरण का होना और उससे विवश हो जाना दो बातें हैं। लय को सघन करने वाली प्रक्रिया मूलतः तेज़ दबाव में काम करने वाली परिशोधन-क्रिया है जिसकी आँच में बहुत से अनावश्यक, अवरोधी तत्त्व गल कर समाहित हो जाते हैं। भाषा के लहजे में न सिर्फ़ निखार आ जाता है, बल्कि पूरी काव्यकृति में एक तरह की एक-तानता परिलक्षित होने लगती है। यदि यह प्रक्रिया सफल हुई तो उससे एक नतीजा यह भी होगा, या होना चाहिए कि अंग्रेज़ी शब्द और मुहावरे जो मूलतः उस केन्द्रित लय के अवरोधी तत्त्व हैं, गलकर तिरोहित हो जायेंगे। उनकी 'जगह' हिन्दी पर्याय या अनुवाद रखने का सवाल ही नहीं उठेगा। वे होंगे ही नहीं।

दुखती रग यह है कि शमशेर जब 'अनुवाद' या 'पर्याय' की बात करते हैं तो वह सृजनशीलता का हवाला नहीं दे रहे हैं, बकवास कर रहे हैं। सृजन के वास्तविक उन्मेष में अंग्रेज़ी प्रेतों का अनुवाद नहीं होता, उनका शमन हो जाता है।

छायावाद या उत्तर छायावाद को हम छोड़ भी दें, तो खुद अज्ञेय, शम-शेर या लक्ष्मीकान्त की ही अधिकांश कविताओं में इसके प्रमाण मिलेंगे जहाँ 'आधुनिक' मनोभूमि के बावजूद अंग्रेज़ी शब्दों का प्रवेश कलामाध्यम की घनीभूत, केन्द्रित अवस्था के कारण ही अकल्पनीय हो जाता है। कुछ उदा-हरण शमशेर की कविता से ही लें :

१. यह समंदर की पछाड़
   तोड़ती है हाड़ तट का

अति कठोर पहाड़
यह समंदर की पछाड़

—सागरतट

२. एक दरिया उमड़ कर पीले गुलाबों का
चूमता है बादलों के झिलमिलाते
स्वप्न जैसे पाँव

—पूर्णिमा का चाँद

३. अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में

—एक पीली शाम

४.···ज़रह बख़्तर मैं कबूतर के मजाक़-सी
कहाँ है मेरी प्रियतमा सेब के गूदे-सी उषकाश
मछलियों के गलफड़े-सी काँपती उत्सुक चाँद-
सी लाल नीली पीली ?

—एलेन गिन्स बर्ग के नाम

दूसरे कवियों से भी उदाहरण की भरमार की जा सकती है। मगर उससे कोई फ़ायदा नहीं है। अज्ञेय की कुछ नयी, कुछ पुरानी पंक्तियाँ विविधता के नाम पर उद्धृत करता हूँ :

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा

—दूर्वाचल (हरी घास पर क्षण भर)

कुहरे में जहाँ तहाँ लहराती-सी कोई
छाया जब तत्र दिख जाती है
उत्कण्ठा की ओक वही द्रव भर ओठों तक लाती है···
बिजली की जलती रेखा-सी
कण्ठ चीरती छाती तक खिच जाती है।
फिर प्यास और तरसती है,
फिर दीठ
धुन्ध में फाँक खोजने को टकटकी लगाती है
आतुरता हमें भुलाती है
कितनी लघु अंजली हमारी

कितनी गहरी धुन्ध ढँकी वापिका तुम्हारी ।

—चक्रान्त शिला–१० (आँगन के पार द्वार)

लक्ष्मीकान्त वर्मा का भी एक उद्धरण, बिलकुल दूसरे लहजे में दृष्टव्य है :

भर दो
इस त्वचा की, मृतात्मा की, सूखी ठाठर में
यह घास-पात, कूड़ा, कबाड़, सब कुछ भर दो
लगा दो इन नक़ली कौड़ियों की आँखें
मेरे माथे के नीचे गोलकों में लगा दो
कानों में सीपियाँ
खपाचियाँ पैरों में
तारकोल, नेप्थलीन की गोलियाँ भर दो
मेरी इस हृदयहीन, धमनीहीन, स्नायुहीन काया में
सब कुछ भर दो
ताकि मैं इस स्निग्ध पयमती माता के निकट
अपनी चेतनाहीन पूँछ को एक स्थिति में उठा
उसके वात्सल्य को, हृदय को, आकर्षण को, चेतना को
सबको उभार दूँ
और तुम इस मुर्दे के उपजाये स्नेह को निचोड़ कर
जीवित रहो
ज़िन्दा रहो…

—मृत आत्मा की वसीयत (नयी कविता–३)

ऐसे ही स्थलों पर भाषा में वह एकातानता, वह स्पन्दन, शक्ति उत्पन्न होती है जो छायावादोत्तर कविता की शिल्पगत उपलब्धि है। लय में एक आन्तरिकता है जिसका स्रोत वही बातचीत की घनीभूत लय है। यह मितभाषी, संयत लय छायावादी संवेदना से भिन्न है, लेकिन अपनी शुद्ध अवस्था में पहुँच कर हमें फिर वही आभास देती है—यहाँ अहिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दों का गुजर नहीं है। या तो अंग्रेज़ी शब्दों के घुसने से यह समर्थ सार्वभौमिकता, यह एकतानता नष्ट हो जाएगी या इस आन्तरिक उत्कर्ष से नीचे उतरने पर ही अंग्रेज़ी शब्दों के 'खपने' की प्रतीति होगी। इस काव्यभाषा के बग़ल में हम उन पंक्तियों को रखें जहाँ इन्हीं, या अन्य कवियों ने अहिन्दी-अंग्रेज़ी शब्द 'खपाये' हैं तो साफ़ दिखेगा कि थोड़े से अभिधार्थ के लोभ में काव्यशक्ति का काफ़ी महँगा सौदा किया गया है।

हिन्दी कविता में पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में जो विराट् परिवर्तन हुआ है, उसके पीछे यह गहरा अनुभव ही है कि आज के विशाल जीवन-सागर के उतार-चढ़ाव को, उसके प्रामाणिक अस्तित्व को, बातचीत की लय के माध्यम से ही पकड़ा जा सकता है। उस लय की तलाश ही अभिव्यक्ति की तलाश है। उसी के लिए भाषा के गठन को, उसकी प्रतीक-योजना को, शब्दावली को बदलने की ज़रूरत पड़ी है। ग़ुस्सा, खीझ, व्याकुलता, उल्लास, घबराहट, भेड़िया धसान, सन्तुलन अथवा आत्मसंयम के विविध मनोयोगों से भावनाओं और विचारों के इन अभूतपूर्व संपुजों को भाषा की उछाल में पकड़ कर, हस्तामलकवत् करने की कोशिश होती रही है। कहाँ तक और कौन-कौन से कवि इस अधिक जटिल, अधिक अन्तस्सम्बद्ध स्तर को अधिकृत कर सके हैं और कहाँ तक वे टटोलते रह गये हैं, यह अलग इतिहास है। लेकिन आधुनिक जीवन की यह चुनौती हिन्दुस्तान के लिए और हिन्दुस्तान के सृजनात्मक लेखन के लिए न सिर्फ़ प्रामाणिक है, बल्कि आवश्यक भी, इससे इन्कार करना मूर्खता है। तलाश होनी चाहिए, मेरी आपत्ति उस काहिली और कायरता के विरुद्ध है जो इस तलाश को अधूरा छोड़ देती है; यह नहीं है कि अंग्रेज़ी से बचने के लिए हम छायावादी संवेदना, या छायावादी लय या उर्दू ग़ज़ल की ओर लौट जाएँ। सवाल यह है कि हम घनीभूत एकतानता, और फैलते हुए स्वर-संधान के द्वारा आधुनिक जीवन की इस नयी गति से हिल्लोलित अबूझ सागर को अधिकृत करें, या हताश शब्दावली और अस्फुट आह-आह के साथ किनारे छटपटाते रह जाएँ।

जब कवि कलामाध्यम से हताश हो कर अंग्रेज़ी शब्दावली का पल्ला पकड़ता है, तब वह संदर्भ पर हावी नहीं होता, संदर्भ उस पर हावी हो जाता है। छायावादी मानस ने भावनाओं को सांस्कृतिकता में लपेट कर उदात्त बनाया; आज का कवि भावनाओं को दिगम्बर, अनावृत्त, स्वयं में वे जैसी हैं, सीधा वैसा ही देखना चाहता है। छायावादी मानस ने भारतीयता की विशिष्ट कोटि की तलाश की जिसमें वह अथक साधना के साथ विसर्जित होने की कोशिश करता रहा। उसकी सबसे बड़ी तमन्ना थी कि वह सच्चे अर्थों में भारतीय हो सके। आज का कवि अपने को भारतीय मान कर तो चलता ही है, सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न भारत का नागरिक जैसा वह है, उसके बाहर क्या भारतीयता होगी ? छायावादी मानस परम्परा की तलाश में रीतियों, रूढ़ियों, रिवाज़ों को तोड़ता, लाँघता उन वचनों तक पहुँचा जो उसे वेदों, उपनिषदों, दर्शनों से मिले थे। आज का कवि अपने को उस जगह महसूस करना चाहता है जहाँ उन वचनों के भी पहले उनके सृजन के क्षण में,

परम्परा-पूर्व के ऋषि खड़े थे। क्या वह भी उन्हीं की तरह बिलकुल अंधकार, नितान्त परम्पराहीनता में खड़ा होकर सृजन कर सकता है? छायावादी मानस की सबसे बड़ी आकांक्षा थी भारतीय सत्य को अनुभूत करने की; आज का कवि केवल सत्य, अनलंकृत, दिगम्बर, आवरणहीन, बर्बर सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है। सृजन के क्षण में वह नितान्त अकेला है। न उसके पास परम्पराएँ हैं, न संस्कार हैं, न संस्कृति है, न भारतीयता है। ये सब बाद में आती हैं। आज की अभूतपूर्व अवस्था में ये सब सहायता नहीं करतीं। सुजाता की खीर की तरह ये उसकी सहायता को तभी आती हैं जब उसके सब कुछ का निषेध करने वाली मर्मान्तिक तपश्चर्या पूरी हो जाती है।

यह मामूली दावा नहीं है और इसका अनुभव करना ही एक बहुत बड़े दायित्व से भर जाना है, कविकर्म की विराटता और गम्भीरता को महसूस करना है। इस निपट अकेलेपन में, इस महाशून्य में यदि उनके पास कोई सम्बल है तो वह हिन्दी भाषा है। इसी औज़ार से वह नये सिरे से बुनियादें डालने की अनुभूति झेलना चाहता है। यदि इस भाषा के सामर्थ्य से ही उसकी आस्था डिग गयी तो वह किसके सहारे खड़ा हो सकेगा? किस बिरते पर इतनी बड़ी महत्त्वाकांक्षी का दम भरेगा? इसके पहले कि वैदिक ऋषियों ने मंत्र देखे, उन्हें उस अटूट ओतप्रोत विश्वास का बोध हुआ होगा कि जो भाषा उनके पास है, उसमें वे मंत्र देखे जा सकते हैं—अविकल, अविकृत, सम्पूर्ण।

जिनके लिए इस नयी लय की तलाश, अभिव्यक्ति या सृजन—जो भी आप कह लें—सिर्फ़ एक सामयिक शौक़ है, उनके लिए यह अन्तर महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनसे बहस भी नहीं है। लेकिन जिनके लिए कविता की यह भंगिमा यथार्थ को व्यवस्थित करने और आत्मसात् करने की जीवन्त प्रक्रिया है—शमशेर के ही अनुसार 'शब्द से रक्त निचोड़ने का प्रयत्न एक जीवन है', स्वयं उनके लिए इस परिशोधन करने वाली आँच से निकल भागने का रास्ता कहाँ है? गहरे अर्थ में आज के जीवन के स्पन्दन की तलाश भाषा के भीतर से निचुड़ते हुए रक्त की तलाश है, क्योंकि आज के कवि का सत्य यथार्थ के बाहर किसी लोकोत्तर अदृश्य में नहीं, यथार्थ के भीतर अन्तर्भुक्त संचार की तरह अनुभूत होता है। छायावादी काव्य की आरोपित लय, यथार्थ पर आरोपित सत्य की ही तरह भाषा को अनुशासित करती रही। इससे उनका काम चल गया। लेकिन आज के काव्य-शिल्प में व्यवहार में आती हुई भाषा की अन्तर्भुक्त लय को, यथार्थ में अन्तःसंचरित सत्य से जोड़ना ही मुख्य उद्देश्य

है। बातचीत की घनीभूत लय अनुभूति की इसी शर्त के साथ हमारे लिए उपयोगी है। मैं समझता हूँ, यहाँ शमशेर में और मुझमें कोई मतभेद न होगा।

शब्द के भीतर से निचुड़े हुए रक्त की प्रकृति को आत्मसात् कर लेने के बाद यह स्पष्टतः दिखना चाहिए कि इधर-उधर उतराये हुए अहिन्दी-अंग्रेज़ी शब्द उस रक्त की द्रवता के अंश नहीं हैं, बल्कि अद्रवणशील तत्त्व हैं जो काहिली या असावधानी के कारण आ गये हैं जिस तरह नीबू से रस निचोड़ने में छिलके और गूदे के जर्रे भी आ जाते हैं। अभी और छानने की जरूरत है। यह उपमा कुछ बेढंगी है; क्योंकि वास्तविक शिल्प-प्रक्रिया में निचोड़ना और छानना अलग-अलग नहीं होता—भबके की तरह दोनों एक ही क्रिया में सम्पन्न होता है।

शमशेर का दूसरा तर्क है सद्यःअभिव्यक्त उन्मुक्त भाव-श्रृंखला का। मोटे तौर पर इसका आशय यह है कि सृजन-प्रक्रिया में एक तरह का बेरोक भाव-प्रवाह होता है। शब्द अवतरित होते चले आते हैं। चूँकि कवि द्विभाषी है, इसलिए भाव में लिपटे हुए अंग्रेज़ी शब्द भी आ जाते हैं। अगर अभिव्यक्ति की ताज़गी और सच्चाई बनाये रखना है, तो बाध्य हो कर इन शब्दों को स्वीकार करना होगा। उनसे कतराना या उन्हें बदलने की कोशिश करना बेरोक व्यक्तिगत उद्‌भावनाओं में ज़बरदस्ती दखल देना है, और स्वतःस्फूर्त अनुभूति को बनावटी जामा पहनाना है। सृजन-प्रक्रिया की यह चुसी हुई रोमांटिक धारणा बकवास नम्बर दो है।

अगर हम मान भी लें कि भाषा के ये संकर प्रयोग आज के द्विभाषी वातावरण में स्वतःस्फूर्त प्रवाह की तरह अवतरित होते हैं तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि फिर इसके उदाहरण इतने विरल क्यों हैं? आज के हिन्दी कवि अगर इसकी साक्षी दें कि कितनी बार आवेश में उन्होने कई पंक्तियाँ अंग्रेज़ी में लिख डालीं तो इस 'सृजनात्मक प्रवाह' पर दिलचस्प रोशनी पड़ सकती है। ज़्यादातर तो इस विषय में चुप्पी ही है।

द्विभाषी बातचीत में जो अंग्रेज़ी फेन आ जाता है, उसका अनुपात तो निश्चय ही कविता के इक्के-दुक्के शब्दों से ज्यादा है। रचना के क्षेत्र में भी कुछ संकेत मिलते हैं जिनसे लगता है कि इन अंग्रेज़ी हिम-टापुओं का ज़्यादा हिस्सा पानी के भीतर है। काफ़ी पहले, दस-बारह वर्ष हुए, मुझे ख़याल आता है कि शमशेर ने मुझसे बतलाया था कि उनके पास कई कविताएँ पड़ी हैं जो आधी हिन्दी में हैं, आधी अंग्रेज़ी में। एक समय में उन्होंने ढेरों कविताएँ समूची अंग्रेजी में लिखी थीं जो अब तक अप्रकाशित हैं। अज्ञेय

की आरम्भिक कविताएँ अंग्रेज़ी में हैं और प्रकाशित भी हैं। उन्होंने अपने एक लेख में ('अरे यायावर रहेगा याद', पृ० १५५) यह संकेत दिया है कि 'शेखर : एक जीवनी' का प्रारूप अंग्रेज़ी में लिखा गया था। इन संकेतों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि कविताओं, विशेषतः बातचीत की लय को सघन बनाने वाली कविताओं में, पूरी की पूरी अंग्रेज़ी पंक्तियों के बह आने का अनुभव कवियों को होगा। लेकिन स्वतःस्फूर्त प्रवाह के नाम पर आधी हिन्दी-आधी अंग्रेज़ी कविता को कलाकृति मान कर प्रकाशित करना तो दरकिनार, मेरी समझ में शमशेर और लक्ष्मीकान्त जी इसे सृजनात्मक प्रक्रिया का खण्डित हो जाना ही मानेंगे। अगर यह अनुमान ग़लत भी हो, तो भी सिद्धान्ततः यह सवाल तो बना ही रहेगा—क्या ऐसी नृसिंह-रूपिणी कविता को गम्भीरतापूर्वक कलाकृति मानना सम्भव है?

कहा जा सकता है कि ऐसे अतिवादी उदाहरण नहीं मिलते। यदि अंग्रेज़ी शब्द 'उचित अनुपात' में हों—शमशेर के शब्दों में 'कम से कम' हों और 'भाव में लिपटे हुए' हों—तो ऐसी कविता को नृसिंह-रूपिणी नहीं कहा जा सकता। लेकिन भाव-शृंखला को एक बार 'उन्मुक्त' और 'सद्यः अभिव्यक्त' मान लेने पर यह 'कम से कम' वाली औचित्यवादी बेड़ियाँ उसके पैरों में पहनायी कैसे जाएँगी? प्रवाह की अबाध्यता, अनायासता कहाँ रह जाएगी? जब तक कि हम 'औचित्य' की मर्यादा को भी सृजनात्मक प्रक्रिया का एक और, किन्तु विपरीत दिशा में काम करने वाला, अबाध्य प्रवाह मानने का भँवरजाल न पैदा करें। तब हम देखेंगे कि कवि के मानस में मल्लयुद्ध करते हुए दो अदद अबाध्य, दुर्निवार प्रवाह हैं जो एक-दूसरे को बाधित करते हैं, एक-दूसरे का निवारण करते हैं।

वास्तविकता यह है कि यदि हम उन्मुक्त प्रवाह को दिमाग़ी गति का कम से कम रुकावट वाला पंथ मानें, तो यह कल्पना सृजनशीलता के लिए न सिर्फ़ निरर्थक साबित होती है, बल्कि एक तरह से घातक भी। दिमाग़ी गति का कम से कम रुकावट वाला पंथ मूलतः परिपाटी और प्रचलित लीक का रास्ता है। सृजनशीलता इस आसान रास्ते को छोड़ कर नये रास्ते तैयार करती है जो शब्दों को परिपाटीग्रस्त अभिव्यक्ति और बाज़ारू अभिव्यक्ति, इन दोनों ख़तरों से बचा कर जीवित अभिव्यक्ति बनाती है। इसीलिए वह सृजनशीलता है। इस स्तर पर कविकर्म अपने को एक नशीली बेबसी के साथ सुखद, मुलायम-मुलायम बहाव में निष्क्रिय छोड़ देना नहीं है, बल्कि हर क़दम पर सक्रिय हो कर, जानबूझ कर चुनाव करना है। उन्मुक्त भाव-शृंखला सृजन की पूर्व अवस्था नहीं है। वही तो वह

कृति है जिसका सृजन किया जाता है। इस सृजन में काहिली और कायरता के लिए कोई स्थान नहीं है।

शमशेर की दिमाग़ी काहिली पर इसलिए और भी अफ़सोस होता है कि आधुनिक हिन्दी कविता में महादेवी के बाद शमशेर के अतिरिक्त शब्दों से इतना रक़ीक़, इतना महीन, साबुन के बुलबुले की तरह झिलमिलाता और पारदर्शी रक्त निचोड़ने का काम और किसने किया है ? यहां तक कि जिस तरह महादेवी ने कविताएँ न लिखकर, लगता है एक ही कविता बार-बार लिखी है, वैसे बारम्बार एक ही कविता लिखते चले जा रहे हैं। सारे-शब्द गलगल कर पारदर्शी होते चले जा रहे हैं और उनकी बारीक सतह के पीछे सिर्फ़ एक 'बादल रेखा पर टिका हुआ आसमान' झाँकता रहता है।

इस प्रश्न पर हमने लेखक की सृजनात्मक प्रक्रिया और अभिव्यंजना की समस्या की दृष्टि से विचार किया। इस पर हम बाहर से, पाठक की दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। इलियट की विख्यात 'वेस्ट लैण्ड' नामक कविता में अन्त में कुछ संस्कृत शब्द आये हैं, जैसा सब जानते हैं। इस सम्बन्ध में उस कविता की रचना के लगभग चालीस वर्ष बाद, १९६० में प्रकाशित, प्रसिद्ध आलोचक प्रोफ़ेसर डेविड डेशेज़ के मत को उद्धृत करना रोचक होगा :

"...On the whole, the Waste Land does open up as poetry if we come to it with the explanations of the explicators, but there are passages in it that do not, such as the conclusion, which remains an incoherent collection of phrases and quotations while the Sanskrit blessing at the end ('Shantih, Shantih, Shantih') has no poetic force because we cannot read back Eliot's explanation into it with any conviction : for all we know the words might mean anything at all, or any other words might have the meaning Eliot says they have."

—A Critical History of English Literature, p. 1125

"...अगर हम व्याख्याकारों की व्याख्याओं समेत आयें तो 'वेस्ट लैण्ड' की कविता का दरवाज़ा खुलता ज़रूर है, लेकिन उसमें ऐसे अंश भी हैं जो नहीं खुलते, जैसे उसका उपसंहार, जो उक्तियों और उद्धरणों का असम्बद्ध संकलन बन कर रह गया है, और अन्त वाला संस्कृत आशीर्वचन ('शान्तिः, शान्तिः शान्तिः') में तो कोई काव्यगत शक्ति नहीं है, क्योंकि हम पक्के विश्वास से इलियट की व्याख्या को इसमें पढ़ नहीं पाते। हमारे लिए तो उन शब्दों के कोई भी अर्थ हो सकते हैं, या किन्हीं भी शब्दों के वे अर्थ हो सकते हैं जो इलियट बतलाते हैं।"

—ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर, पृ० ११२५

प्रो० डेशेज़ की यह आपत्ति अकेली नहीं है। और अंग्रेज़ आलोचकों ने भी यह बात कही है। राजनीतिक कारणों से जो लोग अंग्रेज़ी की तथाकथित सर्वग्राही उदारता का ढिंढोरा पीटते हैं और 'हिन्दी वालों' की संकुचित कट्टरता पर दिन-रात हितोपदेश रचते हैं, उनकी बेहूदगी की ओर हम ध्यान न भी दें, तो भी तो डेशेज़ अपनी भाषा के सन्दर्भ में साधारणीकरण और उसमें रुकावट का प्रश्न उठा रहे हैं, इतना तो स्पष्ट ही है। मेरा आशय यह नहीं है कि चूँकि अँग्रेज़ों ने अपनी भाषा में हमारे शब्दों के दूतावास बन्द कर दिये हैं इसलिए हम भी तुर्की-ब-तुर्की नीति अख़्तियार करें। यों यह तर्क बुरा नहीं है, लेकिन एक तरह से साधारणीकरण की यह समस्या हमारे लिए भी खड़ी होती है।

'एक तरह से'—क्योंकि मैं अगर चाहूँ भी तो शमशेर या लक्ष्मीकान्त द्वारा प्रस्तुत अंग्रेज़ी शब्दों के प्रति अपना नितान्त अज्ञान प्रदर्शित करने का सुख नहीं उठा सकता, जो प्रो० डेशेज़ को सहज उपलब्ध है और इलियट की तमाम व्याख्याओं के बावजूद दर छोड़ने का नाम नहीं लेता। यों मैं शमशेर का आभारी हूँ कि कम से कम एक जगह उन्होंने मुझे प्रो० डेशेज़ जैसा अज्ञान-सुख उठाने का अवसर दिया। उनकी गिन्सबर्ग कविताओं में एक जगह आता है 'क्रिसक्रास फोटोप्लास्ट'। यह 'फोटोप्लास्ट' क्या बला है? फिर भी मैं यह माने लेता हूँ कि मेरी तरह के बहुत से पाठक हैं जो अंग्रेज़ी शब्द तो क्या, ऊपर उद्धृत प्रो० डेशेज़ का पूरा गद्यांश बिना अनुवाद के समझ जाएँगे। व्यवहारतः यह भी कहा जा सकता है कि आज की कविता विशेषतः लक्ष्मीकान्त या शमशेर जैसे कवियों की कविता के पाठक ज़्यादतर इसी वर्ग के हैं। लेकिन इन तमाम व्यावहारिक स्थितियों के बावजूद साधारणीकरण की समस्या का समाधान नहीं होता, क्योंकि काव्य-प्रभाव का मतलब सिर्फ़ अभिधार्थ समझ लेना नहीं होता। कविता हमारे भीतर किसी न किसी चीज़ का उद्रेक करती है—चाहे हम उसे रस कहें, मनःस्थिति कहें, सौन्दर्य-बोध कहें या मूल्यों का परिप्रेक्ष्य कहें।

एक तो इन 'व्यावहारिक पाठकों' के अलावा वर्तमान और भविष्य के ऐसे हिन्दी पाठक हैं जिनकी दशा अंग्रेज़ी के प्रति वैसी ही है जैसी प्रो० डेशेज़ की संस्कृत के प्रति। ऐसे पाठकों को 'नगण्य' कहकर उठा दिया जाय या नहीं--यह नैतिक ही नहीं, साहित्यिक प्रश्न भी है। मैं उनकी उपेक्षा का कोई कारण नहीं देखता। अंग्रेज़ी से अपरिचित पाठक के लिए टिप्पणियाँ या व्याख्याएँ क्या उस 'काव्य-शक्ति' का दरवाज़ा खोल सकेंगी जिसका बन्द होना 'वेस्ट-लैण्ड' में प्रो० डेशेज़ को खटकता है।

लेकिन अंग्रेज़ी जानने वाले पाठकों में भी एक ऐसा वर्ग होगा जो अंग्रेज़ी प्रयोगों की 'काव्य-शक्ति' से वंचित रह जाएगा—वह वर्ग जिसका अग्रेज़ी से कुछ ज्यादा घना संपर्क है। यह विडम्बना अधिक गहरी है। 'वेस्ट लैण्ड' में प्रयुक्त 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' के चमत्कार की असमर्थता सिर्फ़ प्रो० डेशेज़ को नहीं खटकती, उन्हें भी खटकेगी जिनके लिए संस्कृत भाषा और भारत रहस्यमय, अर्ध-परिचित 'ओरियेन्ट' नहीं हैं, बल्कि दिन-रात के जीवित यथार्थ हैं। उनके लिए भी इन शब्दों की परिचित व्यंजना से बचना कठिन होगा। शान्ति की आवृत्ति में जिस प्रकार का शमन परिचित हैं, वैसा शमन 'वेस्ट लैण्ड' के अन्त में नहीं होता।

शमशेर की गिन्सबर्ग कविताओं में एक कविता की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं : "आख़िर/एक 'मूवमेन्ट'/आसमान का खुलापन···"। इस सम्बन्ध में शमशेर की व्याख्या यों है : "मसलन् 'मूवमेंट' शब्द पश्चिमी संगीत, पद्य और छन्द की गति, नाटक अथवा कथा की प्रगति का भाव व्यक्त करता है। इस शब्द के आते ही स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भाव-संदर्भ ही विदेशी (पश्चिमी) है।" इससे अधिक बनावटी व्याख्या नहीं हो सकती। शमशेर का ख़याल है कि जैसे एक ज़माने में 'चमक' कहते ही गुप्तकाल का, 'जाम' कहते ही मुग़लकाल का भाव-सन्दर्भ माना जाता था, वैसे ही अंग्रेज़ी 'मूवमेन्ट' आते ही भाव-सन्दर्भ पश्चिमी हो जाएगा। जिसे 'मूवमेन्ट' शब्द के हज़ारों घिसे-पिटे उपयोगों से काम पड़ता रहता है, और ऐसे लोग काफ़ी होंगे, उसे व्याख्यायित विदेशी भाव-सन्दर्भ की 'स्पष्टता' पर उतना ही अचम्भा होगा जितना यह याद दिलाने पर कि इस शब्द से दिमाग़ में उस 'गति' या 'प्रगति' की तसवीर बननी चाहिए जो पश्चिमी संगीत, पद्य, छंद, नाटक और कथा में परिलक्षित होती है। सत्य यह है कि हिन्दी में उपलब्ध गति, संचरण, आन्दोलन, वेग, आवेग, चाल, हरकत, तहरीक···आदि शब्दों का मजमूआ इस शब्द 'मूवमेन्ट' में है। मेरा यह काम नहीं कि शमशेर की पंक्ति या शब्दों के लिए हिन्दी इसलाह प्रस्तुत करूँ। (यों कविता छपवाने के पहले शमशेर चाहते तो इसलाह करने में कोई मुज़ायका नहीं था। मैं न सही, कोई और हिन्दी कवि जिसे शमशेर इस तरह मानते जिस तरह ईलियट ने पाउण्ड को माना था।) मैं केवल यह दिखलाना चाहता हूँ कि शमशेर की व्याख्या में अभिप्रेत 'काव्य-शक्ति' का आस्वादन करने के लिए पाठक का अंग्रेज़ी से अर्ध-परिचित होना ज़रूरी है। वरना लगता तो यह है कि कविता का भाव-सन्दर्भ विदेशी नहीं है, कवि का भाव-सन्दर्भ अंग्रेज़ी-ग्रस्त है। यह भी ख़ाहमख़ाह।

इसी तरह एक जगह 'आर्ट' शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर देता हूँ क्योंकि इनमें दो और अंग्रेज़ी शब्द हैं जो विचारणीय हैं :

प्रवाह
'डल' है कहीं, इस युग का।
कहीं 'जेट' है अपने कसे रौ में एक लकीर : अतः मैं कभी ;
खण्डित समाधि मूर्ति की सप्तम शताब्दी की;
कभी अस्सीवीं शताब्दी में
एक मानव जहाँ
मातृभाषाएँ सभी मेरी हैं सहज
स्वर संगीत-सी अति समृद्ध अनुपम विलक्षण,
क्रोध हिंसा घृणा हास्य-रस के उपादान,
'आर्ट' का मांगलिक हास्य-व्यंग्य : जिसे
प्राचीन युग बीसवीं ईसवी शती का--
जानता ही नहीं था...

फ़ौरन सूझने वाले हिन्दी शब्द 'कला' की जगह पार्थक्य-चिह्नों से विशिष्ट 'आर्ट' के प्रयोग के पीछे भी शायद यही तर्क है कि 'आर्ट' कहते ही भाव-संदर्भ विदेशी माना जाए। इसके विपरीत अंग्रेज़ी से परिचित व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है? 'आर्ट' शब्द का अर्थ-संकोच हो जाता है। जिस अर्थ में कबीर या डिकेन्स की कला 'आर्ट' नहीं है, बिहारीलाल और टेनीसन की कला 'आर्ट' है। भावसन्दर्भ विदेशी न होकर 'आर्टिस्टिक' हो जाता है। इसे हम हिन्दुस्तानी-अंग्रेज़ी सन्दर्भ में देखें तो एक और अतिरिक्त व्यंजना निकलती है : सामाजिक रुतबेबाज़ी की। जैसे बात 'आर्ट' की की जा रही है--वह जो हिन्दी की कला-फला है, उसकी नहीं। 'आफ़ कोर्स, वी आ' टॉकिंग अव आर्ट, नॉट दैट रबिश दैट गोज़ बाइ द नेम अव 'कला' ऐण्ड आल दैट।' अंग्रेज़ी शब्दों को रुतबेबाज़ी वाली व्यंजना का ही यह मनोरंजक परिणाम है कि जिस दर्ज़ी को ज़रा तरक़्क़ी की हवा लगी, वह फ़ौरन 'टेलर' हो जाता है। यह शाब्दिक गोरखधन्धा ही 'कला' को दर्ज़ी का और 'आर्ट' को टेलर का रुतबा प्रदान करता है।

पिष्टपेषण का ख़तरा उठाकर भी मैं बार-बार यह कहना चाहूँगा कि ये अतिरिक्त व्यंजनाएँ इसी कारण उठती हैं कि कलामाध्यम हिन्दी है और उसके बीच में अंग्रेज़ी शब्द सिलवटें डालकर 'खपाये' गये हैं। नतीजा यह है कि सम्भव और असम्भव हिन्दी शब्द परित्यक्त पत्नी की तरह आसपास मुहल्ले

भर में मँडराता रहता है—'हमको नहीं लिया गया, हमको नहीं लिया गया ?'

कठिनाई यह है कि शमशेर समझते हैं कि अंग्रेज़ी शब्दों को भी भावों में लपेटने के लिए वे उसी तरह आज़ाद हैं जिस तरह हिन्दी के शब्दों को; इस तरह कि वे अतिरिक्त व्यंजनाएँ न उत्पन्न करें। इस कविताओं के सामान्य प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "पूरी कविता में पश्चिमी और पूर्वी सांस्कृतिक और कलात्मक मानमूल्यों को एक-दूसरे के आमने-सामने रखा गया है। दोनों के समान तत्त्व एक-दूसरे के निकटतर आते जाते हैं, कहीं-कहीं मानो एक-दूसरे में समोने के लिए— दृश्यचित्र तक में। इसीलिए दूसरे शब्द भी आये हैं—फ्रेश, डल आदि।" इस व्याख्या से ऐसा लगता है कि ये कविताएँ नहीं, सांस्कृतिक निबन्ध हैं ? सौभाग्य से ये कविताएँ ही हैं और ख़ासी अच्छी कविताएँ हैं। लेकिन अंग्रेज़ी और हिन्दी शब्द दो मानमूल्यों का आमने-सामने रखने का काम करते हैं, यह महज़ काहली की दलील है। अगर हिन्दी शब्द पूर्वी मानमूल्यों और अंग्रेज़ी शब्द पश्चिमी मानमूल्यों की अभिव्यक्ति करेंगे तो दोनों को समोने का काम कौन-सी भाषा करेगी ? वह तीसरा सार्वभौम माध्यम कौन-सा होगा जिसमें कविता का अस्तित्व होगा ? अनुभूति की वह एकतान समग्रता कहाँ होगी जिसके द्वारा नहीं, जिसके भीतर ये आमने-सामने रंगारंग प्रतिबिम्ब अभिव्यक्त होंगे ? अगर जहाँगीर और पंडितराज सिर्फ़ फ़ारसी और संस्कृत बोलेंगे तो नाटक किस भाषा में होगा ?

शमशेर जो कहना चाहते हैं, पूरी काव्य-शक्ति के साथ उसकी अभिव्यक्ति इन कविताओं में उन स्थलों पर होती है। अंग्रेज़ी शब्द जहाँ कुछ नहीं जोड़ते। इन पंक्तियों को देखिए :

शुरू ख़िज़ाँ की सुलगती लाल दाढ़ी
दाँत नीले-काले-उजले इशारों की चमक मन्द करते
गाँजे का धुआँ, एग़लाम की बास जाल्ट ह्विट्मन
यांकी का
[समुद्रतट बहुमूल्य निरुद्देश्य
झम्मझ्यायँ, झम्मझ्यायँ झम्म...
नेरूदा लोर्का सुर्रियलिज़्म के इशारे मीनार राख
के सुतून गुल्नार
क़ीमती पत्थरों की झलक चक़माक़ के स्फुलिंग
हृदयों में

लहर बिजलियों की योनिविमुख सूचियों की तीव्र
आसक्ति
मन्दिर कहाँ हैं स्वस्थ मन्दिर ओ नये कवि
आत्मा के ह-ह-ह-ह एक सूखी टहनी पर बुन्दिका
किरण का एक क्षण
शब्द से रक्त निचोड़ने का प्रयत्न एक जीवन है स्वयं
एक युग एक क्षण है वह वह
रेत संगम की लीले हुए एक नरसंहार की स्मृति
का शाप मंत्र—
कहाँ है वह क़ीमती जीवन में सौन्दर्य का ताप
निर्मल आज···

जिस समोने की बात शमशेर कहते हैं, वह इन पंक्तियों में दिखती है : 'प्रवाह डल है इस युग का' या 'फ्रेश व्योम' या 'आख़िर एक मूवमेन्ट' जैसे शाब्दिक गोरखधन्धों में नहीं। इन पंक्तियों में भी 'सुर्रियलिज़्म के इशारे' ही सबसे भोथरी उक्ति है। यह भी शायद अंग्रेज़ी शब्द होने के कारण नहीं, बल्कि कसी हुई बिम्ब-शृखला में एकमात्र विचारोक्ति अथवा प्रत्यय होने के कारण। फिर भी मन में यह बात ज़रूर आती है कि अंग्रेज़ी शब्दों के माध्यम से 'पश्चिमी मानमूल्यों' की एक बिलकुल असम्भव अभिव्यक्ति की ज़िद शमशेर के मन में न होती तो वह शायद इस विचारोक्ति के छलावे में न पड़ते और भोथरापन न पैदा होता। भाषा का प्रसार यहाँ भी किसी बिम्ब की ही सृष्टि करता। मगर काहिली का क्या इलाज है ?

अगर हम अतिरिक्त व्यंजनाओं को भुला कर, एक बार मान भी लेना चाहें कि 'आर्ट' में फ्लोबेयर; और 'मांगलिक' में तुलसीदास हैं, और इस प्रकार 'आर्ट के मांगलिक हास्य-व्यंग्य' में वे दोनों आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरे में समोने लगते हैं, और इसीलिए यह बात 'कला का मांगलिक हास्य-व्यंग्य' कहने से नहीं पैदा होती, तो भी यह सारी तर्कना बीजगणित की भाँति अमूर्त प्रतीकों की ही तरह रह जाएगी। बिना शब्दों के आन्तरिक सम्बन्ध में एकतान हुए यह पूरी उक्ति बक़ौल 'अपने यहाँ' के व्यंग्यार्थ का व्यंजक कैसे होगी, बक़ोल इलियट के भाव का 'आब्जेक्टिव कौ-रिलेटिव' यानी भाव का वस्तुपरक आलम्बन कैसे बनेगी ? सच यह है कि इन कविताओं में 'मूवमेन्ट', 'आर्ट', 'डल' 'फ्रेश' जैसे शब्दों की काव्यशक्ति का आस्वादन (यदि इनमें कोई काव्यशक्ति है तो) वे ही पाठक कर सकते हैं जिनका अंग्रेज़ी से न तो अपरिचय है, न घना परिचय। ऐसे ही पाठकों को 'फ्रेश

व्योम' ताज़े आसमान से कुछ ज्यादा ताज़ा लगेगा और 'डल प्रवाह' में कवि का काव्य-प्रवाह नहीं, सचमुच युग का ही प्रवाह 'डल' दिखाई देगा। शेष के लिए तो ये शब्द सागर के किनारे छटपटाहट ही तक सीमित रह जाते हैं।

इन कविताओं में 'जेट' और 'स्लाइस' शब्द भी आये हैं। इनको हिन्दी-अंग्रेज़ी मान लेना सम्भव है। अगर इनमें कुछ आपत्तिजनक है तो इतना ही कि इन्हें पार्थक्य-चिह्नों में रखने की क्या जरूरत थी। फिर भी एक रोचक पहलू की ओर संकेत करूँगा। 'स्लाइस' शब्द हिन्दी समाज में डबलरोटी के अनसिके टुकड़े का आशय व्यक्त करता है। इसी अर्थ में शमशेर ने इसका प्रयोग भी किया है। 'एक साफ़-सुथरे सूर्योदय का स्लाइस तुम मेरे लिए/ओ मेरी मोना बचा ही लेती हो न जाने कैसे/' अंग्रेज़ी में 'स्लाइस' का अर्थ तराशे हुए कतरे भर का ही है। डबलरोटी के लिए पूरा 'स्लाइस आव ब्रेड' कहा जाता है। सिर्फ़ 'स्लाइस' माँगने पर अंग्रेज कभी नहीं समझेगा कि आप रोटी का कतरा चाहते हैं, या गोश्त का या ज़िन्दगी का। यहाँ भी अंग्रेज़ी का घना परिचय 'स्लाइस' का अर्थ ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न करता है। शुद्ध अंग्रेज़ी स्लाइस के हिसाब से मतलब सपाट 'सूर्योदय का कतरा' हो जाएगा, जबकि काव्यशक्ति उस बिम्ब में है जो यहाँ सूर्योदय और सुबह के डबलरोटी के टुकड़े को परस्पर आरोपित करने से उत्पन्न होता है।

मैंने लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता 'अक्ल का दाँत' का ज़िक्र किया है। इसमें अंग्रेज़ी शब्दों की एक और अतिरिक्त व्यंजना साधारणीकरण में बाधक हो जाती है। वस्तुतः यह पहलू और स्थानों पर भी मिलेगा जहाँ अंग्रेज़ी शब्द प्रयुक्त होते हैं—विशेषतः विवेचनात्मक लेखों में। कविता यों है :

पिछली रात
सहसा अक्ल के दाँत ने अपना सिर उठाया
नींद ख़त्म हो गयी :
करवट बदलने से भी
आराम नहीं लिया :
लगता जैसे बुख़ार है
जीर्ण ज्वर
फफड़े भी ख़राब हैं
सोचता हूँ
बेदर्दी के साथ
फ़ाइल्स के पिन चुभोने में
काश कि मैं तनिक स्नेह दिखाता—

तो शायद यह दर्द इतना तेज़ न होता ।
लेकिन जब डाक्टर ने लक्षण पूछा,
तो यह बताया
अक्सर किसी की याद
आने पर भी
दाँतों में दर्द बढ़ जाता है ।
(आबसेशन)
चाहे दिल में हो
या दिमाग़ में
हड्डियों में छिपता है
हर दर्द बड़ा फ़िज़िकल-सा होता है
याद एक आबसेशन है
आइए'''दाँत निकाल दूँ
यह अक्ल का दाँत अक्सर बड़ी तकलीफ़ देता है ।

'आबसेशन' और 'फ़िज़िकल'—अभिधार्थ में दोनों अंग्रेज़ी शब्द खपे हुए हैं। लेकिन लहजे में एक तरह की बाज़ारू बौद्धिकता है जो कथ्य में उद्दिष्ट गम्भीरता और व्यंग्य को पूरी शक्ति के साथ थपेड़े मारने से रोकती है ।

'पिछली रात/सहसा अक्ल के दाँत ने अपना सिर उठाया' इस वाक्य में एक दुहरी अर्थ-व्यंजकता है जो शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर अभिव्यंजित होती है, जो उक्ति को व्यंग्यात्मक गम्भीरता देती है। चूँकि बात यों-ही-से लहजे में कही गयी है, अतः लहजे और अर्थ में तनाव की स्थिति है, जो व्यंग्य को भावुकतापूर्ण होने से बचाती है। आगे की पंक्तियाँ कुल मिला कर इसी लय को बढ़ाती हैं और 'अक्सर किसी की याद/आने पर भी/दाँतों में दर्द बढ़ जाता है'—इस ऊपर से बिलकुल झूठ और निरर्थक लगने वाले वाक्य को वह काव्यात्मक शक्ति प्रदान करती है जिसे काव्य-सत्य कहा जाता है। लगता है कि डाक्टर को सरासर झूठ नहीं बतलाया जा रहा है, बल्कि बात एक ख़ास अर्थ में सच है। फिर भी 'बेदर्दी के साथ/फ़ाइल्स के पिन चुभोने में/काश कि मैं तनिक स्नेह दिखाता' ये पंक्तियाँ उस दुहरी व्यंजकता का निर्वाह नहीं कर पात और इसीलिए बात ज़रूरत से ज़्यादा भावुकता पूर्ण हो जाती है। शायद यह कमज़ोरी भी 'फाइल्स' और 'पिन' के अंग्रेज़ी शब्द होने के कारण है जो अपने अभिधार्थ में ठस होकर रह जाते हैं और इस दफ़्तरी कार्रवाई को बिम्ब के स्तर तक उठाने में और वांछित दर्द की प्रतीतिकराने में असमर्थ हो जाते हैं ।

दूसरे हिस्से में डाक्टर के उत्तर का मंतव्य (जो डाक्टर का है या स्वयम् रोगी का, इसे अस्पष्ट ही छोड़ा गया है) निहित अर्थगाम्भीर्य पर एक और चोट करना है, ताकि अंतिम पंक्ति 'यह अक़्ल का दाँत अक्सर बड़ी तकलीफ़ देता है' में अभिव्यंजित संवेदनशील मनुष्य की विडम्बना बौद्धिकता को छलनी से छन जाए और इस तकलीफ़ की अनुभूति में सिर्फ़ हृदय-बनाम-बुद्धि का भावुक रुदन ही पल्ले न पड़े। इसके लिए यह ज़रूरी है कि हम डाक्टर को मूर्ख समझ कर निकल न जाएँ। इस बौद्धिक निदान से कि संवेदनशीलता सचमुच एक स्तर पर रोग है, हमारी 'सह-अनुभूति' होना ज़रूरी है। इसीलिए बात डाक्टर की है या रोगी की या दोनों की, इसे अस्पष्ट छोड़ा गया है। तभी 'तकलीफ़' में वह गहराई पैदा होगी जो बुद्धि को सुला कर नहीं, बल्कि जगा कर संवेदनशीलता की मूल्यवत्ता स्थापित करेगी। बल्कि, विवेक और संवेदनशीलता गहरे जा कर एक ही हैं, इसका बोध कराएगी। इसी शर्त पर हम उस 'काव्य-सत्य' का साक्षात्कार कर सकते हैं जो संवेदनशीलता को 'अक़्ल' जैसे शब्द से अभिव्यंजित करने में निहित है।

इसी जगह अंग्रेज़ी-मिश्रित हिन्दी की बाज़ारू बौद्धिकता का लहजा हमें बौद्धिक निदान से बेहिचक तादात्म्य से रोक देता है। अभिधार्थ में बात समझ में ज़रूर आ जाती है, लेकिन अन्दाज़ में वह निपटता नहीं पैदा होती जो 'यह अक़्ल का दाँत अक्सर बड़ी तकलीफ़ देता है' में है। कुल मिलाकर लगता है कि लक्ष्मीकान्त अपनी बात कह ज़रूर गये हैं—लेकिन लस्टम-पस्टम।

अंग्रेज़ी शब्द 'बाज़ारू बौद्धिकता' की ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं, इसके लिए एक उदाहरण और दूँगा 'नदी के द्वीप' से। सन्दर्भ यहाँ चन्द्रमाधव की बात का है जो भुवन को पत्रकारिता का नुस्ख़ा समझा रहा है :

"...और अच्छे जर्नलिस्ट का काम यही है कि सबको यह इम्प्रेशन दे कि आप जो बता रहे हैं, वह वास्तव में दूसरों से उसे पता लग चुका है, फिर भी आपका बताना और चीज है। क्यों और चीज़ है, उसके अलग कारण हो सकते हैं—एक तो यह पत्रकार पर आपके विश्वास का सूचक है—और वह कृतज्ञ है कि आपने उसे विश्वास दिया, या वह प्रसन्न है कि आपने उसकी पात्रता को पहचाना। दूसरे, बात जानना और चीज है और प्रामाणिक ढंग से जानना दूसरी चीज़—आपके बताने में वह प्रामाणिकता है। प्रश्न सारा यही है कि किस व्यक्ति को कितना 'फ्लैटर' करना उचित है—आज उसका जो पद है, उसे ध्यान में रखते हुए, या कल उससे जो काम निकालना है, उसे देखते हुए। 'पम्प' करके बात निकालने के लिए उसी अनुपात में पम्प

में फूँक भरना भी तो होगा—यह पंजाबी मुहावरा कितना मौजूँ है। और आपकी चाटुकारिता को कोई कितना सीरियसली ले, यह आपकी पोशाक पर निर्भर है…"

'जर्नलिस्ट', 'इम्प्रेशन', 'फ़्लैटर', 'पम्प', 'सीरियसली' आदि में जो बाज़ारू बौद्धिकता ध्वनित है, वही 'आबसेशन और 'फ़िज़िकल' में भी है। फ़र्क यही है कि एक जगह वह सायास अभिप्रेत है, दूसरी जगह अनायास, सिर्फ़ काहिली की वजह से आ गयी है।

अज्ञेय, शमशेर और लक्ष्मीकान्त के ये उदाहरण हमने इसलिए लिये कि ये वे लेखक हैं जो विश्लेषण बरदाश्त कर सकते हैं। इनक सृजनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी शब्द एक हद तक 'खपे हुए' लगते हैं। वरना आजकल धड़ल्ले से हर क़दम पर अंग्रेज़ी छाँटने वालों की कमी नहीं है, न सिर्फ़ सृजनात्मक लेखन में, बल्कि विवेचनात्मक गद्य में भी। हाथ में क़लम है, संविधान में लेखन-स्वातंत्र्य, और दिमाग़ मे कुहराम। अधिकांश दर्ज़ी-बनाम-'टेलर' की रुतबेबाजी या खुली बाज़ारू बौद्धिकता से ऊपर नहीं उठ पाते; विश्लेषण की आँच में चरमरा कर टूट जाएँगे। पढ़ कर लगता है कि ऐसों के लिए एक ही शब्द काफ़ी है—'शट-अप'!

अब हम शमशेर की आरम्भिक स्थापना पर फिर से विचार कर लें—'विदेशी शब्दों का प्रयोग, जब तक उनकी ख़ास ज़रूरत न हो, मैं भी अवांछनीय समझता हूँ…प्रश्न है शब्दों को खपा ले जाने का, किसी पूर्वग्रह से नहीं, भावों के स्वाभाविक आग्रह से।' मेरा निवेदन है कि सही स्थापना यह होनी चाहिए :

"विदेशी शब्दों का प्रयोग अवांछनीय है। जहाँ कृतिकार को उनकी ख़ास ज़रूरत महसूस होने लगे, उसे फ़ौरन चौकन्ना हो जाना चाहिए कि कहीं वह दिमाग़ी काहिली और सृजनात्मक कायरता का शिकार तो नहीं हो रहा है…प्रश्न शब्दों को खपा ले जाने का नहीं है, इस खपाने के दौरान सृजनात्मक शक्ति को क्षति पहुँचाने की जो क़ीमत अदा करनी पड़ती है, उसका मोल समझने का है।"

सृजन के अन्तिम छोर पर कला का संदर्भ पूर्ण स्वातन्त्र्य है। भाषा के प्रति कृतिकार के दायित्व की कसौटी यह नहीं होगी कि जिस भाव-सन्दर्भ को उसने चुना, उसके उपयुक्त भाषा की चूल बिठायी या नहीं, बल्कि यह कि भाषा का जो दाय उसे पूर्वजों से मिला था, उसके साथ वह क्या कर सकता था और क्या उसने किया; किन संदर्भों का निर्माण वह कर सकता था और किनका उसने किया।

अन्त में एक विनीत चेतावनी से इस विवेचना का अन्त करूँगा। तथाकथित द्विवेदी-युग में एक दूसरे अर्थ में हिन्दी के कवि द्विभाषी थे—उनका वातावरण खडीबोली-ब्रजभाषा मिश्रित था। परिणामत: उस समय की कविता में लौं, तौ लौं, तिसका, दरसावै, दमकाय जैसे प्रयोग काफ़ी मिल जाते हैं; ख़ास तौर से वहाँ जहाँ दिमाग़ी काहिली रही है या महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा चलायी हुई चौकसी का अभाव रहा है। लेकिन उस विशिष्ट वातावरण के बदलते ही, अपने ऐसे ही प्रयोगों के कारण वे कविताएँ सबसे जल्दी अजायबघरी लगने लगीं। आज का अंग्रेज़ी-मिश्रित कवि उन्हीं कवियों जैसा जोखिम उठा रहा है। आज वह अभिव्यंजन की जिस समस्या से हताश होकर अंग्रेजी के कामचलाऊ छोटे रास्तों की तलाश कर रहा है, आगे की पीढ़ी उन्हीं समस्याओं का हल भाषा की एकतानता के भीतर निकाल लेगी। ऐसा ही अब तक हुआ है। खड़ीबोली के खड़खड़पन से घबरा कर जिन लोगों ने व्रजभाषा के कोमल पद खपाये, उनका हल, आप जब पचास बरसों में खड़ीबोली को लोगों ने मथ-मथ कर पानी कर डाला, किसको याद है? वैसा ही राजमार्ग खुलते ही लोग आज की असमर्थता की ओर कुतूहल से देखेंगे और कहेंगे—"अच्छा एक ज़माना वह भी था जब लोग इस तरह की सिलवटों वाली खिचड़ी भाषा लिखा करते थे! हमारे भी कैसे-कैसे पूर्वज गुज़रे हैं।"

जून, १९३४

लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस (छायावाद से अज्ञेय तक)

क्या 'लघुमानव' की मृत्यु हो गयी ? कुछ दिनों तक पक्ष-विपक्ष में "लघुमानव' की चर्चा सुनाई पड़ी। अब नहीं सुन पड़ती। क्या 'लघुमानव' की कल्पना ने आज के साहित्यिक कृतित्व की रूपरेखा समझने में कोई मदद की, या सिर्फ़ यह एक कौतूहलपूर्ण आग्रह बनाकर रह गया ? बहुत कुछ ये सारे प्रश्न शव-परीक्षा जैसे लगते हैं। किन्तु यदि लघुमानव की मृत्यु हो भी गयी हो तो भी शव-परीक्षा एक दृष्टि से उपयोगी होगी।

जो लोग साहित्य को मूलत: मानव-मूल्यों से (अर्थात् मानवेतर मूल्यों से नहीं) जुड़ा हुआ मानते हैं और इसी में साहित्य की सार्थकता देखते हैं, उनके ऊपर एक सैद्धान्तिक या दृष्टिपरक ज़िम्मेदारी होती है। वह यह कि मनुष्य की परिभाषा क्या है इस प्रश्न से साहित्य की मूल्यवत्ता को जोड़ते चलें। इस दृष्टि में यह भी स्वीकृति अनिवार्य है कि सम्पूर्ण मनुष्य को ग्रहण कर पाना सर्वदा असम्भव है। मनुष्य में अखंड आस्था, और उसको 'सबार ऊपर सत्य' अनुभव करने का एक अवश्यम्भावी नतीजा यह है कि मनुष्य को हम उपलब्धि और सम्भावना, दोनों का ऐसा सम्मिश्रण जानें जो पकड़ में आते-आते भी हाथ से छूट जाता है। सम्भावना को हम सत्य और सृष्टि दोनों ही रूपों में देख सकते हैं। देश-काल-विपन्न प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित मानववादी भी मनुष्य के उस 'अनन्त' को, जो सम्भावना का विस्तार है, कम से कम भविष्य में फैला हुआ देखता है। और जो मनुष्य को मूलत: देशकालातीत 'सत्य' मानते हैं वह तो उसकी पकड़ में न आने वाली अनन्तता का ढिंढोरा पीटते ही हैं।

हिन्दुस्तान कभी भी योरुप की तरह मनुष्य को सिर्फ़ देश-काल-निबद्ध प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित सृष्टि मानने को तैयार होगा या नहीं, या उसका इस तरह मानने को तैयार हो जाना विश्व-सभ्यता के लिए शुभ होगा या अशुभ, इस अटकल में न पड़कर हम इतना तो अवश्य ही मानकर चल सकते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ज़माने से होकर आज तक मनुष्य को उसकी

चिरन्तन परिवर्तनशीलता में समझने का ज़िम्मा हिन्दी साहित्य ने उठा लिया है, और अभी इस ज़िम्मेदारी से निकल भागने की कोई ख़ास आतुरता नहीं दिखलाई पड़ रही है। अगर यह सत्य है, तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देश-काल में परिभाषित करना साहित्य की ज़िम्मेदारी है। बल्कि हम यह भी कहें कि साहित्य तो यह काम करने के लिए अपनी प्रकृति से मजबूर है; आलोचना और दर्शन इस समस्त उपलब्धि को व्यवस्थित करके चेतना को अगली चढ़ान के लिए तैयार कर रहे हैं या नहीं, यह सन्दिग्ध हो सकता है। क्योंकि कविता की सृष्टि करना यह तो मनुष्य की आदिम प्रतिभा है जो शायद पाषाण-काल में भी रही होगी। परिभाषा देना और विचारों के कटघरे बनाना-बिगाड़ना, यह सभ्यता की बहुत बाद की देन है। और आज भी दुनिया में ऐसी जातियाँ मिल जायँगी जो जंगलों में बसी हुई कविता ही में जीती-मरती हैं, लेकिन आलोचना, दर्शन और परिभाषा के 'निरर्थक' कटघरों में जूझने की ज़रूरत उनको पड़ी ही नहीं।

मेरी समझ में आलोचना का काम साहित्यिक कृति की संवेदना को ज़बरदस्ती खींचकर पाठक तक पहुँचाना नहीं है। आलोचना सिर्फ़ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह, जाने या अनजाने, अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण, पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहे हैं जहाँ से काव्य का 'प्रभाव' प्रवाहित हो रहा है, उन्हें विनष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड़ दे। यन्त्र-जगत् की एक स्थूल उपमा के द्वारा हम यों कह सकते हैं कि रेडियो की सुई को उचित लहर-मान पर लाकर लगा भर देना आलोचना का काम है; बाकी ट्रान्समीटर से आता हुआ गायन तो रेडियो सेट स्वयं पकड़ेगा। अब अगर वहाँ से गायन आ ही न रहा हो, या आवाज़ में गड़बड़ी हो, तो आलोचक गाने वाले के स्वर से स्वर मिला कर गा नहीं सकता।

मनुष्य की हर परिभाषा मूलतः 'सहज मनुष्य' की परिभाषा है। चाहे हम मनुष्य की उस परिभाषा को कितना भी विकृत या अयथार्थ क्यों न समझें। अगर वह 'सहज मनुष्य' की न हुई तो उसे परिभाषा कहना ही व्यर्थ है। यह कहना कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' मूलतः यह कहना है कि 'अपने सहज रूप में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' यह नहीं कि वह असामाजिक नहीं हो सकता। चाहे तो वह हो सकता है, लेकिन उस हालत में वह सहज नहीं होगा, वक्र या कुटिल हो जायगा। इसी तरह 'मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है' या 'मनुष्य एक भावुक प्राणी है', इसमें उसके अन्य गुणों के केन्द्र में, या

उसके अन्य गुणों को व्यवस्थित करने वाले इस या उस 'सहज-स्वरूप' या 'निजी-स्वरूप' की ओर ही इशारा है जिसे उपलब्ध करने का आग्रह था, जिसमें लय हो जाने की ज़रूरत हम महसूस करते हैं।

मनुष्य की कोई भी परिभाषा उसके सहज रूप को पूर्णतः पकड़ सकेगी, ऐसा मानववादी कभी मान ही नहीं सकता, जैसा ऊपर कहा गया। इसीलिए मनुष्य की परिभाषा वैज्ञानिक न होकर सृजनात्मक होती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसे परिभाषित किया ही न जाय। निःसीम होना हमारी विवशता है। लेकिन उस निःसीम को बराबर सीमित जाल में फँसाते रहना और उसमें निरन्तर सफल-असफल होते रहना, यह हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है, सृष्टि है। इसलिए साहित्य कभी सहज मनुष्य को नहीं पकड़ता— वह केवल उस केन्द्रित-कालबद्ध, जाल में फँसी हुई सीमित झलक को पकड़ता है जहाँ से वह सहज आभासित होता है। कुछ दिनों तक—युग परिवर्तन की एक मुद्रा में—सहजता का यह आभास सजीव और मर्मग्राही लगता है। हमें लगता है, अन्तिम पूर्ण सत्य को हम पा गये हैं। फिर धीरे-धीरे युग-परिवर्तन की दूसरी मुद्रा आने तक, सत्य की यह प्रतीति विनष्ट होने लगती है, हमें लगता है कि हमारी पकड़ में तो सिर्फ़ दो-चार तत्त्व ही आये। मनुष्य की सजीवता और मनुष्य का मर्म तो फिर भी छूट गया। और दूसरा जाल फेंकने की तैयारियाँ होने लगती हैं। आदमी को कटघरों में बाँध कर कौन रख सका है ? लेकिन सिवा आदमी के इस कोशिश में लगा भी कौन ?

इसलिए मुझे यह कहना कि लघुमानव 'सहज मानव' का विरोधी है, कुछ जँचता नहीं। और यह भी आग्रह मुझे काम का नहीं लगता कि हम 'सहज-मानव' या 'मानव' ही क्यों न कहें। क्योंकि 'सहज-मानव' या 'मानव' की किस झलक को हम देख रहे हैं और उस असीम की कितनी सजीवता हमारी पकड़ में आ रही है, इसी को समझने के लिए तो यह सारी खोजबीन है। अगर हम सिर्फ़ ऐसी शब्दावली का व्यवहार करें जिससे पाठक के मन में मनुष्य के एक पहलू और दूसरे पहलू में विवेक न जागृत होकर, उसके पूर्वग्रह ही पुष्ट होते रहें, तो हम पाठक की चापलूसी भले ही कर लें, साहित्य के प्रति अपने भाव-यन्त्र को अधिक उन्मुख, अधिक सूक्ष्म और अधिक स्पन्दनशील बनाने से रहे।

साहित्य के बारे में सोचने का यह ढंग उन्हें नहीं रुचेगा जो मनुष्य को देशकालातीत आत्मस्थ सत्व के रूप में सुनने या बताये जाने के अभ्यासी रहे हैं। उनसे बहस भी नहीं है, क्योंकि उनसे साहित्य की चर्चा ही क्या ?

आख़िरकार शंकराचार्य की कोई दिलचस्पी कालिदास में भी रही हो, इसका प्रमाण अभी तक तो नहीं ही मिला है। काश मिलता !

❀ ❀ ❀

लघु-मानव के प्रति एक आपत्ति यह भी है कि कल्पना मनुष्य की महत्ता या महानता का निषेध करती है; मनुष्य का जो सर्वश्रेष्ठ है, सबसे विराट् है, उससे हमारे सम्बन्ध को तोड़ देती है। मुझे इसमें शाब्दिक चमत्कार ज्यादा दिखलाई पड़ता है, तत्त्व कम। क्योंकि सत्य यही है कि लघु-महत् में वैसी दुश्मनी नहीं है, जैसा कि शब्दकोश बतलाता है। इस सम्बन्ध में मैं प्रसाद जी की सूक्ष्म दृष्टि का हवाला दूँगा जहाँ उन्होंने यथार्थ को लघु से और आदर्श को महत् से सम्बद्ध किया है : और यथार्थ और आदर्श दोनों को समन्वित दृष्टि से देखने की कोशिश की है। लघु और महत् दोनों कहीं न कहीं वैसे ही मिलते हैं जैसे यथार्थ और आदर्श। यह कोई नयी उपलब्धि नहीं है। प्रसाद जी ही क्यों, सारे 'छायावाद-युग' की कोशिश इन दोनों के भेद को मिटाने की ही रही है। 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद', 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' या उसी वज़न पर अगर हम बना सकें 'लघून्मुख-महत्‌वाद' या 'महदुन्मुख-लघुवाद' (जो कुछ भी इन सारगर्भित शब्दान्वयों का मतलब हो !) इस क़िस्म की शब्दावली छायावाद-युग की है, लक्ष्मीकान्त वर्मा की नहीं।

इसलिए अच्छा हो कि हम मानकर ही चलें कि लघु की कल्पना मनुष्य में जो 'महत्' है, उसका निषेध नहीं करती। साहित्य की समीक्षा को एक पश्चिमी आलोचक ने 'कॉमन-परसूट'—एक सहयोगी प्रयास—कहा है। साहित्य को समझने और आत्मसात् करने में उत्पन्न बाधाओं को दूर करने का यह सहयोगी प्रयास बहुत-कुछ सुगम हो जाय, अगर चर्चा अथवा विश्लेषण करने वाले कम से कम इस पर सहमत हो जायँ कि जिन बातों पर आज से एक पीढ़ी पहले बहस हो चुकी है, उन्हें फिर से नहीं उठायेंगे या उठायेंगे तो उन उत्तरों का ध्यान रखेंगे जो पहले दिये जा चुके हैं। फ़िज़ूल की बकवास तो इससे बन्द ही हो जायगी। कम से कम इतना तो हो ही जायगा कि मतभेद अगर प्रसाद जी से है, तो उसका ग़ुबार लक्ष्मीकान्त वर्मा पर नहीं उतरेगा।

बहस इस पर हो सकती है, और है भी कि लघु और महत्, यथार्थ और आदर्श जहाँ मिलते हैं, उस मनोभूमि की अनुभूति कैसी है—दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रकृति क्या है। साहित्य, चूँकि उस अनुभूति का साक्षात् अनुभव करता है, इसलिए उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि वह दर्शन की तरह हर एक को टुकड़े-टुकड़े में बाँट कर परखे, मिलाये और फिर उत्तर दे। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि साहित्य के उत्तर में बौद्धिक गम्भीरता या

औचित्य की कमी हो। आलोचना साहित्य का दर्शनशास्त्र है और उसका एक काम यह भी है कि वह संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाये। नहीं तो जीवन के प्रति साहित्य का स्पर्श गूँगे के गुड़ की तरह होकर रह जायगा। रीतिकाल की कविता और मनोभूमि में कितना फ़र्क पड़ जाता, अगर रीतिकालीन कवियों के पास काव्य के बारे में विवेकसम्मत दार्शनिकता की भी एक परपाटी होती।

यथार्थ-आदर्श की मिश्रित मनोभूमि का 'स्पर्श' कैसा है, इसके बारे में पिछले चालीस वर्षों में हिन्दी साहित्य ने क्या उत्तर दिये हैं? किसी हद तक हम इसे यों रख सकते हैं: छायावाद-युग के लिए आदर्श यथार्थ का ध्येय या लक्ष्य है। इसलिए दोनों के सम्बन्ध का चित्र परस्पर 'उन्मुखता' से खींचा जाता है। यह 'उन्मुखता' काल में भी है, कालातीत भी। इसमें सब एक-जैसे नहीं हैं। प्रेमचन्द में तो निश्चय ही यह 'उन्मुखता' कालबद्ध ही है। जो अपने को रहस्यवादी नहीं कहते, वे कवि भी काल में ही 'उन्मुख' हैं। यों 'रहस्य-वादी' भी काल का अतिक्रमण मूलतः नहीं करते। सूक्ष्म विवेचना से यह दिखलाया जा सकता है। स्थिति—कालान्तर गति – लक्ष्य: यथार्थ-आदर्श, या लघु-महत् के सम्बन्ध का यह ढाँचा सिर्फ़ छायावादी कवियों या प्रेमचन्द में हो, ऐसा नहीं है। जो कुछ थोड़ी जानकारी मुझ जैसे व्यक्ति को हिन्दी के अतिरिक्त भी हिन्दुस्तान के साहित्य की हो सकती है (दुर्भाग्य से कुल मिला-कर बहुत कम है), उसके भरोसे यह कहने का साहस करूँ कि सारे हिन्दुस्तान के साहित्य की मनोभूमि इतिहास के उस चरण में ऐसी ही रही है? और अगर हम साहित्य के बाहर सारे देश की मनोभूमि पर निगाह डालें तो यह स्वाभाविक भी लगता है। गुलामी की स्थिति यथार्थ और लघुता की स्थिति थी। और दूर कहीं पर, किन्तु निश्चित या अनिश्चित काल के भीतर ही आज़ादी का लक्ष्य आदर्श और महत्ता का लक्ष्य था। सारा देश उस लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था। यह बढ़ना, यह 'उन्मुखता', एक स्थितिजन्य सत्य थी और उन लोगों की मनोभूमि के लिए भी ढांचा तैयार करती थी जिन्हें आज़ादी की लड़ाई में सीधी दिलचस्पी नहीं थी।

यह वर्णन बहुत सरल और आपत्तिजनक न लगे, इसलिए कुछ और संकेत ज़रूरी हैं। एक तो यह कि सम्बन्धों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का मतलब यह नहीं है कि हमने उसके समस्त रंग, सारे उतार-चढ़ाव भी निवटा दिये। स्तर-भिन्नता के कारण, उसी सम्बन्ध के भीतर ही बड़ी विभिन्नता दिख सकती है। अनुभूति केवल एक ढाँचे या मनोभूमि में ही चक्कर नहीं काटती, उसमें अपनी

ख़ुद की विविधिता अथवा एकरसता; सम्पन्नता अथवा दरिद्रता; विस्फोट अथवा सन्तुलन; निविड़ता अथवा रुक्षता होती है। नहीं तो एक ही मनोभूमि पर अभिव्यक्त होने वाले सभी लेखक एक ही जैसा लिखने लगें। या एक ही मनोभूमि पर विचरण करने वाले दो देशों या युगों की लय-सम्पन्नता एक-जैसी होती। लेकिन हम देख सकते हैं कि रोमांटिक मनोभूमि इंग्लैंड में जितनी समृद्ध और पल्लवित हुई, उतनी फ्रांस में नहीं; उसी तरह तथाकथित 'क्षयग्रस्त' मनोभूमि या उसके बाद 'आधुनिक मनोभूमि, फ्रांस में जितनी पल्लवित हुई, उतनी इंग्लैंड में नहीं। पेड़ तो सभी आम के होते हैं, लेकिन सभी न एक जैसे छतनार होते हैं, न सब में एक जैसी मंजरियाँ ही आती हैं, न फलों में स्वाद ही एक जैसा होता है। इसलिए इस सामान्य ढाँचे में हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि में अलग-अलग कैसा पल्लवन हुआ, इसका लेखा-जोखा कोई बहुभाषाविद् हमारे सामने रखता तो मुझ जैसे बहुत से अंधकारग्रस्त लोगों को अपने देश को कुछ ज़्यादा निकट से पहचानना संभव होता। अभी तो अपना हिन्दी का गाँव ही समूचा भारत लगता है। शेष सारे गाँव परदेश ही हैं।

'उन्मुखता' के विषय में दो बातें और। यह सब जानते हैं कि 'छायावाद' के कवि 'परिवर्तनवादी' हैं, लेकिन मेटाफ़िज़िक्स, मनुष्य देशकालातीत अनन्त सत्त्व के प्रभावमण्डल का दामन नहीं छोड़ते। मेटाफ़िज़िक्स छायावाद के लिए चिन्तन या अनुभव की विद्या उतनी नहीं है जितनी कि एक काव्यात्मक मुद्रा। इससे छायावादी काव्य में एक तरफ़ तो 'आदर्श', 'महत्' की झलकियाँ मिलती रहती हैं, दूसरी ओर गम्भीरता की दृष्टि भी होती है। इस गम्भीरता को परम्परा से जुड़कर पुष्ट होने का एहसास भी होता रहता है। क्योंकि छायावाद-युग की प्रचलित धारणा है कि मेटाफ़िज़िकल होना ही 'भारतीय' परम्परा और संस्कृति से जुड़ जाना है। इसके अतिरिक्त होता भी क्या, जब उन्नीसवीं सदी में 'भारतीय संस्कृति' की पहली सड़क कपिल, कणाद, पतंजलि, वशिष्ठ, अश्वघोष, नागार्जुन, शंकर जैसे बाल की खाल निकालने वाले दर्शनशास्त्रियों के मुहल्ले में से होकर निकाली गयी थी। इस सड़क को निकालने में अंग्रेज़ों और हिस्दुस्तानियों ने मदद की थी, यद्यपि दोनों के उद्देश्य भिन्न थे। सड़क काफ़ी चौड़ी थी और उन दिनों इस पर ट्राफ़िक बड़ी ज़बरदस्त थी। आगे हम देखेंगे कि छायावाद के दूसरे दौर में बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन आदिक गद्य तथा काव्य-लेखकों ने किस प्रकार छायावाद का बाक़ी सब बदस्तूर रखते हुए, मेटाफ़िज़िकल दार्शनिक मुद्रा और तज्जनित 'गंभीरता'

को नमस्कार किया और इससे कौन से नये 'मोड़' पैदा हुए— क्योंकि यही समय 'प्रगतिवाद' के उद्भव का भी है। अभी तो इतना द्रष्टव्य है कि इस मेटाफ़िज़िकल तत्त्व ने लघु-गति-महत्, अथवा यथार्थ-परिवर्तन-आदर्श के फ़ार्मूले में स्पष्टतः कुछ नये संवादी स्वर जोड़ दिये।

आध्यात्मिक तत्त्ववाद परिवर्तन के बिल्कुल विरुद्ध हो, ऐसा नहीं। हिन्दुस्तान का आध्यात्मिक तत्त्ववाद भी नहीं। परन्तु आध्यात्मिक तत्त्ववाद का परिवर्तन केवल एक बार घटित होता है। उसके वाद परिवर्तन का 'संसार' ख़त्म हो जाता है। इसलिए इसका रूप काल से कालातीत, अज्ञान से ज्ञान, अविद्या से विद्या, मोह से निज-स्वरूप में लय होने, असत्य से सत्य, तमस् से ज्योति, मृत्यु से अमरता, गुलामी से आज़ादी, क्षितिज के इस पार से उस पार, अंग्रेज़ी राज्य से हिन्दुस्तानी राज, वेश्यावृत्ति से आश्रम, शराब से खद्दर, यथार्थ से आदर्श, लघु से महत् तक ही चुक जाता है। क्षितिज के उस पार कुछ ऐसा है जो विद्युत्-चुम्बक की तरह यों खींचता है कि निराला की सुदृढ़ मांसपेशियाँ और महादेवी के कोमल भावतन्तु एक तरीखे चरमराते दिखते हैं, लेकिन बारम्बार टकराने के बावजूद भी न क्षितिज ही टूटता है, और न यही उत्तर मिलता है कि उस पार है क्या आख़िर। 'कौन तम के पार, रे कह ?'; 'तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूँ, उस पार क्या है !' 'इस पार प्रिये तुम हो मधु है, उस पार न जाने क्या होगा।' और अन्त में :

> फिर ये आये।
> ये जो दीवारों के बाहर के वासी थे;
> ....
>
> परिचय स्वागत की जब विधियाँ ख़तम हो गईं
> तब ये बोले :
> यहाँ कहीं कुछ नया नहीं है।

उत्तर तो एक ही था : जैसा इस पार है, वैसा ही उस पार भी है; और उस पार के बाद भी एक क्षितिज है; और उसके पार भी एक उस पार है....और इसी तरह निरन्तर....लेकिन यह उत्तर १९४७ के पहले नहीं दिया जा सकता था; यों १९४७ आते-आते कुछ लोगों ने दीवाल पर चढ़ कर उस पार की ताक-झाँक शुरू कर दी थी। लेकिन यह आगे का विकास है। अभी हम छायावाद पर थोड़ी और दृष्टि डालें।

आज हम परिवर्तन को सहज ही एक श्रृंखला के रूप में देखते हैं। इस श्रृंखला की कड़ियाँ काल में क्रम से जुड़ी हुई दिखलाई देती हैं। और प्रायः इस

शृंखला का छोर कहीं नहीं दिखता। विचारकों का कहना है कि जो परिप्रेक्ष्य हमें बहिर्जगत् में देखने पर मिलता है, अन्तर्मन में भी देखने पर वैसा ही स्वरूप अपनी आत्मा का दिखता है। कम से कम यह परस्परापेक्षिता तो बहुत कुछ सामान्यतः स्वीकृत और बहुकथित तथ्य है, इसका दार्शनिक आधार जो हो, बहिर्जगत् को अन्तर्जगत् जन्म देता है या अन्तर्जगत् बहिर्जगत् को, या कोई तीसरा ही इन दोनों को। लेकिन यह अनुभूति कि हमारे मन में परत पर परत की एक शृखला है, प्याज़ के छिलके की तरह, और हर परत पहली से कुछ भिन्न दिखलाई पड़ती है—हमें बाहर जगत् में मंज़िल पर मंज़िल परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य जैसी ही लगती है। ये दोनों ही नये परिप्रेक्ष्य हैं जिनके बीज तो छायावाद में खोजने पर मिलेंगे लेकिन जिसकी अनुभूति आज़ादी के बाद साहित्य की अपनी है। ये दोनों ही भीतर और बाहर के परिप्रेक्ष्य मेटाफ़िज़िकल चश्मे को त्याग कर परिवर्तन की शृंखला की ओर देखने के नतीजे हैं। क्योंकि छायावाद के बाद वा न सिर्फ़ बहिर्जगत् अध्यात्म विहीन है, बल्कि अन्तर्जगत् भी 'आध्यात्मिक' नहीं है। नये कवियों में से बहुतों में काफ़ी दूर तक अन्तर्मन के महाद्वीप या महासागर में कोलम्बस-जैसी अन्वेषण यात्राएँ की हैं कभी-कभी छायावादियों से ज़्यादा भी; लेकिन हिन्दुस्तान के इतिहास में पहली बार यह घटित हुआ कि भीतर बैठने पर 'आत्मा' के दर्शन नहीं हुए। मिला कुछ और ही। नयी कविता की 'आन्तरिकता' उस अर्थ में आध्यात्मिक नहीं है जिस अर्थ में छायावाद की 'आन्तरिकता' आध्यात्मिक या अर्ध-आध्यात्मिक है। इस 'आध्यात्मिक मुद्रा' का विनाश किसने किया? पहले पापियों में आज के नये कवि या नये कहानीकार या नये उपन्याकार नहीं आयेंगे। जड़ खोदने का काम तो दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा आदि ने ही शुरू किया था। अज्ञेय और उनके साथ या बाद वालों ने तो सिर्फ़ मट्ठा डाला है।

वस्तुतः मेटाफ़िज़िकल तत्त्व तो गांधी जी ही की शैली में वर्तमान हैं। सत्याग्रह-युग के साहित्य के दो विशाल आच्छादन हैं, गाँधी जी और रवीन्द्रनाथ। ये दोनों उस मनोभूमि के निर्माता हैं, या ख़ुद भी औरों की तरह अभिव्यक्ति मात्र, यह बहुत कुछ जिस दृष्टि से हम उस युग के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करना चाहें, उस पर निर्भर करता है। गांधी जी ने सत्य और स्वाधीनता की कुछ परिभाषाएँ दीं और उन तक पहुँचने का रास्ता बताया। यहाँ हमारे विवेचन का सम्बन्ध उन परिभाषाओं और मुद्राओं के मानसिक परिणामों से है। गांधी जी की 'स्वाधीनता' का एक आयाम इतिहास के बाहर,

देश-काल से परे भी है। उनकी स्वाधीनता उस सत्याग्रही को सहज ही उपलब्ध हो जाती है जो उस आन्तरिक परिवर्तन की सीमारेखा को पार कर जाता है जो उसे गुलाम बनाये हुए है। फिर इतिहास के चौखटे में वह गुलाम है, इसका कोई मतलब ही नहीं रह जाता। क्योंकि उसका एक आयाम उस चौखटे के बाहर है और जरूरत पड़ने पर चौखटे के बाहर वाला आयाम ही सब कुछ माना जा सकता है। उपन्यासकार की कलाकृति की तरह गांधी जी का मनुष्य इतिहास के भीतर भी है, इतिहास के बाहर भी कालबद्ध, भी है, कालातीत भी। (क्या इसी कारण गाँधीवाद का सबसे सीधा और सबसे सशक्त प्रतिफलन उपन्यासों और कहानियों में ही हुआ है। काव्य और नाटक पर रवीन्द्रनाथ कुछ ज्यादा छाये हुए हैं ?) इसका प्रमाण तो गाँधी जी के सम्पूर्ण चिन्तन, कर्म और व्यक्तित्व में विद्यमान है; यहाँ आश्वासन भर के लिए कोई-सा भी एक उद्धरण देता हूँ :

"Every one of you should, from this very moment, consider yourself a free man or woman and even act as if you are free and no longer under the heel of this imperialism. This is no make-believe. You have to cultivate the spirit of freedom before it comes physically. The chair s of a slave are broken the moment he considers himself a free man."—Selections by Nirmal Kumar Bose, p 208.

सत्य को अन्तर्ध्वनित होते हुए पकड़ना, यह शैली भी गांधी जी की विशेषत: विख्यात है। सत्य को उसके मूल चारुत्व में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से ग्रहण कर लेना लगभग वैसी ही शैली है। अधिक विशिष्ट बात यह है कि अन्तर्ध्वनित यह सत्य, जो बारंबार देश-काल के बाहर से आता हुआ अनुभूत होता है, उसी अनुपात में इतिहास का सत्य भी बन जाता है। यह चरम विश्वास कि दोनों में कभी व्यवधान होगा ही नहीं, सत्याग्रह-युग मानवीय आस्था की रीढ़ है। बेशक, इस अखण्ड, असंदिग्ध आस्था पर हताश शंका प्रकट की बच्चन आदि ने मुँह चिढ़ाया प्रगतिवाद ने। उसके बाद तो इन्द्रजाल टूटता ही गया। आज के साहित्य की मनोभूमि की प्रथम अनुभूति यही है कि अन्त:सत्य और बहिर्सत्य के बीच एक विशाल खाईं है जो पाटे नहीं पटती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवर्तन की व्यापक कल्पना उस युग में अध्यात्म के सिर्फ़ एक बार घटित होने वाले परिवर्तन की मनोभूमि से जुड़ गई थी। फिर भी हम इसे संवादी स्वर ही इसलिए कहेंगे कि इसकी भूमिका

मूलतः भारतीय परिवर्तन को अधिक केन्द्रित करने की, और आज़ादी के बाद क्या होगा—इस परेशान और एकता को क्षीण करने वाली चिन्ता से मुक्त करने की थी। क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से अलग या भिन्न जितनी धाराएँ थीं—मुस्लिम लीग से लेकर कम्युनिस्ट पार्टी तक—उनका आरम्भ ही यहाँ से होता था : परिवर्तन तो ठीक है, लेकिन आज़ादी के बाद क्या होगा, इसका निबटारा अभी से ही कर लिया जाय। प्रामाणिक भारतीय मानस का एक ही उत्तर था : इस तरह के प्रश्न नहीं पूछने चाहिये; क्षितिज के पार क्या है, इसका हमें विश्लेषण नहीं करना चाहिए; आओ, हम सिर्फ़ उसका स्वप्न देखें और वेग से आकर्षित होते जायँ। इससे ज़्यादा ऊहापोह शैतान का काम है। इस उत्तर के पीछे प्रत्यक्ष अनुभव यह था कि इन ऊहा-पोहात्मक धाराओं से एकता को बार-बार धक्का पहुँचता था। आज़ादी के बाद आज हम सोचते हैं कि काश हिन्दुस्तान ने आज़ादी के बाद ऊहापोह की मानसिक तैयारी कुछ अधिक की होती।

परिवर्तन, जो सिर्फ़ एक बार घटित होता है : लघु से महत्, यथार्थ से आदर्श, गुलामी से आज़ादी की ओर, स्वाभाविक है कि शृंखलाबद्ध परिवर्तन से अधिक आमूलक, अधिक नाटकीय, अधिक चमत्कारपूर्ण होगा। सत्याग्रह-युग विराट् नाटकीयता का युग है। उस युग के बारे में पढ़कर ही हम रोमांचित होने लगते हैं, फिर उस समय ज़िन्दा होना और उसकी लय को महसूस करना स्वर्ग में रहने के बराबर ही रहा होगा! क्या आश्चर्य है कि उस युग के बचे हुए अवशेष आज भी तृषित प्रेतात्माओं की तरह वैसा ही उतार-चढ़ाव, वैसा ही झंझा-झकोर, वैसी ही सिर को चक्कर देने वाली पेंगें, वैसी ही नाटकीय झंझार और इतिहास की वैसी ही उत्ताल तरंगों में फुफकारती हुई गति तलाश करते घूमते हों! वह ऐसा समय था जब इलाहाबाद की सड़कों पर स्त्रियों के एक छोटे से जलूस के निकलने की ख़बर पाकर जवाहरलाल नेहरू जैसे आदमी को भी लगता था, जैसे इतिहास ने ज़बरदस्त अँगड़ाई ली हो और तेज़ी से छूटते हुए अग्निबाण की तरह आकाश में दौड़ चला हो और हमारा युग है कि न्यूयार्क में दुनिया के सभी देशों के प्रधानमंत्री और अध्यक्ष इकट्ठा होते हैं, मेजों पर घूसे बरसते हैं, रेडियो, टेलीविज़न, अख़बार चीख़ते हैं और महफ़िल ख़त्म होने के बाद लगता है कि इतिहास नहीं बढ़ता; बिल्कुल नहीं बढ़ता; कुछ भी तो नहीं घटित होता! कहाँ है वह युग, जब एक सटीक शेर पर दिल्ली का क़त्लेआम बन्द हो जाता था; जब एक राख़ी की याद पर सल्तनतें लुट जाती थीं; जब एक लाठी की मार पर अँग्रेज़ अफ़सर आफ़िस क्लर्क को तरक्की दे देता था; जब एक लड़कपन की याद पर गुण्डा आख़िरी गोली तक

जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता था; जब एक झोंपड़ी की दृढ़ता पाण्डेपुर की सिगरेट-फ़ैक्टरी को चुनौती देती अडिग खड़ी हो जाती थी ? लघु और महत् की यह नाटकीय विराटता कहाँ है ? इतिहास-रथ की उड़ी हुई धूल में पीछे, बहुत पीछे !

यह नाटकीयता सिर्फ़ छायावादी काव्य ही नहीं, प्रसाद और प्रेमचन्द के आसपास के गद्य को भी सम्पन्न करती चलती है । इसमें इतनी शक्ति थी कि बग़ैर स्टेज के भी प्रसाद को नाटकीय नाटक लिखना सम्भव हो गया । अगर प्रसाद को स्टेज की कोई जीवित परम्परा मिली होती तो उनकी अपनी प्रतिभा और युग की लय दोनों मिलकर हिन्दी नाटक में कैसी विशाल छवियाँ उत्पन्न करतीं, यह कल्पना करने की चीज़ है । रंगमंच के अभाव में हुआ यही कि प्रसाद के नाटकों की नाटकीयता कमज़ोर स्ट्रक्चर में भरी नहीं रह पाती, उबल-उबल कर गिर पड़ती है । लगता है कि झीनी चादर पर ऑरोरा बोरियालिस के रंगों की चमत्कृत करने वाली भागदौड़ हो रही है और चादर इस सारे उत्सव को सँभाल न पा रही हो । वस्तुतः शिल्प की यह कठिनाई छायावादी युग के साहित्य की सर्वाङ्गीण कठिनाई है । उस साहित्य का हुलास शिल्प के कटोरे में नाप-तौल कर भरा-पुरा न रहकर बार-बार छलक पड़ता है । कविता में भी और उपन्यास में भी । प्रेमचन्द ने दोनों की मैत्री की भरसक कोशिश की—और बहुत कुछ सफल हुए, लेकिन कहाँ तक ? उनके आरंभिक उपन्यासों में भीतर का अमृत कटोरे में समा नहीं रहा है, इसकी कठिनाई स्पष्ट है । आगे चलकर यह कठिनाई सुलझती दिखती है । मगर प्रेमचन्द के शिल्प का विस्तृत विश्लेषण करना यहाँ उद्दिष्ट नहीं है । ध्यान में रखने की बात सिर्फ़ यह है कि इस नाटकीय, ओतप्रोत, अतिक्रान्त मनोभूमि ने काव्य-शैली में फ़ॉर्म-कन्टेन्ट, भाषा-अर्थ, शिल्प-अभिव्यक्ति आदि की विशिष्ट समस्याएँ पैदा कीं, और आगे चलकर बच्चन-भगवतीचरण वर्मा, तथा आजादी के बाद नये काव्य और नये उपन्यास-कहानी ने इन सब के लिए सन्तुलित ढाँचा निकालने की कोशिश की । परिणाम यह हुआ कि उन समस्याओं को लेकर विचार करने का ढंग बदल गया । लगता है कि जैसे कांग्रेस के झीने संगठन में राष्ट्रीयता की सम्पूर्ण भावधारा न प्रवाहित हो पाती हो, और बार-बार तमाम तरह की, सहयोगी, असहयोगी संस्थाओं में किनारे तोड़ कर जा मिलती हो, और खुद कांग्रेस के आंतरिक संगठन में तरह-तरह के रिक्त या अर्द्धरिक्त खाईं-गढ़ छोड़ती चलती हो ।

नाटकीयता उस युग का दूसरा संवादी स्वर है । इसे भी हम प्रमुख स्वर

न मानकर सहायक ही इसलिए मानेंगे कि सब के बावजूद भी परिवर्तन की मुद्रा में एक तरतीबवार गति की अन्तःसलिला प्रवाहित है। उस अन्तःसलिला की सतह पर तूफ़ान पछाड़ें खाता है, लेकिन गहरे कहीं भारतीय मानस आँवे की तरह ही पकता जाता है। गांधी का नेतृत्व परिवर्तनकारी ही नहीं, क्रांतिकारी भी था—लेकिन कहीं उसमें धीरे-धीरे बदलने वाली गति भी मौजूद है। हिन्दी के तत्कालीन साहित्य में यह दोनों ही गतियाँ दिखती हैं। रक्तचाप की नाप करने वाले डाक्टर ब्लड प्रेशर की अधिकतम और न्यूनतम दोनों ही गतियाँ देखकर सम्पूर्ण वेग का अन्दाज़ लगाते हैं। उस समय की मनोभूमि के व्यक्त और अव्यक्त दोनों स्तरों की धड़कनों के अनुमान के लिए गांधी जी का एक उद्धरण दूँगा जो रूपक की तरह हिन्दी काव्य पर भी लागू होता है :

> "The nations have progressed both by evolution and revolution. The one is necessary as the other. Death which is an eternal verity, is revolution as birth and after is slow and steady evolution Death is as necessry for man's growth as life itself. God is the greatest Revolutionist the world has ever known or will know. He sends deluges. He sends storms where a moment ago there was calm. He levels down mountains which he builds with exquisite care and infinite patience. I do watch the sky and it fills me with awe and wonder. In the serene blue sky, both of India and England, I have seen clouds gathering and bursting with a fury which has struck me dumb. History is more a record of wonderful revolutions than the so-called ordered progress—no history more so then the English. And I beg to inform the correspondent that I have seen people trudging slowly up mountains and have also seen men shooting up the air through great heights."

इन शब्दों की राजनीति पर नहीं, इन शब्दों में जो काव्य है, उस पर ध्यान केन्द्रित कीजिए, और आपको निराला, प्रसाद, प्रेमचन्द इन सब के लहू की धड़कन सुनाई पड़ेगी। जीवन और मृत्यु, क्रान्तिकारी ईश्वर, प्रलय-प्रवाह, शान्त वातावरण में बरबर आ जाने वाला तूफ़ान, टूटते हुए पहाड़, विस्तृत आकाश, विकराल प्रलय-मेघ, धीरे-धीरे चढ़ता हुआ पर्वतारोही, और छूटते

हुए उल्कापिण्ड—सरीखा मनुष्य : ये सारे चित्र तत्कालीन साहित्य में निरन्तर मँडराते रहते हैं। ऐसे युग की कल्पना कीजिए जब इन शब्दों का आशय बुद्धि द्वारा गृहीत अर्थवत्ता नहीं थी, साधारण जीवन में प्रतिफलित होने वाला प्राणों की लय थी : और आपको छायावाद-युग का स्पन्दन कुछ-कुछ स्पर्श करता हुआ प्रतीत होगा।

गाँधी जी हिन्दुस्तान के लिए गांधी इसलिए नहीं थे कि वे हमारे विचारों या आदर्शों के प्रवक्ता थे, उनका जोड़ देश के साथ कहीं और भी गहरा था, वे हिन्दुस्तान की ज़िन्दगी के rhythm की अभिव्यक्ति थे; इतनी पूर्णता के साथ, जो उस युग में किसी और का प्राप्त नहीं थी : और आगे भी किसी को हो सकेगी, कहना कठिन है।

लघु-महत्, यथार्थ-आदर्श की इस 'उन्मुखता' के सन्दर्भ में हम एक और प्रश्न पूछ सकते हैं। यह एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है, क्योंकि मेरी समझ में इस प्रश्न का उत्तर हिन्दी के 'छायावाद युग' ने—जिसे हम अखिल भारतीय दृष्टि से सत्याग्रह-युग कह सकते हैं—और भाषाओं के साहित्य से कुछ भिन्न ढंग से दिया। हिन्दी-क्षेत्र की परम्परा और ऐतिहासिक अनुभव जिस हद तक हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं से भिन्न था, उस हद तक हिन्दी के एक विशिष्ट 'व्यक्तित्व' का निर्माण उस युग में हुआ। इस सम्बन्ध में, कम से कम, हिन्दुस्तान की अन्य भाषाओं के टेम्पर—मिज़ाज से तुलना करने से हमारे सार्वदेशिक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के बारे में स्पष्ट और उपयोगी नतीजे निकाले जा सकते हैं। आज की जानकारी—या जानकारी के अभाव—में सत्य का एक सीमित पहलू ही देखकर सन्तोष करने के अतिरिक्त क्या चारा है? अस्तु, प्रश्न यह है कि आदर्श जिस तरह यथार्थ को आकर्षित करता है, उस आकर्षण का प्रमुख रूप क्या है?

उत्तर प्रदेश वह सूबा है जहाँ बंगाल की पुरवैया भी आती है और पश्चिम की पछुआ भी। पुरवैया तो तीन ही चार महीने चलती है, लेकिन जाड़ों में अधरों पर पपड़ियाँ छोड़ जाती है और गरमियों में लू चलकर झुलसा कर रख देती है। बंगाल की पुरवैया शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ को लाती है और पछुआ दयानन्द सरस्वती को। और कुल मिलाकर आठ महीने पछुआ का ही राज्य रहता है—रूखा, या तप से संयमित। उत्तर प्रदेश की—या साधारणतः हिन्दी भाषा की—प्रकृति कुल मिलाकर संयम की अधिक है, वेग के साथ बन्धन को तोड़ कर बहा ले जाने की कम। शायद कालिदास से हिन्दी ने यही सीखा है : गहरी से गहरी शराब के बावजूद भी, कल्पना की सम्पन्न

से सम्पन्न उड़ानों के बावजूद भी, और विलास के बंधनहीन अवसरों में भी कालिदास की आँख नहीं झपकती। कालिदास की आँखों का वह निर्धूम, निष्कम्प, निश्चल प्रकाश जो मालवा की पहाड़ियों, उछलती हुई नदियों, मथुरा की गम्भीर जमुना, फूलों को पानी देती हुई वन-कन्या, धूल उड़ाते हुए रथ, सोंधी मिट्टी पर बरसते हुए पानी—यहाँ तक कि मानदण्ड की तरह फैले हुए समूचे हिमालय पर—एक सरीखा, नवम्बर की धूप की तरह नरम, लेकिन तटस्थ पड़ता है, उसका कोई महत्त्वपूर्ण अंश शायद हिन्दी को उत्तराधिकार के रूप में मिला है। ऐसा नहीं है कि इस बीसवीं सदी में ही महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल जैसे ऊपर से रूखे और भीतर से अंकुर की तरह मुलायम लोग हुए हों। तुलसीदास को मध्ययुग के दयानन्द सरस्वती हैं ही; विभोरावस्था को पहुँचे हुए सूरदास भी कालिदास की तरह कृष्ण-लीला को सिर्फ़ देखते ही हैं, चैतन्य की तरह आत्मविस्मृत नहीं हो जाते। सूरदास की तन्मयता जितनी गहरी होती जाती है, आँखें उतना ही साफ़ देखती हैं—और उस देखने में जयदेव या विद्यापति की तरह महकते हुए फूलों से धूम-नशीले, अल्पना और अंगराग से लहकते हुए कुंज कुटीर कम हैं, ज्यादातर तो उलूखल, मूसल, कछौटी, हरे बाँस की बे-सँवारी वंशी, बिल्कुल ही अन-ईस्थिटिक ढंग से फैलाया हुआ मक्खन ही है! हिन्दी की कल्पना चेरापूँजी की जल-थल करने वाली वर्षा से उद्‌भूत कल्पना नहीं है, उसका सौंधापन आषाढ़ के पहले दिन तप्त धरती पर पड़ी हुई बूँद-जैसा है। जिन राष्ट्रीय परिस्थितियों ने बंगाल में शरत्‌चन्द्र को जन्म दिया, उन्होंने हिन्दी में प्रेमचन्द को। कहने में जैसा भी विरोधाभास लगे—लेकिन प्रेमचन्द की आँखें कालिदास के अधिक निकट हैं। होशोहवास की दुरुस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि—निराला और प्रसाद भी क़दम नहीं रखना चाहते। शरत् बाबू के 'देवदास' की तरह प्रसाद के कंकाल का 'विजय' भी, आदिम भावनाओं द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशों का सफ़र नहीं करता जहाँ से बंगाल के लेखक की यात्रा शुरू होती है।

महत् के आकर्षण की प्रकृति की खोज करते समय इस सीमा को ध्यान में रखना ज़रूरी है, यद्यपि इसे बहुत स्थूल नहीं समझना चाहिए। इस संकेत का मतलब सिर्फ़ हिन्दी की आत्मा की हल्की-सी ढलान की पहचान है। यह नहीं कि हिन्दी में बुद्धि और हृदय; मर्यादा और स्वच्छन्दता; आवेग और संयम; कल्पना और रीति; शक्ति और नैतिकता का द्वन्द्व सारे संसार की तरह नहीं हुआ या नहीं होता। देखने की बात यह है कि यह द्वन्द्व चेतना के किस

स्तर पर और किन चौहद्दियों के भीतर घटित होता है।

जैसा कि उस युग में स्वाभाविक था, महत् का आकर्षण, आज़ादी के आकर्षण की तरह दो धाराओं में होकर बहता था : नैतिक और शाक्त। इतिहास के विचित्र संयोगों में से यह भी है कि इन दोनों विद्युत्-तरंगों के परस्पर संतुलन का नाटक भी आधुनिक हिन्दी के जन्म-केन्द्र वाराणसी में खेला गया, और उसके प्रतीकात्मक पात्र थे प्रेमचन्द और प्रसाद। इन दोनों की भिन्नता और समानता; वक्रोक्तियाँ और प्रशंसाएँ; अलगाव और सम्मेलन; दोनों के पीछे समर्थकों और प्रशंसकों का जमघट और बिखराव; धारणाओं और व्यवहार के ठोस और तरल तत्त्व—यह सब मिलकर उस विशिष्ट वातावरण का निर्माण करते हैं जिसे फ्रेंच आलोचक टेन ने 'मिलियू' कहा है। दुर्भाग्य से उस 'मिलियू' अथवा युगभूमि की कहानी अभी कही नहीं गई है और हिन्दी आलोचना की दशा अगर ऐसी ही रही तो शायद कभी कही भी नहीं जायगी। साहित्य में भावनाओं, धारणाओं, विचारों, आदर्शों, उद्देश्यों, मन्तव्यों; अनुभूतियों, व्यवहारों, प्रणालियों आदि के मिले-जुले, प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित प्रवाह जिसको मनोभूमि (या अगर यह बहुत गतिहीन रूपक लगे तो 'मनःप्रवाह') कहते हैं, उसे सजीव और सशक्त रूप में देखने और समझने की अभ्यासी हिन्दी आलोचना नहीं हुई है।

प्रसाद-प्रेमचन्द की युगभूमि को मैंने संघर्ष या द्वन्द्व न कहकर सन्तुलन का नाटक इसलिए कहा है कि वस्तुतः यह चरम द्वन्द्व था भी नहीं, और उस युग की मानसिक अवस्था में हो भी नहीं सकता था। आख़िरकार हिन्दी साहित्य के दूसरे केन्द्र इलाहाबाद में दोनों धाराएँ बिल्कुल मिली-जुली दिखती हैं। यहाँ उतना भी पृथक्करण नहीं हुआ। निराला और महादेवी का गद्य और काव्य अप्रत्यक्ष रूप से एक धारा से निकलकर दूसरे में प्रवाहित होता रहता है।

आज़ादी का संघर्ष किसी भी देश के लिए नैतिक भी होता है और शक्तिपरक भी। स्वातन्त्र्य न सिर्फ़ हमारी नैतिकता की आधार-भूमि होती है, बल्कि हमारी प्रभुत्व-सम्पन्नता भी। इसीलिए आज़ादी की कोई भी माँग हमारे नैतिक मन को तो अपील करती ही है, हमारी कल्पना को भी उत्तेजित करती है। मानवीय कर्तव्य और अधिकार दोनों की ही धाराएँ स्वाधीनता के चरम आकर्षण की धाराएँ बनीं, जैसा हर क्रान्ति में होता है।

छायावाद की चर्चा में अक्सर योरप के रोमांटिसिज़्म का नाम चपका दिया जाता है। मैंने भरसक हिन्दी के सत्याग्रह-युग के साहित्य पर रोमांटिक विशेषण लगाने से परहेज़ किया है। क्योंकि योरप की अट्ठारहवीं सदी के

अन्त और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में—फ्रेंच क्रान्ति की गोद में—जिस मानसिक उद्वेलन को आजादी मिली, उसके स्वप्नों का केन्द्र प्रधानतः प्रभुत्व-सम्पन्न, शाक्त या सत्ताभिलाषी है। यह सही है कि हर क्रान्ति, जैसा ऊपर कहा गया, नैतिक और शाक्त, दोनों तत्त्वों के सम्मिश्रण की भूमि होती है। लेकिन योरप की क्रान्ति—फ्रेन्च और रूसी दोनों ही—प्रधानतः शक्ति के अजस्र स्रोत के विशाल विस्फोट की ही चकाचौंध करने वाली ज्योति है। ट्राट्स्की कहता है कि क्रान्ति एक ऐसी विस्फोटक ज्वाला है जिसकी उद्दाम ज्योति के आगे नैतिकता-अनैतिकता के प्रश्न छोटे और छिछले मालूम पड़ने लगते हैं। अगर हम सत्याग्रह-युग के मानसिक उत्तर को शब्दबद्ध करें तो कह सकते हैं कि नैतिकता का उदात्तीकरण एक ऐसा विराट प्रभामण्डल है जिसके आगे सत्ता और शक्ति, क्रान्ति अथवा क्रमिक विकास के प्रश्न गौण हो जाते हैं। ऊपर हमने गाँधी जी का जो कथात्मक उद्धरण दिया, उसका आन्तरिक आशय यही है। योरपीय रोमांटिक कवियों ने मानवीय शक्ति के विस्फोट में नैतिकता के विलयन में स्थूलतम से लेकर सूक्ष्मतम क्षणों को पकड़ने की कोशिश की है। हिन्दी के छायावादी काव्य में सत्याग्रह युग की भारतीय अनुभूति की पूरी कथा हो, ऐसा तो नहीं है। लेकिन जो कुछ भी कहा जा सका है, वह प्रधानतः नैतिकता में शक्ति के विलयन की ही कथा है। निराला, पंत, महादेवी मुख्यतः नैतिकता में ही शक्ति का होम करते हैं, यह तो स्पष्ट ही है। सबसे अधिक शाक्त जयशंकर प्रसाद भी योरपीय अर्थ में रोमांटिक नहीं है। मेरी कल्पना में इस समय प्रसाद के चरित्र आ रहे हैं: स्कन्दगुप्त, चाणक्य, मनु···ये सब नैतिक प्रत्यंचा पर चढ़े हुए शक्तिवाण ही तो हैं। रोमांटिसिज़्म और छायावाद का साम्य उन एनर्जी में है जो मॉरल विज़न और इमेजिनेटिव विज़न के साथ-साथ भभक उठने से पैदा होती है, लेकिन दोनों तत्त्वों का अनुपात इन दोनों मनोभूमियों में बहुत भिन्न है, बल्कि हम कह सकते हैं कि परस्पर विलोम भी है। इसलिए दोनों का प्रकाश भिन्न है। इस भिन्नता को ध्यान में रखकर ही हम रोमांटिसिज़्म की शब्दावली का व्यवहार छायावाद के संदर्भ में कर सकते हैं।

जिस तरह छायावाद युग की चरम आस्था यह है कि अन्तर्जगत् का सत्य और बहिर्जगत् का सत्य एक ही है और दोनों में कभी भी व्यवधान नहीं पैदा हो सकता, उसी तरह उसकी मान्यता की दूसरी आधारशिला यह है कि नैतिक विज़न और कल्पनाशील विज़न दोनों वस्तुतः एक हैं और इन दोनों में कभी भी दरार नहीं पड़ सकती। इस प्रकार महत् की महत्ता में एक अभूतपूर्व

सहज आकर्षण शक्ति-उत्पन्न हो जाती है। राष्ट्रीय संघर्ष के स्तर पर नैतिक और कल्पनाजन्य महत्ताएँ राष्ट्रीय नेतृत्त्व की महत्ता में घुल-मिल कर एकाकार हो जाती हैं। छायावाद की हर रचना एक ही साथ नैतिक भी है, कल्पनात्मक भी है और राजनैतिक भी है। इससे काव्य में अर्थ और लय की गूँज-अनुगूँज की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए प्रसाद का 'बीती विभावरी जाग री' या निराला का 'राम की शक्तिपूजा' का पंत या 'धूम धुँआरे काजर कारे' या महादेवी का 'जाग तुझको दूर जाना'······एकसाथ हा नैतिक, कल्पनात्मक और राजनैतिक स्तरों पर झंकृत होता है। यही दशा प्रेमचन्द के उपन्यासों की, विशेषतः 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' की है। लेकिन नैतिक और कल्पनात्मक तत्त्वों की यह मैत्री अपने सम्मिलित बोझ को एक ही झंकार में बहुत दूर तक नहीं सँभाल पा रही है, इसका संकेत तो प्रसाद-प्रेमचन्द कटाक्ष-गाथा में ही मिलने लगता है। पछुआ और पुरवैया दोनों को मिलाकर कब तक आषाढ़ का पहला दिन रहेगा? ये अनुभूतियाँ खण्डित भी हुईं, और उन्हें फिर से समन्वित करने का प्रयास भी आज हो रहा है, लेकिन इस बीच में मनुष्य की परिभाषा—या यों कहें कि सहज मनुष्य की परिभाषा—को बदल देने की ज़रूरत पैदा हो गयी। एक नया समन्वय नये स्तर पर ही सम्भव हो सकता है।

दार्शनिक मुद्रा, विराट् नाटकीयता, और नैतिक तथा कल्पनात्मक स्वप्नलोकों का विशिष्ट अनुपात में सम्मिश्रण, इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्व भी हैं जो उस युग की मनोभूमि का निर्माण करते हैं। ये दोनों हिन्दी की अपनी विशिष्ट स्थिति से उपजते हैं। एक तो यह है कि हिन्दी की जिस भाषा को काव्य-मुखर करने का संकल्प छायावाद-युग ने किया था, उसे अपना तोतलापन छोड़े हुए बहुत दिन नहीं हुए थे। ब्रजभाषा और उर्दू, दोनों ही से समान विद्रोह करके ही इस साहित्य का जन्म हो रहा था। दूसरे, हिन्दी का स्वयम् का एक 'संसार' था। यह 'संसार' इस रूप में समूचे भारत से छोटा था कि हिन्दी का साहित्य भारत का एकमात्र साहित्य नहीं था। इसमें तो हिन्दी की गति बँगला, मराठी आदि के समान थी। लेकिन एक अर्थ में हिन्दी का 'संसारत्व' अन्य भाषाओं से कुछ अधिक कठिन दबाव महसूस कर रहा था। स्वयं हिन्दीभाषी प्रदेश में हिन्दी के अतिरिक्त दो सांस्कृतिक 'संसार' और थे: एक तो उर्दू का; और दूसरा अंग्रेज़ी शिक्षितों या रुचि-सम्पन्नों का। ये दोनों 'संसार' समाज के शासक वर्ग में से थे और इनका 'प्रेशर' हिन्दी के विरुद्ध ही पड़ता था। यह ऐसी स्थिति थी जो बँगला, मराठी या तमिल में नहीं थी। ये दोनों ही तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इनका प्रभाव हिन्दी की

मनोभूमि पर क्या पड़ा, यह अलग विश्लेषण का विषय है। आशा है इस ओर आलोचकों का ध्यान जायेगा। हमारे सामने जो प्रश्न है, उसमें हम इतना नतीजा जोड़ सकते हैं कि इनमें से पहला तत्त्व—भाषा की समस्या, जो मूलतः एक टेक्निकल समस्या है—संस्कृत शब्दावली के माध्यम से मनोभूमि को क्लासिकल और ऐब्स्ट्रैक्ट बनाती है; दूसरा तत्त्व—हिन्दी के संसारत्व की सीमा—उस 'विद्रोही' स्वर को जन्म देता है जो उसे रोमांटिसिज़्म के निकट लाता है। कुल मिलाकर पूरे देश की अनुभूति के समस्त उतार-चढ़ावों को ग्रहण करने और भाषा में व्यक्त करने की क्षमता में कमी आती है। प्रौढ़ भाषा की अवस्था में उस समय की अनुभूति की अभिव्यक्ति ज़्यादा सूक्ष्म, ज़्यादा विविध, ज़्यादा जटिल होती और इतना अधिक ऊबड़-खाबड़ रिक्त स्थान भी न छूटता। जैसी स्थिति है, उसमें अनुभूति के सरलीकरण की प्रवृत्ति अधिक है—जटिलता और विविधता अपरिचित और अजनबी मालूम पड़ती है। आज जब हिन्दी का पाट बहुत बढ़ गया है, तब भी हिन्दी के लेखकों में 'बिरादरीपन' का अभाव खटकने की शिकायत कभी-कभी सुनाई पड़ जाती है। हिन्दी का 'संसारत्व' अभी भी पूरी तरह नहीं टूटा है। कहने को मनोभूमि 'आधुनिक' हो गई है। नयी कविता की तथाकथित 'आधुनिकता' में हिन्दी के 'संसारत्व' का दबाव कौन-कौन से 'म्यूटेशन्स' (संशोधन) पैदा करता है? जहाँ तक छायावाद का सवाल है, उसने एक तरह की शिशु-आस्था का आयाम जोड़ा जो ऐब्स्ट्रैक्ट संस्कृत शब्दावली से पुष्ट हो गया। इससे अधिक विश्लेषण इस लेख में संभव नहीं है।

ये सारे तत्त्व मिलकर यथार्थ और आदर्श—लघु और महत्—के सम्बन्ध के प्रति, एक विशेष दृष्टि को जन्म देते हैं। कहा गया है कि छायावाद ने यथार्थ का तिरस्कार करके हवाई या स्वप्नदर्शी उड़ान में निकल भागना चाहा। इसको 'पलायनवादी' दृष्टि भी कहा गया है। इस ढंग से कभी-कभी कवियों की तुलना में प्रेमचन्द को यथार्थवादी या यथार्थ के निकट कहा गया है। वस्तुतः प्रेमचन्द, प्रसाद और दूसरे छायावादी कवि समान मनोभूमि पर स्थित हैं। इनके वर्ण्य विषय अलग-अलग हैं, और होना स्वाभाविक भी है। वे यथार्थ का तिरस्कार नहीं करते। यथार्थ के प्रति उनकी एक दृष्टि है। वे यथार्थ को मूलतः अपरिभाषित, निर्माणातुर, अविरोधी, कच्ची और गीली मिट्टी की तरह देखते हैं, जिस पर आदर्श की कोई मुहर लगाई जा सकती है, जिसको किसी भी शकल या रूप-रंगत में मोड़ा जा सकता है। जिस तरह अन्तर्जगत् का सत्य बिल्कुल अपने हाथ का है, उसे हम जिस स्वप्न के आकार

का चाहें गढ़ सकते हैं, उसी तरह बहिर्जगत् का सत्य भी है, एक ही जादू दोनों को ही मन मुताबिक़ गढ़ता चलता है। संक्षेप में, कटु यथार्थ, कठोर यथार्थ, ऐसा यथार्थ जिसके आगे हमें अपनी इच्छाओं को दबाना पड़े, या जो हमारे आन्तरिक सत्य के आगे हमें अभेद्य अड़चन-सा बनकर खड़ा हो जाय जिससे हमें 'समझौता' करना पड़े—इस तरह के यथार्थ की कल्पना न छायावादी काव्य में ही है, न आरम्भिक प्रेमचन्द में ही है। या है भी तो बहुत गौण। एक बार जब नैतिक या कल्पनात्मक 'विज़न' की आँच पड़ती है तो यथार्थ में एक नाटकीय परिवर्तन होता है—और वह रेशे-रेशे, कण-कण में व्याप्त हो जाता है—इस तरह कि यथार्थ की यथार्थता का एक चिह्न भी शेष नहीं रह जाता; जिस तरह एक बार आश्रम खुल जाने पर वेश्या के वेश्यात्व का कोई निशान भी बाक़ी नहीं बचता। काव्य में तो नैतिक या कल्पनात्मक 'विज़न' की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता स्वयंसिद्ध है ही, स्वयं प्रेमचन्द में यथार्थ की मिट्टी कितनी गीली है और कितने असम्भव रूपों तक में ढल सकती है, इसका अनोखा उदाहरण उनका वह अद्भुत उपन्यास 'कायाकल्प' है जो शिशु-आस्था का एक अप्रत्याशित दृश्य ही हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है।

इसलिए छायावादी युग का लघु प्रतिक्षण महत् में विसर्जित या विलीन हो जाने को आतुर है। या हम यों कहें कि छायावादी दृष्टि उसे उस आतुरता के क्षण में ही पकड़ती है। उससे पहले, या उसके तले, वह देखती ही नहीं। उसके लिए 'लघु' का कोई साकार, ठोस, प्रतिरोधी रूप प्रस्तुत ही नहीं होता। मानव या तो महामानव है, या है ही नहीं। चाहे यह महामानव प्रधानतः नैतिक हो या कल्पनात्मक। इसमें शक नहीं कि छायावादी दृष्टि में एनर्जी और अनुगूँज है, क्योंकि हर तरह का विसर्जन एनर्जी को जन्म देता है, लेकिन मनुष्य की प्राणशक्ति का यही एक मात्र दिग्दर्शन नहीं है।

मैं यह नहीं कहता कि लघु-महत् के सम्बन्ध की यह दृष्टि असम्भव है, या गौण है। मनुष्य के ऊपर जो कुछ गुज़रा, जिसने भी उसके आकार की सृष्टि की, वह छोटा से छोटा भी न असम्भव है, न गौण है। लेकिन क्या यह कहने की ज़रूरत है कि इस दृष्टि के अलावा भी दृष्टियाँ हो सकती हैं कि मनुष्य उल्का पिण्ड की तरह मात्र भस्मसात् होता हुआ पुतला मात्र ही नहीं है? हम यह भी देख सकते हैं कि छायावादी दृष्टि की विशेषता एक युग से उपजी थी, उसके अन्दर हमको आकर्षित करने वाली मुद्रा उस युग से ही मिली थी। साहित्य या कला का पहला काम यह है कि वह हमें यह आश्वस्त करे कि वह जो कुछ कह रही है, वह सत्य है 'सत्यता' का यह

आभास हम मात्र ऊपरी आवरण की छानबीन से नहीं कर पाते। उसमें हम वह अनाम, अपरिभाषिकीय वस्तु भी शामिल करते हैं जिसे आवाज़ की मुद्रा कहते हैं—जिस तरह ज़िन्दगी में भी हम आदमी के कहने के ढंग से अनुमान करते हैं कि वह सच कह रहा है या झूठ। इस 'टोन' की उत्पत्ति युग से ही होती है। ज़िद करके उस टोन को नहीं पकड़ा जा सकता और टोन बदल जाने पर वे बातें सत्य भी नहीं लगतीं जो पहले टोन में सत्य मालूम पड़ती थीं। यह विलेश्षण करना सम्भव है कि लघु-महत् के सम्बन्ध में, न सिर्फ़ हिन्दी में युग-परिवर्तन हुआ, बल्कि उसी तरह हिन्दी काव्य का टोन भी बदला और हिन्दी साहित्य ने नये ढंग से उस सम्बन्ध को देखने की कोशिश की। इस दृष्टि से नयी कविता और छायावाद के बीच की भी एक मंज़िल है जिसके प्रमुख स्वर बच्चन, भगवतीचरण वर्मा और दिनकर आदि हैं जिन्हें बीसवीं सदी के तीसरे दशक की अभिव्यक्ति मान सकते हैं।

Was it for this that our people had behaved so gallantly for a year? Were all our brave words and deeds to end in this? The independence resolution of the Congress, the pledge of Jan '26, so often repeated? So I lay and pondered on that March night and in my heart there was a great emptiness as of something precious gone, almost beyond recall.

"This is the way the world ends
Not with a bang, but a whimper."

—*Jawaharlal Nehrn : Autobiograp by.*

पंडित नेहरू के इन शब्दों के साथ हिन्दुस्तान में बीसवीं सदी का तीसरा दशक शुरू होता है। मार्च की रात ५ मार्च, १९३१ की रात है और यह प्रतिक्रिया है दिल्ली में इसके एक दिन पहले हुए गांधी-इरविन समझौते की। ऊपर से सब कुछ वैसा ही था, वैसा ही रूप-रंग, वैसी ही तरंगें, वैसा ही संघर्ष, वैसे ही लोग, वैसे ही शब्द, लेकिन पंडित नेहरू के शब्दों में, मन में एक विराट् रिक्तता आ गई, जैसे कुछ बहुत मूल्यवान हमेशा-हमेशा के लिए चला गया। इस मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के लिए इलियट की प्रसिद्ध पंक्तियों का उद्धृत किया जाना आज एक विचित्र-सा प्रभाव मन पर छोड़ता है। मेरे देखने में इलियट का यह पहला उल्लेख है। (इलियट का उल्लेख हिन्दुस्तान में सबसे पहले कब और कहाँ हुआ? कोई विद्वान् अन्वेषक इस पर प्रकाश डालेंगे? पंडित नेहरू की आत्मकथा १९३६ की लिखित है।) हिन्दुस्तान के

किस विशिष्ट मानस का साम्य इलियट से बैठा ? आगे चलकर इस कवि का नाम सिर्फ़ हिन्दी ही नहीं, भारत की सभी भाषाओं में साहित्यिक विवादों के केन्द्र में स्थापित हो गया जिसकी प्रतिध्वनियाँ अभी कुछ दिन पहले तक सुनाई पड़ती रहीं। भारतीय मानस अथवा हिन्दी मानस ने इलियट का क्या उपयोग किया ?

हमारा उद्देश्य यहाँ हिंदी में इलियट की कल्पित या अर्धकल्पित मूर्ति के उपयोग की छानबीन करना नहीं है, इसलिए इस रोचक प्रसंग को छोड़कर हम हिन्दी के तीसरे दशक की ओर ही ध्यान केन्द्रित करें, जहाँ ऊपरी ढाँचा वैसा ही रहते हुए भी, भीतर से मनोभूमि में परिवर्तन आ गया। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, दिनकर, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, नरेन्द्र शर्मा आदि ने वह आरम्भ किया जिसे आलोचकों ने छायावाद का दूसरा दौर कहा है। इसे हम छायावाद का शेषांश भी कह सकते हैं या नयी कविता' का आरम्भ भी। यह सही है कि यदि हम इन कवियों और लेखकों को ध्यान से देखेंगे तो छायावाद और 'नयी कविता' के बीच दुर्लंघ्य खाईं के बजाय एक क्रमशः विकसित होती हुई परम्परा दिखलाई पड़ेगी और छायावाद के 'महामानव' और आज के 'लघुमानव' के बीच इतनी सख़्त फ़ौजदारी होती हुई भी नहीं मालूम पड़ेगी।

सुविधा के लिए हम चाहें तो तीसरे दशक द्वारा परिभाषित मानव का भी नाम रख सकते हैं। वस्तुतः उसके आशय को व्यक्त करने की शब्दावली उस युग ने ख़ुद ही चलाई थी। बच्चन की मधुशाला में जाने वाला यात्री, भगवतीचरण वर्मा का बीजगुप्त या दिनकर का कभी रस खोजने वाला, कभी अंगारों पर चलने वाला आदमी - ये सब एक विशेष अर्थ में 'साधारण' आदमी हैं। उस समय के बहुप्रचलित शब्द को लें तो 'जनसाधारण' हैं। जिन्हें पारिभाषिक और आग्रहपूर्ण शब्दों से प्रेम हो, वे 'महामानव' और 'लघुमानव' के वज़न पर 'साधारण-मानव' का नामकरण कर सकते हैं। मैं थोड़ी ढीली शब्दावली में बड़े परिवेश में बड़े आदमी की कविता, छोटे परिवेश में छोटे आदमी की कविता, साधारण परिवेश में साधारण आदमी की कविता कहना पसन्द करूँगा। क्योंकि जैसा मैंने पहले ही कहा है, ये कल्पना-चित्र मूलतः आलोचना और विश्लेषण के औज़ार है, कृतिकारों के आदर्श और उद्देश्य नहीं। उनकी कसौटी यही है कि वे जीवन और साहित्य के विराट् और प्रमथित कर देने वाले उतार-चढ़ाव में कोई पैटर्न, कोई डिज़ाइन, कोई तारतम्य या संगति देखने में मदद कर सकते हैं या नहीं। उनकी सच्चाई इस

कारण होती है कि जाने या अनजाने, अधिकतर अनजाने, कृतिकार मनुष्य को परिभाषित करता चलता है—सहज मनुष्य की अपनी विशेष छवि देखने के लिए वह तब तक बाध्य है जब तक उसकी कल्पना और अनुभूति का केन्द्र मनुष्य है।

साधारणता के साथ बच्चन और उनके समकालीन कवि 'सहजता' का खास तौर से आभास देते हैं। एक बहुत दुहराया हुआ फ़िकरा यह है कि 'मनुष्य की अपनी सीमाएँ होती हैं।' इन सीमाओं के साथ या वस्तुतः इन सीमाओं के कारण ही उस युग के कृतिकार सहज आदमी का रूप खड़ा करते हैं जो दूसरे दशक के रूप से भिन्न है। बच्चन का पीने वाला सहज इसलिए है कि किसी को पीड़ा नहीं देता, बढ़-बढ़ कर बातें नहीं करता, जिन पर अपना अधिकार नहीं, उन बातों की चर्चा नहीं करता, उसका सबसे बड़ा शत्रु उसका छलरहित व्यवहार है, लोग उसे ग़लत समझते हैं, लेकिन दिल से वह ईमानदार और हमदर्द है। उसी तरह बीजगुप्त भी एक विशेष ढंग से 'सहज' आदमी है। उसकी सहजता की प्रतीति का कारण भी उसकी आडम्बरहीनता, निश्छलता, ईमानदारी और हमदर्दी है जो उसकी सारी सीमाओं के बावजूद, या यों कहें कि उन सीमाओं के कारण हैं। उसे भी बच्चन के पीने वाले की तरह ग़लत समझा जाता है। 'चित्रलेखा' उपन्यास की बहस भोग और योग को लेकर है। भोग में एक सहजता है—क्योंकि वह साधारण मनुष्य का अनिवार्य धर्म है—इसी कारण जहाँ कुमारगारि के चरित्र में ऐंठन अथवा तनाव दिखता है, वहाँ बीजगुप्त सीधा और सहज जान पड़ता है।

यह तसवीर सतही है और मैं आशा करता हूँ कि विचारवान पाठक को ठीक भी मालूम पड़ेगी। लेकिन छायावाद-युग के जो लक्षण हमने पहले अन्वेषित किये, उससे इस तसवीर का जोड़ किस तरह बैठता है? लघु और महत्, यथार्थ और आदर्श, परिवर्तन और नाटकीयता, शिशु-आस्था और दार्शनिक मुद्रा—इन सब का स्वरूप और सम्बन्ध किस प्रकार इस नये चित्र में प्रतिफलित होता है? इसके लिए हमें थोड़ा और गहरे प्रवेश करना पड़ेगा।

लेकिन इस विवेचन के पूर्व ग़लतफ़हमी दूर करने के लिए दो-एक बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। इस संक्षिप्त लेख में उस युग के सभी कवियों या गद्य-लेखकों का विश्लेषण करना सम्भव नहीं है। केवल विषय से सम्बन्धित मनोभूमि की मौलिक बनावट के सामान्य रूप ही हम देखेंगे। इसलिए उदाहरण के लिए हम प्रायः दो लेखकों को लेंगे : बच्चन और भगवतीचरण वर्मा। दोनों ही 'लोकप्रियता' में बेजोड़ हैं। कहते हैं कि किसी समय देवकीनन्दन

खत्री ने 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' लिख कर हज़ारों (या लाखों ?) लोगों को उर्दू छोड़कर हिन्दी पढ़ने को विवश कर दिया था। कविता में यदि उस क्रान्ति का कोई जोड़ है तो वह बच्चन की 'मधुशाला' है। अधिक से अधिक पाठकों को सामयिक कविता का चस्का लगाने का श्रेय जितना अकेले बच्चन को है, उतना किसी अन्य कवि को नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। उसी अनुपात में पिछले अस्सी वर्षों में कविता का जितना व्यापक शौक़ तीसरे दशक ने पैदा किया, उतना शायद किसी अन्य युग में सम्भव नहीं हुआ। गद्य के क्षेत्र में आज भी भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' अपराजित है। इसलिए, युग की प्रधान रुचि और मानव-सम्बन्धी कल्पना की रूपरेखा हमें इन लेखकों में मिल जायगी। स्थूलत: बच्चन और भगवतीचरण वर्मा में हमारी दृष्टि से वे सभी उपलब्धियाँ और अभाव, विस्तार और सीमाएँ मौजूद हैं जो तीसरे दशक की अपनी हैं। बेशक, इस विशिष्ट रूपरेखा के अनगिनत रंगारंग हैं जो अलग-अलग कवियों में हैं। मनुष्य कभी परिभाषाओं में बाँधा नहीं जा सकता। किन्तु जहाँ तक कोई भी युग उसे परिभाषित कर सकता है, वहाँ तक वे सारे रंगारंग उसी केन्द्रीय चित्र के चारों ओर दिखलाई पड़ते हैं।

दूसरे, हमारा उद्देश्य कवियों की श्रेष्ठता की छानबीन करना नहीं है, बल्कि कृतियों के तल में काम करती हुई मनोभूमि का विश्लेषण करना है। दुःख है कि हिन्दी आलोचना ने साहित्यकार को समझने से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण उसकी प्रशंसा-निन्दा करना समझा है। अधिकांश पाठकों की आदत कम से कम कुछ ऐसा ही सुनने की पड़ गई है। परिणाम यह है कि प्रशंसा-वन्दना तो हम कर सकते हैं, लेकिन काव्य की सीमारेखा निर्धारित करने से हम कतराते हैं। भारत-माता की जितनी प्रशंसा-वन्दना हमने सीखी, उतनी जागरूकता हमें हिन्दुस्तान की चौहद्दी के प्रति भी होती तो शायद आज की बहुत-सी समस्याएँ हमें नींद में सहसा आघात लगने जैसी न मालूम होतीं। जगबीती नहीं तो आपबीती से ही इतिहास सिखलाता है। हमारी श्रद्धा-भक्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग सीमारेखा की सचेत जागरूकता (frontier-consciousness) भी है, शायद आज इसे आग्रहपूर्वक सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं है। इसकी पीड़ामय चेतना आज किसको नहीं है। देश और साहित्य की यह परस्पर समानता हम सिर्फ़ तर्क-चमत्कार के लिए नहीं दिखला रहे हैं। वस्तुतः सीमा-रेखा की जीवन्त जागरूकता (frontier-consciousness) मन और बुद्धि के संघटन के एक विशेष स्तर की माँग करती है जो प्रशंसा-वन्दना के स्तर से भिन्न है, चाहे इस संघटन का उपयोग देश की कल्पना में हो, या तर्क में, या

दर्शन में, या आलोचना में, या काव्य-बिम्बों में। दुर्भाग्य से हिन्दी का 'सीमा' शब्द संकोच या अभाव सूचित करता है, जबकि उसका अंग्रेज़ी पर्याय frontier विस्तार-सूचक है। विचारों की सीमा, कल्पना की सीमा, बिम्बों की सीमा, मनोभूमि की सीमा, संस्कृति की सीमा (frontiers of thought, concepts, images, sensibility, culture) आदि से हमारा तात्पर्य सिर्फ़ इतना ही नहीं होता कि इनमें क्या चीज़ें शामिल नहीं हैं, बल्कि साथ ही साथ यह भी कि इनका फैलाव कहाँ तक है। कहने की शैली हमारी जो भी हो, बहुत गम्भीर अर्थ में किसी कृतिकार या युग को 'समझना' उसकी वन्दना करने से ज़्यादा बड़ा काम है और सचमुच बड़ा लेखक, अगर उसमें कुछ भी दम है तो अभिनन्दित होने से अधिक 'समझा जाना' पसन्द करेगा। अभिनन्दन की प्यास दिमाग़ी दुकड़ेपन की द्योतक है। कहने की ज़रूरत नहीं कि 'समझने' की एक (एकमात्र नहीं) अनिवार्य प्रक्रिया सीमारेखा का निर्धारण है।

इस भूमिका के साथ हम मन में महसूस होने वाली उस विराट् रिक्तता की ओर देखें जिसका एहसास पंडित नेहरू को हुआ था। क्योंकि यह विराट् रिक्तता सिर्फ़ नेहरू की नहीं, उस युग में पूरे देश की केन्द्रीय समस्या है जिसका उत्तर देने की, या जिस पर भावनात्मक विजय प्राप्त करने की कोशिश उस युग की हिन्दी कविता करती है और जिस प्रयास में 'साधारण मानव' का रूप निर्मित होता है। बच्चन के मधुपायी में वह रिक्तता है, भगवतीचरण के बीजगुप्त में भी वह रिक्तता है, प्रगतिवादी चीख़ में भी वह रिक्तता है; इतना ही नहीं, उसी युग में लिखी गयी प्रसाद को 'कामायनी' के मनु में भी वही रिक्तता है, जो कहीं गहरे गुंजलक मार कर बैठी है। 'कामायनी' का पूरा दर्शन, पूरा विराट् फैलाव उस एक रिक्तता की दार्शनिक और कल्पनात्मक कंचन से भर देने की कोशिश है। यह रिक्तता ही प्रेमचंद के 'गोदान' को ट्रैजेडी नहीं, बल्कि एक धुँधने प्रश्न-चिह्न में विलीन कर देती है। बेशक प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला और पन्त इस रिक्तता का समाधान अन्य कवियों से अलग ढंग पर खोजते हैं। उनकी पूँजी वही है जो उन्हें दूसरे दशक में मिली थी। आगे चलकर वह रिक्तता बढ़ती गई और कवियों का स्वर बदलता गया, जैसा आजकल है। दुर्भाग्य या सौभाग्य से प्रसाद, प्रेमचन्द या निराला को पुरानी मनोभूमि से इस नयी अनुभूति का सामना करने की ज़रूरत बहुत नहीं पड़ी। हम नहीं जानते कि यदि काल ने उन्हें अवसर दिया होता तो वे काव्य या कला के, और साथ ही मनुष्य के कौन से नये स्तर उद्घाटित करते। समय ने इसका दायित्व पन्त जी पर छोड़ा। और तीसरे दशक के बाद से

लेकर आज तक पन्त जी का काव्य छायावादी मनोभूमि में नई अनुभूति को 'फ़िट' करने का एक विराट्—हीरोइक—प्रयास है। हम उनकी इस शक्ति-शाली वीरता की तारीफ़ किये बिना रह सकते; लेकिन उनके भीष्म-संग्राम की छवि करुण भी है; इसलिए भी कि इस संग्राम का रूप अन्तर्द्वन्द्व का है। विशेषत: इसलिए कि इस लड़ाई में जब उन्हें अपनी आस्था और कविता इन दोनों में से एक को तिलांजलि देना पड़ा तो उन्होंने काव्य को ही छोड़ देना स्वीकार किया, आस्था को नहीं। पन्त जी के परवर्ती काव्य में आस्था जितनी हठी होती गई है, 'कविता' उतनी ही क्षीण; इस ओर आलोचकों ने ध्यान अक्सर आकर्षित किया है, यद्यपि इस अद्भुत अन्तर्विरोध की जड़ में जाने की कोशिश कम की गयी है। पन्त जी के आरम्भिक काव्य के आधार पर उनकी तुलना अंग्रेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ से कभी-कभी की गई है। इतिहास के अद्भुत चमत्कारों में से क्या यह भी है कि यह समानता पन्त की बाद की कविताओं और वर्ड्सवर्थ की बाद की कविताओं में भी स्थापित होती चली जायगी ?··· ऐसा क्यों हुआ ? छायावादी मनोभूमि उस आन्तरिक रिक्तता के इन्कार पर खड़ी होती है। विपरीत युग में, पन्त जी का सारा प्रयास कभी हताश, कभी प्रार्थना स्वरों में उस रिक्तता का सामना करने के बजाय, उसकी सत्ता से इन्कार करने का है। वह उसे हिरण्य मंत्रों से भर देना चाहते हैं। लेकिन वह रिक्तता उतनी ही विराटता के साथ उनके काव्य के चारो ओर व्याप्त हो जाती है। यही उत्तर वर्ड्सवर्थ के साथ हुआ, जो अन्त तक बदले हुए युग से पुराने आयुधों से लड़ता रहा। यह विडम्बना उत्तर पन्त की भी है। वैभवपूर्ण अतीत और हठी वर्तमान। कल्पना-शिशु राजयोगी बना और राजयोगी धीरे-धीरे हठयोगी बनता गया। प्रकृति से अरविन्द, और अरविन्द से काष्ठमौनी बाबा·········

> '······and in my heart there was a great emptiness as of something precious gone, almost beyond recall.'

इस नयी परिस्थिति का प्रतिफलन दूसरे दशक के अन्य लेखकों, विशेषत: प्रसाद और प्रेमचन्द में किस प्रकार हुआ ? संकेतत: यहाँ हम इतना कह सकते हैं कि प्रसाद जी इस रिक्तता को ज्ञान, क्रिया, इच्छा की भिन्नता के रूप में देखते हैं। क्या यह बिल्कुल ठीक विश्लेषण है। क्या मनु की आन्तरिक रिक्तता का उत्तर समरसता का दर्शन है, या श्रद्धा है या एक नई सृजनात्मक पीड़ा है ? सबके बाद, क्या प्रसाद जी 'कामायनी' में काव्यात्मक अनुभूति को दार्शनिक रिक्तता से बचाने में सफल हुए हैं जिसने वर्ड्सवर्थ और पन्त से बारम्बार

बदला लिया ? इन प्रश्नों का उत्तर हम पाठकों पर छोड़ते हैं। शायद इस नयी परिस्थिति का सबसे सार्थक मुक़ाबला, सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा, पुरानों में प्रेमचन्द ने किया जिसका प्रमाण 'गोदान' है। क्या यह इस कारण था कि उनकी मनोभूमि गाँधी के अधिक निकट थी ? एक तरह से स्वयं गाँधी जी ने अपने सत्यान्वेषण की प्रणाली से नये युग का सामना तो किया ही। कहते हैं कि वे अक्सर घोषित करते थे कि मैं अपने चारों ओर अन्धकार देख रहा हूँ। प्रकाश देखने के लिए, आँखों को अन्धकार देखने की भी शक्ति होनी चाहिए। वस्तुतः छायावाद-युग के अन्तर्ध्वनित सत्य के दो प्रकाश-स्तम्भों—रवीन्द्रनाथ और गाँधी जी—में यही अंतर था : रवीन्द्रनाथ की आँखें आत्मा का प्रकाश तो देख सकती थीं, परन्तु अन्धकार नहीं, जब कि गाँधी जी अन्धकार से भी आँखें मिला सकते थे। सम्पूर्णतः हिन्दी कविता पुरवैया के अधिक निकट है और हिन्दी गद्य पछुआ के, ऐसा रूपक हमने पहले बाँधा है। जो भी हो, 'गोदान' में प्रेमचन्द की प्रकाश-अभ्यस्त आँखें हिम्मत करके अन्धकार को देखने की कोशिश कर रही हैं और यह एक ऐसी अनुभूति है जिसे छायावादी कवियों ने स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया, 'कामायनी' के प्रसाद ने तो बिल्कुल नहीं। प्रेमचन्द-प्रसाद विवाद में इस दृष्टि-विपर्यय का क्या योगदान था ? काश, हम जान सकते !

छायावादी शेष चिह्नों को छोड़कर हम तीसरे दशक के इन कवियों की ओर आकृष्ट हों जो इस युग के मानस-पुत्र थे। ऊपर हमने छायावादी मनोभूमि की तन्मय एकाग्रता और एकसाथ ही कई स्तरों—आध्यात्मिक, नैतिक, कल्पनाशील, राजनैतिक—पर ध्वनित होने की शक्ति का उल्लेख किया है। एक वाक्य में हम अगर कहना चाहें तो रिक्तता का मतलब यह था कि मनोभूमि की यह तन्मय एकाग्रता खण्डित हो गई। जो लहर पूरे कसाव और उन्माद के साथ पिछले दस-बारह वर्षों से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गति से उठी थी, यह जैसे अपनी चरमता पर पहुँच कर किसी चट्टान से टकराई और छितरा गई। तनाव ढीला हो गया और बूँदें बिखर गईं। इन बिखरी हुई बूँदों में चमकता हुआ इन्द्रधनुष बच्चन, भगवतीशरण वर्मा, दिनकर, नवीन, सुभद्राकुमारी, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, शिवमंगलसिंह सुमन आदि का ख़ुमारी और जवानी का काव्य है।

इस खण्डित लहर के कुछ टुकड़े तो साफ़ दिखते हैं। 'राजनैतिक' और 'कल्पनाशील' में एक तनाव पैदा हो गया और इनके बीच की 'नैतिक' कड़ी आधी इधर आधी उधर विलीन हो गयी। आध्यात्मिक मुद्रा लापता हो गई।

एक तरफ़ बच्चन जैसे कवि हैं जो जानबूझ कर राजनैतिक तमाशों से कतराते हैं; दूसरी तरफ़ ऐसे प्रगतिवादियों का जन्म होता है जो सप्रयास सजग राज-नैतिकता के आगे प्रेम और मधु के कल्पनाशील तमाशों को पलायनवादी समझते हैं। इस पर दोनों ही सहमत हैं कि ये दो नावें हैं जिन पर एकसाथ नहीं चला जा सकता। मज़ा यह है कि समुन्दर-पार से नवयुग ले आने के चक्कर में बच्चन प्रगतिवादियों से कम नहीं हैं। बच्चन इस परिवर्तन को शुष्क जड़ता से सरस चैतन्यता तक देखते हैं, प्रगतिवादी इतिहास के शिकंजे से कल्पना की मुक्ति की शकल में। यह बँटवारा मकानों के आँगन से होकर गुज़रने वाली ज़िला-रेखाओं की तरह बाज़ कवियों के भीतर से होकर निकल गया। इसके अच्छे उदाहरण नवीन हैं जिनके काव्य में दार्शनिक, राजनैतिक, और कल्पनाशील रचनाएँ पत्थर के शिला-खण्डों की तरह अलग-अलग दिखलाई पड़ती हैं, लेकिन जिनमें वह रासायनिक मिश्रण नहीं उत्पन्न हो पाता, जो आरम्भिक पन्त, प्रसाद, निराला को सहज उपलब्ध है। दिनकर के काव्य में भी ये पृथक् समूह दिखलाई पड़ेंगे, यद्यपि उनका विभाजन उतना बिखरा हुआ नहीं है जितना नवीन में।

दार्शनिक या आध्यात्मिक मुद्रा को, जो छायावादी अनुभूति की विशेषता थी, तीसरे दशक ने लबादे की तरह उतार फेंका, उसी के साथ उस गम्भीरता को भी, जो उसमें निहित थी। जो गम्भीरता को नहीं छोड़ सके, उनमें दार्शनिक मुद्रा या अनुभूति का स्थान दर्शनशास्त्र ने ले लिया। नवीन जब गम्भीर होना चाहते हैं तो 'काऽहं', 'कोऽहं', 'साऽहं', 'सोऽहं' का आवर्तन करते हैं। हमने देखा कि दर्शनशास्त्र का आग्रह पुराने छायावादियों में भी आ गया। प्रगतिवादी भी जब बहुत गम्भीर होते हैं तो मार्क्सवादी दर्शन को रचनाओं द्वारा उदाहृत करने की कोशिश करते हैं। लेकिन दार्शनिक काव्या-नुभूति में और दर्शनशास्त्र में अन्तर है। गम्भीर होकर तीसरा दशक दार्शनिक की तरह बोलता है, कवि की तरह नहीं। कवि को कवि नहीं, दार्शनिक होना चाहिए, यह मान्यता काफ़ी प्रचलित हुई और आलोचकों ने अपनी सुविधा के लिए इसको काफ़ी बढ़ावा दिया—क्योंकि काव्य में उदाहृत दर्शनशास्त्र पर आस्फालन करना आसान काम है, काव्यानुभूति की छानबीन में ग़लती हो जाने गुंजाइश ज़्यादा है।

न सिर्फ़ आध्यात्मिक मुद्रा लापता है, बल्कि उस नैतिक 'विज़न' का भी विघटन हो गया जो आरम्भिक छायावाद की विशेषता थी। बच्चन, भगवतीचरण, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा आदिक उस अर्थ में नैतिक प्रभामण्डल का

आभास नहीं देते, जिस अर्थ में पन्त, प्रसाद या निराला देते हैं। इस काव्य का प्रमुख आकर्षण :कल्पनात्मक 'विज़न' है, यदि बच्चन आदि के ख़ुमार को 'विज़न' की संज्ञा से विभूषित किया जा सके। वस्तुतः उनके पास एक स्वप्निल शक्ति-प्रवाह है। नैतिक विज़न का विलयन इस शक्ति-प्रवाह में हो जाता है। यहाँ मुझे बच्चन के 'मधुकलश' के कई काव्य-चित्र याद आ रहे हैं— 'इन्द्रधनु पर शीश धरकर बादलों की सेज-सुख पर'····'नेत्र मेरे आज सहसा तम-पटल के पार जाकर/देखते हैं रत्न सीपी से बना प्रासाद सुन्दर।' न जाने क्यों बच्चन के 'मधुकलश' की चर्चा उतनी नहीं हुई जितनी उनकी मधुशाला, 'निशा निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' की। न सिर्फ़ उस पुस्तक में उस युग की काव्यात्मक अनुभूति का काफ़ी बड़ा ख़ज़ाना है, बल्कि उस काल की प्रधान काव्यात्मक समस्याओं की कुंजी भी है जिसके बग़ैर उस युग को नहीं समझा जा सकता। यों भी, मेरी समझ में हिन्दी की लम्बी कविताओं में—जिनमें शुरू से आख़ीर तक काव्य-गुण समान रूप से वर्तमान हो—मधुकलश की कविताएँ बेजोड हैं। ख़ैर, उपर्युक्त चित्रों में हम देखेंगे कि 'शक्ति' का आभास प्रथम है। ये चित्र नैतिक भी हैं, यह सिद्ध करने का अरमान दूसरा है। नैतिकता और शक्ति के इस सम्बन्ध की दृष्टि से छायावाद का यह दूसरा दौर अंग्रेज़ी 'रोमांटिसिज़्म' के समान है और इसके कुछ लक्षण रोमांटिसिज़्म से मिलते हैं। बेशक बच्चन, दिनकर आदि में रोमांटिक कवियों जैसा भावना का तनाव और निपट गम्भीरता नहीं मिलती। वस्तुतः गम्भीरता का ह्रास इस नयी 'सहज' मनोभूमि की विशेषता है।

इतना ही नहीं, मनुष्य का मन भी खण्डित हो गया है। मन के विभाजन का आविष्कार इस युग की विशेषता है। हम देखते हैं कि चित्रलेखा का बीजगुप्त और मधुशाला का यात्री दोनों ही एक ख़ास तरह से लोगों की ग़लत-फ़हमी' के शिकार हैं। आदमी का एक ऊपरी रूप है : एक उसका अन्तर है। इन दोनों में सामंजस्य नहीं है, न हो सकता है। होता यह है कि लोग पीने वाले या बीजगुप्त के ऊपरी कलेवर को तो देखते हैं, लेकिन उसके भीतर जो 'हृदय' है, उसे नहीं देखते। विचित्र बात यह है कि ऊपरी कलेवर का संबन्ध ज्ञान, आदर्श, मर्यादा, सामाजिक नियमों से है। किन्तु यह ऊपरी कलेवर क्रूर, जड़ और कठोर है। 'असली मनुष्य' तो भीतर धड़कते हुए दिल में है जिसे बुद्धि अथवा ज्ञान या मर्यादाएँ अभिव्यक्ति नहीं दे पातीं। यह 'असली मनुष्य' हम सबके भीतर है और यही सहज मानव है। यही जब बन्धन तोड़कर आशा और निराशा के हिलकोरे खाता निकलता है तो तीसरे दशक की कविता

जन्म लेती है ।

ईमानदारी और सहजता का आधार मनुष्य के आदर्श, लक्ष्य या मर्यादाएँ नहीं हैं, बल्कि उसका 'हृदय' है । स्वभावत: 'हृदय और बुद्धि', श्रद्धा और इड़ा, प्रेम और मर्यादा, सरस और जड़ के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है । बुद्धि के पीछे लाठी लेकर जितना तीसरा दशक पड़ा, उतना कोई अन्य काल नहीं । बच्चन से लेकर दिनकर तक को बुद्धि से शिकायत है, क्योंकि बना-बनाया सरस खेल यह जड़ बुद्धि ही चौपट करती है । हम देखेंगे कि शिकायत कहाँ तक और किस अर्थ में जायज़ है । अभी हम इतना ही समझ लें कि हृदय और बुद्धि की दरार भी लहर के खण्डित हो जाने का लक्षण है । जिस अर्थ में हृदय को सहजता एवं ईमानदारी का आधार माना जाता है, उस अर्थ में हृदय न सिर्फ़ भावनाओं का रूपक है, बल्कि 'नीयत' (motive) का भी । जब हम कहते हैं कि बीजगुप्त का हृदय निश्छल है, तो हमारा मतलब है कि उसकी नीयत दुरुस्त है ।

क्या मनुष्य को हम उसके उद्देश्य में विसर्जित होते हुए देखते हैं ? क्या हम उसे नीयत द्वारा परिचालित देखते हैं ? उद्देश्य में विसर्जित होता हुआ मनुष्य 'महान्' है । नीयत द्वारा परिचालित मनुष्य 'साधारण' है । लेकिन एक और प्रश्न है : क्या नीयत और उद्देश्य एक ही वस्तुएँ हैं या दो ? यही एक प्रश्न उस काल के समस्त साहित्य में प्रेत की तरह मँडराता है । उनकी पीड़ा और उनका ख़ुमार इसमें है कि उन्हें कुछ दूर तक ये एक ही दिखलाई पड़ती हैं, लेकिन बाद में दो हो जाती हैं । वे देखते हैं कि ये दो वस्तुएँ हैं, लेकिन मेधा से, आवेश से, ख़ुमारी से, यौवन से, रोकर, आँख मूँदकर, जैसे हो, इस द्वयता को कूद जाना चाहते हैं । नीयत के बारे में तो वे कुछ जानकारी रखते हैं, लेकिन उद्देश्य—गन्तव्य—? कौन जानता है ?

> पाँव चलने को विवश थे, जब विवेक-विहीन था मन,
> आज तो मस्तिष्क दूषित कर चुके पथ के मलिन कण ।
> मैं इसी से क्या करूँ, अच्छे-बुरे का भेद भाई,
> लौटना भी तो कठिन है, चल चुका मैं एक जीवन ।
> हो नियति इच्छा तुम्हारी, पूर्ण मैं चलता रहूँगा ।
> पथ सभी मिल एक होंगे, तम भरे यम के नगर में ।

विवेक के परे पाँवों की चलने की विवशता, अविश्राम तलाश और गन्तव्य का अन्धकार में विलीन हो जाना—यह एक बहुत दुहराया हुआ रूपक है । यहाँ नीत्शे की कुछ पंक्तियाँ याद आती हैं :

"Have I—still a goal ? A haven towards which *my* sail is set ? A good wind ? Ah, he only who knoweth *whither* he saileth, knoweth what wind is good, and a fair wind for him.

What still remaineth of me ? A heart weary and flippant; an unstable will (;) fluttering wings; a broken backbone.

This seeking for *my* home : O Zarathustra, dost thou know that this seeking hath been *my* home-sickening; it eateth me up.

Where is *my* home ? For it do I ask and seek and have sought but have not found it. O eternal everywhere, O eternal nowhere. O eternal—*in vain*."

अनुभूति समान भी है, भिन्न भी है। दोनों प्रश्न एक ही पूछ रहे हैं, लेकिन टोन कितना भिन्न है। अन्तर केवल बच्चन और नीत्शे का ही नहीं है, हिन्दी और योरोपीय रोमांटिसिज़्म का है। हिन्दुस्तान और योरप का है। सिर्फ़ नीयत के सहारे विलीन उद्देश्य को तलाश करने का काम भावना के इतने तनाव और ऐसी निपट गम्भीरता के साथ हिन्दी या हिन्दुस्तान ने किया ही नहीं। इस लिहाज़ से हिन्दी के लिए सबसे निकट का रोमांटिक कवि बायरन है। नीचे एक और बिम्ब है जो 'थक कर चूर और फक्कड़ हृदय···जर्जर संकल्प···फड़फड़ाते डैने···टूटी रीढ़' की बच्चन जी द्वारा देखी हुई तस्वीर प्रस्तुत करता है :

यह महान् दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ !
अग्नि पथ, अग्निपथ, अग्निपथ !

क्या सचमुच यह महान् दृश्य है ? किस अर्थ में ? क्या यह सिर्फ़ एक नाटकीय मुद्रा है ? किस अर्थ में ? इसकी तुलना हम नीत्शे से क्यों कर करें ?

जो भी हो, उस युग को सचेत उद्देश्य (जो मर्यादाओं का निर्माण करता है) और नीयत (जो हमें परिचालित करती है) (conscious purpose and motive) के बीच अन्तर स्थापित करके नीयत की तलाश करने की आवश्यता थी और इसके लिए उसने तीन रास्ते अपनाये। तीनों ही इस विभेद पर आधारित हैं। हृदयवाद (जो दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण आदि अधिकतर

कवियों की आधारशिला है); मनोविश्लेषण (जिसका इस्तेमाल इलाचन्द जोशी, जैनेन्द्र आदि ने किया) और ऐतिहासिक भौतिकवाद (जिसके सैद्धान्तिक आधार पर प्रगतिवाद की इमारत खड़ी हुई), ये तीनों दृष्टियाँ अक्सर एक दूसरे में घुल-मिल जाती हैं और लेखक या कवि आसानी से एक से दूसरे में विचरण करते हैं, क्योंकि इन सबका काम मुख्यतः मानसिक लहर को 'मोटिवें' से समन्वित करके मुक्त और स्वच्छन्द वेग प्रदान करना है, उद्देश्य पर आधारित मर्यादाएँ जिसको बन्धन-स्वरूप जान पड़ती हैं। यह 'मुक्तिकारी' उल्लास एक नाटकीयता के साथ घटित होता है। हृदयवाद के सशक्त प्रवाह को हमने देखा। मनोविश्लेषण तो आदमी के अचेतन 'मोटिवें' और सचेत उद्देश्य में अन्तर करता ही है। उस अचेतन मोटिवें का 'विघूर्णन', 'विस्फूर्जन' बच्चन की 'उर-उमंगों की उद्दामता से कम प्रचण्ड नहीं है जिसको 'न निराशा का भय, रोक सकता है न आशा का प्रवंचन'। बेशक फ्रायड, एडलर, यंग या किसी का भी मनोविश्लेषणवाद सिर्फ़ इतना ही नहीं है। मगर हिन्दी लेखकों की रुचि शेष में थी ही नहीं। उनको मानव-मन की एक बनावट चाहिए थी जो लगभग 'प्राकृतिक शक्ति' की तरह तेज़ फूटने वाली 'नीयत' दे सके, जो बिना उद्देश्य की परवाह किये वेग से दौड़ सके और ज़रूरत हो तो उद्देश्य की जगह भी ले सके। मनोविश्लेषणवाद उन्हें स्थूलतः इस ज़रूरत को पूरा करता-सा जान पड़ा। उन्होंने उसका इस्तेमाल कर लिया। इसी तरह ऐतिहासिक भौतिकवाद भी मनुष्य के सचेत उद्देश्य और उसकी नीयत में अन्तर करता है। आदमी का सचेत उद्देश्य कितना भी महान् हो, उसकी 'नीयत'—अथवा 'असली' उद्देश्य पूँजीवादी प्रचार हो सकता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद सचेत उद्देश्य के तल में काम करती हुई इस असली 'नीयत' की खोज करता है। मनोविश्लेषणवाद की ही तरह, ऐतिहासिक भौतिकवाद भी सिर्फ़ इतना ही नहीं है। लेकिन बाक़ी सब में हिन्दी लेखक की रुचि नहीं थी। वह केवल चेतन उद्देश्य से अलग दौड़ने वाली उद्दाम गति चाहता था। 'प्रगतिशील' होना तो उसने स्वीकार कर लिया, किन्तु 'प्रगतिवादी' या 'मार्क्सवादी' होने में उसे घुटन महसूस होती थी। मानव-मन की बनावट की इन तीनों दृष्टियों में अनिरुद्ध स्वचालित वेग के समान उपयोग के अतिरिक्त दो अन्य समान लक्षण भी हम फ़िलहाल अंकित कर सकते हैं। एक तो यह कि तीनों में नीयत जाने-या-अनजाने, अधिकतर अनजाने ही, अपना काम करती है। बच्चन के पाँवों के चलने की विवशता विवेक-विहीन अवस्था में उत्पन्न होती है; अचेतन नीयत तो परिभाषा से ही विवेक के परे स्थित है और ऐतिहासिक भौतिकवाद का नियम भी हमारे अनजाने ही काम करता है। दूसरे, इस दृष्टि की बुनियाद

वैज्ञानिक है। मनोविश्लेषण-शास्त्र और मार्क्सवाद तो घोषित रूप में विज्ञान का सहारा लेते हैं। बच्चन आदि भी वैज्ञानिक टेम्पर के बाहर नहीं हैं। वस्तुतः उनके आध्यात्मिक लबादे को उतार फेंकने की जड़ में विज्ञान ही है। विज्ञान का इस नयी दृष्टि से क्या सम्बन्ध है और क्यों है, इस पर आगे हम थोड़ा और विवेचन करेंगे।*

नीयत की तलाश तो हुई और उसे बहुत उपयोगी भी पाया गया। किन्तु वह अटल प्रश्न तब भी बना रहा : क्या नीयत (motive) और उद्देश्य (purpose) एक ही वस्तुएँ हैं। छायावाद के पास तो एक सीधा उत्तर था— हाँ। बल्कि उसे उद्देश्य से अलग भी कोई नीयत हो सकती है, इसकी कोई जानकारी ही नहीं थी। देव-शिशु की तरह उसका बाहरंतर एक था। लेकिन बच्चन? भगवती चरण वर्मा? दिनकर? इनके पास क्या उत्तर है? 'यह प्रश्न शिथिल करता मन को भरता उर में विह्वलता है।' वे उत्तर देने से इन्कार करते हैं। बुद्धि कहती है, दोनों एक नहीं हैं, हृदय कहता है, हैं। यही वह स्थल है जहाँ रिक्तता महसूस होती है। बुद्धि से शिकायत जायज़ है। उनके मन का 'अरमान' यही है कि ये दोनों एक ही हों, यद्यपि वे देख नहीं पाते कि ऐसा कैसे होगा। इस प्रकार छायावाद में जो संकल्पात्मक अनुभूति, अन्तर्ध्वनित सत्य है, वह तीसरे दशक में 'अरमान' बनकर रह जाता है। रहस्यानुभूति, आनन्दानुभूति, शौर्यानुभूति, वेदनानुभूति, तमाम अनुभूतियाँ 'अरमानों' के धरातल पर घटित होती हैं।

लेकिन क्या 'अरमान' प्रश्न का उत्तर हो सकता है? स्पष्ट है कि नीयत और उद्देश्य का प्रश्न मूलतः नैतिक प्रश्न है। कितना गहरा और भयानक प्रश्न यह था, यह इससे स्पष्ट है कि उस ज़माने में इसको बमों के विस्फोट और पिस्तौल की गोलियों की आवाज़ के साथ पूछा गया जिसने एक बार समूचे देश को हिलाकर रख दिया। भगतसिंह के छूटे हुए बम की आवाज़ और आज़ाद की गोलियाँ—और उसके बाद दोनों का बलिदान—हमारे शुभ्र नैतिक मानस को तोड़ती हुई निकल गईं। उनकी नीयत के बारे में किसी को सन्देह नहीं था। लेकिन क्या उनका कार्य नैतिक था? उद्देश्यगत संकल्प की ओर से दुःखी, किन्तु दृढ़ आवाज़ में सिर्फ़ एक व्यक्ति ने स्पष्ट उत्तर दिया—

---

*अंगरेज़ी में जिसे purpose और motive कहते हैं, उसके लिए मैंने 'उद्देश्य' और 'नीयत' का प्रयोग किया है। इस शब्दावली पर जिन्हें आपत्ति हो, वे भाषा के मेरे सीमित ज्ञान को समझ कर मुझे क्षमा करेंगे। आशा करता हूँ, तात्पर्य स्पष्ट है।

गाँधी ने : 'नहीं।' बाक़ी देश के पास सिर्फ़ खंडित चेतना बची रह गई। तीसरे दशक की कविता 'अरमान' द्वारा खंडित चेतना की इस गहन विडम्बना को पी जाने का मादक प्रयास है :

हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया
क्योंकि नहीं थी, अपनी कोई भी मर्यादा
हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था :

....

इसीलिए सूने गलियारे में
निरुद्देश्य,
निरुद्देश्य,
चलते हम रहे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ
मरने के बाद भी
यम के गलियारे में
चलते रहेंगे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ—धर्मवीर भारतीय : अन्धायुग

'अग्निपथ' की यह तसवीर—भारती ने देखी—जब निरुद्देश्य स्वचालित गति के ऊपर से 'अरमानों' की झिलमिली उतर चुकी थी। और झिलमिली के नीचे थी एक अथाह रिक्तता। लेकिन यह बाद की कथा है। यह 'पराजित' पीढ़ी का गीत है। अभी हम 'अपराजित' पीढ़ी को ही थोड़ा और गहरे उतर कर देखें। तीसरा दशक अपने काव्य-निर्मित 'साधारण मानव' की अपराजेयता की घोषणा ओजस्वी से लेकर तरलायित स्वरों तक में नाना प्रकार से करता है।

विवेकविहीन हालत में भी पाँवों की जो यह चलने की अपराजेय विवशता है, यही 'अपराजित' पीढ़ी की अपराजेयता का रहस्य है। चित्रलेखा-बीजगुप्त का प्रेम इसी अपराजेय विवशता से उद्भूत होता है। बच्चन का मधुपायी भी इसी अपराजेय विवशता के फलस्वरूप मधुशाला की ओर जाता है। यही अपराजेय विवशता उसे लहरों में निमंत्रण देती मालूम पड़ती है। और इसी अपराजेय विवशता से, मौक़ा पड़ने पर वह 'साधारण' आदमी अग्निपथ पर

भी तड़ातड़ चलते जाने का महान् दृश्य उपस्थित करता है। दिनकर की कविता में भी आदमी इस अपराजेय विवशता का दर्शन करके लगभग इसी क़िस्म की हरकत करता है। परमात्मा की ही भाँति इस अपराजेय विवशता के भिन्न-भिन्न नाम हैं। कहीं, इसे उद्दाम उर-उमंग कहा जाता है, कहीं अचेतन मानस का विघूर्णन और कहीं ऐतिहासिक अनिवार्यता; शायद सबसे प्यारा नाम, जो उस समय कहीं-कहीं कहा गया, वह था 'जिजीविषा।' इंगला-पिंगला पर फूत्कारती हुई यह जिजीविषा नामक जागृत कुण्डलिनी तंत्र-विज्ञान के पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में अक्सर दिखलाई पड़ती है जो इस तीसरे दशक के सबसे समर्थ आलोचक हैं और जिनके हर दृष्टि-निक्षेप पर 'साधारण मानव' अपने सबसे प्रिय रूप में उल्लसित होता और हिलकोरे खाता चलता है। आश्चर्य की बात यह है कि छायावादी अनुभूति (पहले दौर की) अपराजेयता तो देखती है, लेकिन इसमें विवशता कहाँ है, यह नहीं देख पाती। अपराजेय विवशता ? या अपराजेय संकल्प ? प्रेमचन्द के सूरदास में यह अपराजेय विवशता कहाँ है ? प्रसाद के चन्द्रगुप्त मौर्य में, चाणक्य में कहाँ है ? निराला की रूखी डाल जब पार्वती बनकर स्मरहर को वरने के लिए 'वसन-वासन्ती' माँगती है तो उसमें अपराजेय विवशता है या अपराजेय संकल्प ? शक्तिपूजा करने वाले राम में क्या है—विवशता या संकल्प ? प्रेमचन्द के होरी में ? हाँ, शायद उसमें एक अपराजेय विवशता है जो उसको बार-बार धर्म की राह पर ला पटकती है, लेकिन अपराजेय संकल्प का अभाव क्या प्रश्न-चिह्न बनकर नहीं खड़ा हो जाता ? क्या यह अपराजेय विवशता पराजित भी करती है ? और भारती 'नयी कविता' की ओर से विवशता तो देखते हैं, लेकिन उसमें अपराजेय क्या है, यह उनको नहीं दिखलाई पड़ता : जिस तरह होरी का पुत्र अपने पिता की विवशता तो देखता है, लेकिन उसमें अपराजेय क्या है, यह नहीं समझ पाता !

डॉ० रामविलास शर्मा की 'गोदान' पर आलोचना पढ़ते समय मैंने कहीं पढ़ा था कि होरी नाम का किसान तो पराजित होकर खप गया, लेकिन साहित्य की अगली पीढ़ी का मनुष्य होरी के पुत्र और मेहता नामक फ़िलासफ़र के सम्मिश्रण से निर्मित होगा। डॉ० रामविलास शर्मा से सहमत होने का सौभाग्य मुझे कम मिलता है और उनकी भविष्यवाणियाँ तो अक्सर ग़लत साबित होती हैं। लेकिन यहाँ मैं उनसे पूर्णतः सहमत हूँ। होरी को मरे हुए छब्बीस-सत्ताइस वर्ष हो गये। और उसके बाद जो 'नयी पीढ़ी' आयी है, कविता में, गद्य में, उसके सबके सब सदस्य प्रो० मेहता द्वारा शिक्षित, होरी

के मानस-पुत्र हैं। अपराजेय विवशता द्वारा पराजित पिता के दार्शनिक पुत्र ! रह गई किसानी की बात, तो ज़रा-सा खरोंचिये, ऊपरी 'आधुनिक' की जिल्द के नीचे हममें से कौन किसान नहीं है ? अज्ञेय नहीं हैं ? भारती नहीं हैं ? शमशेर नहीं हैं ? सर्वेश्वर नहीं हैं ? कुँवर नारायण नहीं हैं ? हिन्दी के किस कवि में से किसानी की गन्ध नहीं आती—मैथिलीशरण गुप्त से लेकर सर्वेश्वर तक ?

उदार दार्शनिक
तुम्हारे दर्शन में अपनी विकलता पाता हूँ
काश अपनी विकलता में
तुम्हारा दर्शन पा सकूँ ! —कुँवर नारायण

किसानी और दर्शन—हिन्दी के किस कवि में से इन दोनों की गन्ध नहीं आती ? कुछ मिलाकर हिन्दुस्तान नाम के देश की यही तो पूँजी है। इन दोनों गन्धों से जब चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और फ़िराक़ गोरखपुरी तक नहीं अछूते बचते तो हिन्दी बिचारी क्या खाकर अछूती रह जायगी, जो अभी 'दिल्ली की जुबान' भी नहीं बन पायी है ?

यह अपराजेय विवशता क्या है ? यह अपराजेय क्यों है ? यह विवश क्यों है ? इसका मनुष्य की सहजता से क्या सम्बन्ध है ? छायावाद का अपराजेय संकल्प कैसे दूसरे दौर की अपराजेय विवशता में बदल गया ? और इस अपराजेय विवशता के नीचे एक अथाह रिक्तता क्यों है ?—क्या है जो इस साधारण मानव को बर.बर सालता रहता है ?—और तीसरा दशक क्यों ऊपर से छायावादी है, नीचे से कुछ और हो गया है ? क्यों वह छायावाद से अलग न होकर छायावाद का दूसरा दौर है ?

अन्तिम प्रश्न का सरल उत्तर तो हम उस युग के मनुष्य के मर्म में ही देख सकते हैं जो ऊपर से कुछ और है, नीचे से कुछ और। परन्तु बात सिर्फ़ इतने से सूत्र में कह देने से इस स्थिति में जो महिमा-मण्डित ऐश्वर्य है, वह कहीं आँखों से ओझल न हो जाय। चूँकि यह महिमा-मण्डित ऐश्वर्य उसे मूल्यवान थाती के रूपी में छायावाद से मिला है, इसलिए छायावाद से उसका लगाव बहुत ज़रूरी है। ख़ुद छायावादी मानस में इसकी जो गहरी प्रतिक्रिया हुई, उसकी एक प्रतिध्वनि तो प्रेमचन्द के 'गोदान' में है जिसका उल्लेख हमने पहले किया। दूसरी विराट् प्रतिध्वनि है, प्रसाद की 'कामायनी' में, जिसमें हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से आरम्भ करके मनु फिर हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर आसीन हो जाता है : चिन्ता के साथ प्रलय-प्रवाह को देखने से

आरम्भ करके, समरसता के साथ स्थिर भूमि को देखने में अन्त करता है। एक चित्र में वह अतीत की ओर देख रहा है, दूसरे चित्र में भविष्य की ओर। बेशक वह पहुँचता वहीं है जहाँ से चला था; लेकिन इस बीच में उसकी दृष्टि में महान् परिवर्तन आ जाता है, जैसे एक परिक्रमा पूरी हो गई हो। इस परिक्रमा की कथा ही 'कामायनी' में कही गयी है।

पहले वह श्रद्धा से मिलता है जो भीतर-बाहर बिल्कुल एक-सी है और जो 'अपराजेय संकल्प' की प्रतिमा है। उसका उत्तरोत्तर उल्लास उठती हुई लहर की तरह बढ़ता जाता है। फिर एक पुत्र होता है—एक नई पीढ़ी—और मनु को महसूस होती है एक विराट् रिक्तता, 'जैसे कुछ बहुत मूल्यवान पीछे छूट गया हो।' तब उसकी भेंट होती है इड़ा से जो 'ऊपर से कुछ और है, नीचे से कुछ और' और अतीव महिमा से मण्डित है। एक 'अपराजेय विवशता' के साथ वह इड़ा की ओर खिचता चला जाता है। और तब एक अद्भुत बात होती है। जो मनु श्रद्धा के साथ बाहर-भीतर एक-जैसा था, ख़ुद उसके मन भ ऐंठन उत्पन्न होने लगती है। यह ऐंठन बढ़ती जाती है और एक दिन उन्मत्तता की चरम स्थिति में 'अपराजेय संकल्प' का वह स्वामी 'अपराजेय विवशता' को छू लेता है। झंकार के साथ जैसे पक्के फ़र्श पर थाली गिर कर चूर हो जाये, वैसे ही इस वर्जित स्पर्श के साथ ही सारा इन्द्र-जाल टूट जाता है। ऐंठन पूरी हो जाती है और तड़ाक्-से मनु का व्यक्तित्व भी खण्डित हो जाता है। अब वह भी इड़ा की तरह 'अपराजेय विवशता' से व्याप्त 'ऊपर से कुछ और, अन्दर से कुछ और' है, और 'ग़लतफहमी' का शिकार बनता है·········फिर उसके बाद युद्ध, क्रान्ति, विप्लव····लेकिन मनु की चेतना इस विभाजन और विप्लव को सह नहीं पाती और वह मूर्च्छित हो जाता है, जड़ और चेतन के बीच की कड़ी की तरह। उस टूटे हुए आदमी की खोज यहाँ से आरम्भ होती है। वह उस विराट् रिक्तता को देखता है जो गहरे कहीं श्रद्धा में भी है और इड़ा में भी और अपने पराजित विभाजन को भी देखता है। कौन उसे जोड़ेगा? कौन फिर एक बार उसके बहिरंतर को एक करेगा? उसे फिर एक बार हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर जाना पड़ेगा। प्रसाद जी का उत्तर है : समरसता का दर्शन।

लेकिन क्या यह सिर्फ़ दर्शन है, अनुभूति नहीं? तब फिर यह 'एलेगरी' का रूप क्यों—वेद की जगह वेद का निरुक्त क्यों? दीप्त बिम्बों की जगह रूपायित प्रतीक-कथा क्यों? क्या अन्धकार को सीधे नहीं भेदा जा सकता, केवल उसकी परिक्रमा की जा सकती है?

'कामायनी' के बाद हिन्दी कविता का अगला चरण इसी प्रश्न से शुरू होता है जिस 'समरसता' को प्रसाद जी ने अनुभूति से दर्शन में बदल दिया, उसे कैसे दर्शन से अनुभूति में बदला जाय। 'समरसता का दर्शन' या 'निर्वैयक्तिक अनुभूति' ? इस प्रश्न को जिस व्यक्ति ने पूछा, उसका नाम था 'अज्ञेय :'

> उदार दार्शनिक,
> तुम्हारे दर्शन में अपनी विकलता पाता हूँ
> काश अपनी विकलता में
> तुम्हारा दर्शन पा सकूँ।—कुँवर नारायण

आलोचकों में इस बात को लेकर बहुत दिनों तक बहस चलती रही कि पुत्रवती श्रद्धा को मनु क्यों छोड़कर चले जाते हैं और प्रसाद उस अनुभूति का सन्तोषप्रद 'मनोवैज्ञानिक' निरूपण क्यों नहीं कर पाते। वे भूल गये कि प्रसाद मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं लिख रहे हैं वे एक प्रतीक-कथा द्वारा एक दार्शनिक स्थापना कर रहे हैं। अगर वे यह प्रश्न भी पूछते कि क्यों जब श्रद्धा मनु को तलाश करने जाती है तो अपने पुत्र को छोड़ कर ही उस तलाश में जाना उसके लिए आवश्यक हो जाता है और क्यों यहाँ भी प्रसाद उस अनुभूति का 'सन्तोषप्रद मनोवैज्ञानिक' निरूपण नहीं करते त' वे प्रसाद के मानस को ज़्यादा गहराई से समझ पाते। और प्रसाद एक ऐसे कवि हैं जिनके मानस को बिना गहराई के समझा नहीं जा सकता। उनके लिए सारा प्रश्न अनुभूति और दर्शन के सम्बन्ध का है। कामायनी वेद नहीं, वेद का निरुक्त है। 'एलेगरी' है। यह संकेत तो प्रसाद ने 'कामायनी' की भूमिका में ही दिया है। एक गम्भीर दार्शनिक मानस समस्त सृष्टि को देख रहा है। उस सारी सृष्टि में यही तो पहेली है : 'अपराजेय संकल्प' के भीतर से 'अपराजेय विवशता' की तरह वह श्रद्धा-पुत्र कहाँ से आ गया ? यही तो रिक्तता है, अन्धकारहै — अन्धकार की अनुभूति कैसी ? क्या अन्धकार भी 'सत्य का मूल चारुत्व' हो सकता है जिसे संकल्पात्मक अनुभूति द्वारा पकड़ा जाय ? रवीन्द्रनाथ की ही तरह प्रसाद की आत्मा अन्धकार को सामने से नहीं भेदती; वह दर्शन द्वारा उसकी परिक्रमा कर सकती है। लेकिन इस परिक्रमा के बाद प्रसाद इतना तो देख ही रहे हैं कि आगे की कहानी मनु की नहीं, श्रद्धा-मनु के उस पुत्र की कहानी है जो इड़ा द्वारा शिक्षित होता है और सारस्वत प्रदेश में लौट जाता है—आकुलि-किलात का निहत्था सामना करने। 'अपराजेय विवशता' द्वारा पराजित पिता का दार्शनिक पुत्र ! क्या उसकी सीमारेखाएँ किसी धुँधले क्षितिज

पर होरी-धनिया के उस पुत्र से मिलती हैं जो मिलों-कारख़ानों के नगर में लौट जाता है, प्रो० मेहता द्वारा शिक्षित होने के लिए ? क्या नाम है, उस मनु-पुत्र, होरी-पुत्र का—लघुमानव ? क्यों वह दत्तक पुत्र होकर ही जीवित रह सकता है ?

मैं उस भटकती हुई प्यासी आत्मा का
दर्द-भरा संगीत हूँ,
जो मुझे अपने सफ़र में
इस वीरान राह की
अन्धी चट्टान पर
ख़ामोशी का ताज बना कर
छोड़ गई है ।..........
ढाँक जिससे मैं सकूँ, जलते हुए सम्पूर्ण वन को
छाँह जिससे दे सकूँ, बेदम परिन्दों को गगन को
फिर न पलकें गिरा, आँसू छिपा, गर्दन मोड़
कहूँ, 'इस तूफ़ान ने मेरे दिये पर तोड़ !'
पंख दो, पंख दो, नये मेरे पंख दो
पंख दो, पंख दो, बड़े मेरे पंख दो—सर्वेश्वर

'कामायनी' और 'मधुकलश' को आमने-सामने रखने पर प्रसाद की 'अखंड-चेतना' और बच्चन की 'खण्डित-चेतना' में जो समानता है और जो अन्तर है, वह स्पष्ट हो जायगा । बहुत आश्चर्यजनक ढंग से दोनों एक स्थल पर एक ही प्रतीक का उपयोग करते हैं—लेकिन दोनों की चेतना बिल्कुल दो भिन्न चीज़ें देखती हैं । बच्चन के मधुकलश का प्रमुख गीत है, 'लहरों का निमंत्रण' जिसमें सागर के किनारे खड़े हुए 'साधारण मानव' की तस्वीर है । वह इतना रोमांचित करने वाला काव्य-चित्र है कि उसके आरम्भिक छन्द को उद्धृत करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है—वह बात मेरे शिथिल गद्य में नहीं कही जा सकती है :

रात की अन्तिम प्रहर है;
झिलमिलाते हैं सितारे,
वक्ष पर युग-बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे,
वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता,
शून्य में भरता उदधि,
उर की रहस्यमयी पुकारें,

इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में,
है प्रतिच्छायित जहाँ पर
सिन्धु का हिल्लोल-कम्पन।
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण।

एक प्रलय-प्रवाह और उसे देखता हुआ मनुष्य ! यहीं से कामायनी की भी कथा शुरू होती है :

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

इसके बाद बच्चन के प्रतीक उलट जाते हैं। प्रसाद का मनु रात के अन्तिम प्रहर में नहीं, दिन के दोपहर में यह दृश्य देखता है, शिला की शीतल छाँह के तले। प्रभंजन वहाँ भी वेग से बहता है, लेकिन उसमें केश-पटों को उड़ा ले जाने की शक्ति नहीं है, वह केवल 'पैरों से टकराता फिरता है।' मनु जल और स्थल दोनों को देखता है तो उसे लगता है कि दोनों में एक तत्त्व की ही प्रधानता है, उसे जड़ कहो या चेतन। जब कि बच्चन का मनुष्य जल और स्थल में सीमाभेद करता है—स्थल जड़ का प्रतीक है, जल चेतन का 'क्यों धरणि अब तक न गल कर लीन जलनिधि में गई हो'.....'स्थल गया है भर पथों से नाम कितनों के गिनाऊँ'.. ''राह जल पर भी बनी है रूढ़ि पर न हुई कभी वह।' और जब कि बच्चन के मनुष्य के हृदय में सिन्धु का हिल्लोल-कम्पन प्रतिच्छायित है, मनु के हृदय में प्रतिच्छाया है, स्तब्ध हिम की। आगे चलकर बच्चन का मनुष्य देखता है : 'सिन्धु के इस तीव्र हाहाकार ने विश्वास मेरा/है छिपा रक्खा कहीं पर एक रस-परिपूर्ण गायन।' प्रसाद के मनु का यह विश्वास ही नहीं है, उसको जानकारी है कि इस विशाल जलनिधि में 'एक रस-परिपूर्ण गायन' डूबा हुआ है। और उसके बाद उस प्रलय-प्रवाह को देखकर प्रसाद और बच्चन, दोनों की कल्पना में 'सुख, केवल सुख के केन्द्रीभूत संग्रह' के एक ही प्रतीक-चित्र उभरते हैं : नाचती हुई सिन्धु-कन्याएँ जिनके नृत्य के दर्शक देवता-गण हैं। प्रसाद का मनु उन सिन्धु-कन्याओं का नाम जानता है—कीर्ति, दीप्ति, शोभा। बच्चन का मनुष्य, उनका नाम नहीं

जानता। क्योंकि प्रसाद का मनु जब नाच हो रहा था; उस समय वहाँ उपस्थित था—'स्वयं देव थे हम सब'—यहीं मनुष्य की परिभाषा के प्रतीकों का अन्तर है। बच्चन का मनुष्य चित्रलिखित-से उन देवताओं को कुछ विनोद की दृष्टि से देखता है—'साथ देवों के पुरन्दर/एक अद्‌भुत और अविचल चित्र-सा है जान पड़ता।' क्या उसने उस चित्र में मनु को पहचाना होगा? प्रसाद का मनु उस प्रलय-प्रवाह में अतीत की भाषा देखता है और बच्चन का मनुष्य भविष्य की। इसके बाद मनु पृथ्वी की ओर लौट जाता है और उसका अन्त हिमालय से पृथ्वी की ओर देखने में होता है। बच्चन का मनुष्य शायद रुकता नहीं, समुद्र में कूद जाता है—क्या अन्त होता है उसका?

जल और स्थल—दोनों कविताओं की प्रतीक-माला इतनीं स्पष्टतः मिलती-जुलती है कि जब-जब मैंने इस पर सोचा है मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ है। क्या 'कामायनी' की रचना के समय प्रसाद जी ने बच्चन का यह गीत सुना था? या कोई गहरी वस्तु है जो दोनों से समान प्रतीक-योजना में अभिव्यक्ति माँग रही है? सृजनात्मक प्रतिभा के किस स्तर पर अखंड और खंडित चेतना का यह तिरीक्षा वाद-विवाद घटित हो रहा है?

क्या ये प्रतीक जातीय स्मृति से सम्बद्ध हैं? हमारे दीर्घकालीन इतिहास में कब हमारी कल्पना जलोन्मुख रही और कब स्थलोन्मुख हो गई? क्या हमारे उत्थान-पतन, प्रगति और ह्रास का इन प्रतीकों से कुछ सम्बन्ध है? क्या मनु की तरह केवल स्थलोन्मुख हो जाने में ही समाधान है?

इन प्रतीकों का कोई रूढ़ या सुनियोजित अर्थ खोजने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। शायद एक बहुत बड़े पैमाने पर वे सारी मनुष्यता के आध्यात्मिक प्रतीक हैं। केवल उनकी व्यापकता को ध्यान में रखकर हम हिन्दी कविता की ओर देखें तो कभी-कभी उन झंकारों की रेखाओं को अधिक सफ़ाई से देख पायेंगे जो इन कलात्मक बिम्बों के प्रत्यक्ष दर्शन पर हमें रोमांच की तरह अनुभूत होती हैं।

बच्चन के सीमित अर्थ में 'जल' प्रकृति की स्वयम् चालित गति का प्रतीक है। इसमें वे चैतन्यता का, और हो सके तो 'सुख, केवल सुख के केंद्रीभूत संग्रह' का आरोप करते हैं। चैतन्यता का यह आरोप केवल काव्यालंकार नहीं है, बल्कि अनुभूति का केन्द्रीय सिद्धान्त है। स्थल चूँकि गतिहीन है, इसलिए जड़ता का प्रतीक है। प्रसाद इन प्रतीकों को उलट कर पढ़ते हैं। सिर्फ़ गति के कारण ही उन्हें जल और स्थल में दो तत्त्वों का-सा अन्तर है, यह नहीं दिखता।

जो भी हो, प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल सूत्र है : "जो मैं हूँ, वही मैं हूँ।" और सारस्वत-प्रदेश के युद्ध के बाद प्रसाद ने इसी दर्शन-जनित परिभाषा को बच्चन, दिनकर, भगवतीचरण आदि की अनुभूति-जनित परिभाषा : "जो मैं हूँ; वह मैं नहीं हूँ" के विरुद्ध टिका दिया। इसमें से कौन-सी सहज मनुष्य की परिभाषा है ? क्या अनुभूति और दर्शन, इन दो में से एक को ही चुनना पड़ेगा ? कोई तीसरा रास्ता नहीं है।

एक गम्भीर दृष्टि से इन दोनों दृष्टियों में तात्त्विक अन्तर है। लेकिन इन दोनों में से एक को ही चुन लेने की अनिवार्यता उस युग को महसूस नहीं हो रही थी। वस्तुतः वे दोनों दृष्टियाँ एक समझौते पर आकर स्थिर हो गईं। इसीलिए नीत्शे जैसा भावना का तनाव हिन्दी के आवेश में नहीं मिलता। यह टकराहट ऊपरी थी, लेकिन अन्दर ही अन्दर इसमें समझौते की एक अनिवार्य आवश्यकता भी काम करती रही। इस समझौते ने एक तरफ़ 'अपराजेय विवशता' के वेग को थोड़ा कम किया, दूसरी तरफ़ 'अपराजेय संकल्प' को भी थोड़ा लचीला बना दिया। इस समझौते से दोनों दृष्टियों का समन्वय तो नहीं हो पाया, सन्तुलन अवश्य हो गया। यह सन्तुलन बेशक कुछ ही दूर तक चला भी। कुछ हद तक इसने दोनों में रक्त-संचार किया, लेकिन उसके बाद इसने भँवर और "गतिरोध" भी पैदा किये। कामायनी में इड़ा और श्रद्धा का दार्शनिक समझौता तो है ही। अनुभूति के क्षेत्र में इसी कारण यह अपराजेय गति "विज़न" को जन्म न देकर एक स्वप्निल शक्ति-प्रवाह, मस्ती और ख़ुमारी के रूप में प्रकट होती है। इस स्वप्निल शक्ति-प्रवाह का सबसे अच्छा गुण एक तरह का लापरवाह खुलापन है जो साधारण जीवन में रसीलेपन की तरह व्याप्त हो गया है।

बच्चन, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि सभी कवि एक ख़ास अर्थ में 'जवानी' के कवि हैं। यह एक विशिष्ट-सी बात है। जवान तो अपने समय में प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त सभी रहे होंगे—और मेरा अनुमान है कि मैथिलीशरण गुप्त भी—लेकिन इनमें से कोई भी ख़ास अर्थ में जवानी का कवि कभी नहीं रहा। इस अर्थ में योरपीय रोमांटिसिज़्म भी ख़ास तौर से जवानी का काव्य बन कर नहीं आया। यह सही है कि हिन्दुस्तान एक क्रान्ति की अवस्था से गुज़र रहा था और देश भर में मार्क्सवाद-गांधीवाद का द्वन्द्व भी चल रहा था। लेकिन ख़ुद मार्क्स के लेखन में विशेषतः 'जवानी' का क्रान्ति से कोई रिश्ता हो, ऐसा नहीं लगता और न यही जान पड़ता है कि वह जवानों को सम्बोधित करके लिख रहा हो। किन

कारणों से नयी चेतना, जिसका आधार अधिकतर विज्ञान था, 'जवानों' से सम्बद्ध हो गई और उसका मनोभूमि पर क्या प्रभाव पड़ा, यह अनुसन्धान का रोचक विषय हो सकता है।

इतना हम देख सकते हैं कि यथार्थ के जिस स्पर्श को ये कवि चित्रित कर रहे हैं, उसमें 'जवानी' की एक कल्पित तसवीर 'आवेग' और 'फक्कड़पन' से सम्बद्ध है। एक गहरे स्तर पर नयी चेतना को 'जवानी' में सीमित कर देना भी छायावाद से आन्तरिक समझौते का ही फल है। छायावादी दृष्टि सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि थी। उस सारी जीवन-दृष्टि को उलट देना इन कवियों का अभीष्ट नहीं है। वे केवल ज़िन्दगी के अंश—जवानी—को ही इस नयी यथार्थ आवेगशीलता से ध्वनित देख रहे हैं। एक ढंग से यह आंशिकता कविता के विस्तार को सीमित करती है और आगे चलकर गीतों की जो धारा निकली, वह इस सीमा में उलझ कर रह गई।

इस समझौते को हम 'चित्रलेखा' और प्रसाद के नाटकों की तुलना करके देख सकते हैं। प्रसाद अपने नाटकीय समाज को एक ऐतिहासिक स्थिति में रखते हैं। उस इतिहास से हमारा सम्बन्ध 'उत्तराधिकार' का है। लेकिन इस उत्तराधिकार के लिए हमें प्रयास करना पड़ता है। हमें लगता है कि ये सारे चरित्र एक लक्ष्य में विसर्जित हो रहे हैं। उस लक्ष्य की विवेक-सम्मतता को हम स्वीकार करते हैं। यह लक्ष्य ही नाटक को एकता प्रदान करता है और उसकी स्वीकृति के माध्यम से ही हमारा उन पात्रों से "साधारणीकरण" होता है। लेकिन यह स्वीकृति हम तभी दे सकते हैं जब हम अपने भीतर के 'यथार्थ' को उस लक्ष्यमूलक सत्य में विसर्जित होता हुआ देखें। विसर्जन की अनुभूति तनाव को जन्म देती है और हमें लगता है कि प्रसाद के पात्र हमसे "ऊँचे" स्तर पर प्रतिष्ठित हैं।

इसके विपरीत 'चित्रलेखा' में एक ढीलापन है, यद्यपि ऊपर से सारा वितान वैसा ही है। 'चित्रलेखा' का पूरा समाज इतिहास में अपनी अतीव महिमा के साथ है। उस इतिहास से हमारा जो 'उत्तराधिकार' का सम्बन्ध है, उसका पूरा उपयोग, हमें सहलाने के लिए उपन्यासकार करता है क्योंकि उन पात्रों की रुचि-अरुचि हमारी अपनी है। उस समाज का कोई 'लक्ष्य' या गन्तव्य नहीं है। परन्तु वह मृत समाज नहीं है। वह स्पन्दित हो रहा है। वस्तुतः लक्ष्य का स्थान 'व्यापार' ने ले लिया है। हम व्यापार यहाँ वाणिज्य के अर्थ में नहीं, बल्कि प्राकृतिक कर्म (function) के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं। राजा चन्द्रगुप्त, मंत्री चाणक्य, सामन्तगण सब 'फ़ंक्शन' कर रहे हैं जिस

तरह एक जीवित मनुष्य के अंग-प्रत्यंग फ़ंक्शन करते हैं। इस व्यापार-रत समाज को अतीव महिमा से मण्डित करके, हम 'व्यापार' को भी महिमा से मण्डित कर देते हैं। लगता है कि जिसे प्रसाद 'लक्ष्य', 'गन्तव्य', 'उद्देश्य' करके अभिव्यक्त करते हैं, वह फ़ंक्शन का ही एक विस्तार है। चूँकि यह व्यापार निष्प्रयास, परिचालित-सा है, इसलिए हमें ढीलापन और सहजता महसूस होती है। चूँकि यह उद्देश्य या लक्ष्य की कल्पना से कहीं टकराता नहीं, इसलिए महिमा से मण्डित जान पड़ता है।

बीजगुप्त का समस्त भोग-विलास अपनी सारी अपराजेयता के बावजूद देवताओं द्वारा 'वर्जित' की कोटि में नहीं आता। ऐसा कदापि नहीं लगता कि जिन मान्यताओं पर यह समाज खड़ा है, उनसे उसकी टक्कर की सम्भावना हो। अपनी अपराजेय विवशता के कारण उसे किसी भी यातना का शिकार नहीं होना पड़ता। हर बार एक नाटकीय मुद्रा और निपुण मेधा के द्वारा वह मान्यताओं से समझौता कर लेता है। इस तरह बीजगुप्त के प्राकृतिक 'आवेग' के साथ-साथ हम मर्यादाओं पर आधारित छायावादी 'महानता' के आदर्श के अनायास ही उत्तराधिकारी हो जाते हैं। यह एक सुखद किन्तु अगम्भीर स्थिति है।

बीजगुप्त भोगी है, चित्रलेखा का भी प्रेमी भी है। यह प्रेम हृदय का एक सहज व्यापार है। भोग साधारण मनुष्य का सहज धर्म है। इसी आधार पर बीजगुप्त हमें अपने समान धरातल पर जान पड़ता है। इस 'साधारणीकरण' में हम बिना प्रयास किये ही उस समस्त महिमा के उत्तराधिकारी हो जाते हैं। यह अनुभव हमारे मर्म को सहलाता है। हमें यह बात बहुत अच्छी मालूम पड़ती है, जैसे हमारी चापलूसी की गई हो। चित्रलेखा की अपील, हमारे भीतर जो व्यापारिक मनुष्य है, उसके प्रति है। यह व्यापार-रत अथवा फ़ंक्शनल मनुष्य ही 'साधारण मानव' है।

व्यापार-रत मनुष्य की कल्पना के साथ ही हम मानवीय भावनाओं को भी व्यापार-रत भावनाओं के रूप में देखते हैं। इसी अर्थ में प्रेम हृदय का सहज व्यापार है। जब तक ये भावनाएँ व्यापार-रत हैं, तब तक हमें 'सहज' जान पड़ती हैं। इसीलिए जब चित्रलेखा बीजगुप्त को छोड़कर कुमारगिरि के पास विवश-सी चली जाती है तो हम इसे हृदय का सहज व्यापार समझ कर क्षमा कर देते हैं। कवि का काम मुख्यतः इस व्यापार-रत भावना पर झिलमिली चढ़ाना है। यह व्यापार-रत भावना छायावादी 'सूक्ष्म' भावना से भिन्न है जो लक्ष्य में विसर्जित होने के समय ही भावना का रूप ग्रहण करती है।

उसके पहले वह मात्र जड़ता है, या है नहीं। इसके दो लक्षण हैं। एक, कि यह भावना आघात-प्रत्याघात, या कार्य-कारण-सम्बन्ध की तरह उमड़ पड़ती है। यह अनिवार्य है। इसमें मनुष्य का विवेक कुछ नहीं कर सकता। दूसरे इसकी विशेषता इसके वेग में है। व्यापार-रत भावना जितनी वेगवान होगी, उतनी ही महिमा से व्याप्त होगी। यह वेग लक्ष्य के आकर्षण से नहीं उपजता। आन्तरिक उद्वेलन ही उसे चलाता है। तृप्ति का क्षण उसकी मृत्यु का क्षण है। मनु और इड़ा का 'वर्जित स्पर्श' है। चूँकि यह व्यापार-रत भावना अपने को बारम्बार दुहराती रहती है, और हर बार एक 'नयी तृप्ति' की माँग करती है, इसलिए उसमें वेग, अपराजेयता, अमर भूख, अमिट प्यास दिखती है। नश्वरता और अमरता के इसी संयोजन पर हम तीसरे दशक की अनुभूति में लघु और महत् का सम्मिलन देख सकते हैं। हर नयी दौड़ एक नाटकीय परिवर्तन की सूचना है। लेकिन जहाँ छायावाद का परिवर्तन गुणात्मक (qualitative) है, वहाँ तीसरे दशक का परिवर्तन परिमाणात्मक (quantitative) है। इसके पीछे एक अरमान है इसका निरन्तर दुहराया जाना। यह परिमाणात्मक परिवर्तन कभी न कभी गुणात्मक परिवर्तन का रूप ग्रहण कर लेगा।

"O eternal, O everywhere, O eternal nowhere, O eternal—*in vain*."

स्वप्न देखना—यथार्थ और आदर्श के बीच पुल बनाते रहना—मनुष्य की कमज़ोरी नहीं है, मनुष्य का सबसे मूल्यवान अंश है। लेकिन क्या इस स्वप्न का आधार सिर्फ़ जीवन की पुनरावृत्ति है या सृजनात्मक संकल्प द्वारा उस पुनरावृत्ति से बाहर फूटती हुई राह? अगर स्वप्न ही देखना हमारी मनुष्यता है तो हम उस स्वप्न को पूरी तरह आँखें खोल कर क्यों न देखें, अधमुँदी आँखों से क्यों देखें? यदि गति हमारी यथार्थता है तो हम उसे विवश होकर क्यों झेलें, दायित्व समझकर अंगीकार क्यों न करें? ये गहरे विवाद तीसरे दशक के काव्य और आज की नयी कविता की मनोभूमि में निहित हैं।

मनुष्य की कोई भी भावना उसे जिस तरह एक छोर पर परात्पर सत्य तक ले जाती है, वैसे ही दूसरे छोर पर प्रकृति तक ले जाती है। क्योंकि मनुष्य जड़ और चेतन दोनों है। शरीर और आत्मा दोनों है। परात्पर सत्य उसकी चेतना की शुद्ध अवस्था है, उसी तरह प्रकृति उसकी जड़ता की। वह दोनों के सन्धिस्थल पर है। आदिम काल से एक ओर जहाँ वह परमात्मा में मानवीयता का आरोप करता आया है, वहीं वह प्रकृति पर भी मानवीयता आरोपित करता आया है। ये दोनों छोर उसे अपने से बाहर भी मिलते दिखते

हैं और वह प्रकृति और परमात्मा दोनों को एक-दूसरे पर आरोपित देखता है। कभी उस सन्धिस्थल पर प्रकृति विसर्जित हो जातीं है, कभी ईश्वर। कभी अपने भीतर जड़ता विसर्जित-सी दीखती है, कभी चेतना। लेकिन मनुष्य की मनोभूमि की इतनी-से बीजगणित से हम इसमें जो 'इतिहास' अथवा पैटर्न है, उसे आंखों से ओझल नहीं कर सकते और न हम यही भूल सकते हैं कि सत्य की यह वह गुत्थी है जिसे मनुष्य ख़ुद खोलता है और टटोल-टटोल कर आगे बढ़ता है। यह उसकी विवशता नहीं, उसका गम्भीर दायित्व है।

फ़ंक्शनल भावना फ़ंक्शनल सत्य के माध्यम से मनुष्य को प्रकृति से जोड़ती है। हम यह देखते हैं कि बच्चन, दिनकर आदि की कविता में प्रकृति के जो भी चित्र हैं, वे प्रकृति के 'व्यापारों' के चित्र हैं। बादल का उड़ना, समुद्र का उद्वेलित होना, हवा का चलना, फूल का खिलना और सूख जाना— सब का सब तीसरे दशक के लिए केवल एक 'फ़ंक्शनल' अर्थ रखता है। महादेवी की कविता में प्रकृति जहाँ भी आई है, केवल अपने 'व्यापारिक' अर्थ में। हर आइटम के एक सहज 'व्यापार' की कल्पना की गई है, वही उसका अर्थ है, वही उसका सत्य है। इस दृष्टि से महादेवी की कविता दूसरे दशक की छायावादी मनोभूमि से भिन्न है, रहस्यवादी शब्दावली उसमें जितनी भी हो। न केवल कविता के प्रधान फ़ार्म में, बल्कि अनुभूति की बनावट में भी महादेवी की कविता छायावाद को क्रमशः बच्चन आदि में परिवर्तित होते हुए उदाहृत करती है। इसीलिए जब निराला की डाल खिलना चाहती है तो उसमें एक संकल्प का स्वर है और महादेवी के जितने फूल हैं, वे एक तरल और मधुर मार्दव के साथ सहज ही खिलते हैं, झरते हैं।

ऊपर हमने जिसे मोटिवें या 'नीयत' कहकर अभिव्यक्त किया है, वह और कुछ नहीं, यह फ़ंक्शनल भावना ही है, आशा करता हूँ, यह स्पष्ट होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुख्य द्वन्द्व फ़ंक्शन और पर्पज़, व्यापारिक सत्य (functional truth) और उद्देश्यगत सत्य (purposive truth or moral truth) का है।

व्यापारिक सत्य क्या है और उसका द्वन्द्व उद्देश्यगत सत्य या नैतिक सत्य से क्यों होता है? बीसवीं शताब्दी के मनुष्य की प्रमुख समस्या इस विभेद की जड़ में है। क्योंकि मनुष्य के उद्देश्यगत सत्य को, जो अभी तक अपराजित सम्राट् था, विज्ञान ने सिंहासन से हटा दिया है। पदार्थ-मात्र में एक गति है, यह गति ही पदार्थ या प्रकृति का व्यापार है। लेकिन क्या यही उसका उद्देश्य भी है?

चन्द्रमा अपनी किरणें पृथ्वी पर फेंकता है। यह उसका फंक्शन है। ग्रह सूर्य के चारों तरफ़ चक्कर काटते हैं, यह उनका फ़ंक्शन है। विज्ञान के अनुसार यह समस्त ब्रह्माण्ड फैलता-सिकुड़ता है। यह उसका फ़ंक्शन है। लेकिन क्या यही चन्द्रमा का उद्देश्य है? ग्रहों का उद्देश्य है? इस अखिल ब्रह्माण्ड के फैलने-सिकुड़ने का क्या उद्देश्य है? क्या कोई उद्देश्य है भी?

यू० एन० ओ० में भाषण होते हैं, प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं, गिरते हैं। यह उसका फ़ंक्शन है। राष्ट्र उठते हैं, गिरते हैं। सरकारी मंत्री वक्तव्य देते हैं। यह फ़ंक्शन है। मैं खाता हूँ, पीता हूँ, सो जाता हूँ। रोज़ अपना काम करता हूँ। यह फ़ंक्शन है। लेकिन इस सब का क्या उद्देश्य है? क्या कोई उद्देश्य है भी?

पुरानी चेतना फ़ंक्शन और उद्देश्य के इस पीड़ादायक अन्तर से ग्रस्त नहीं थी, इसका एक उदाहरण है, हमारा शब्द 'धर्म'। 'धर्म' शब्द फ़ंक्शन और उद्देश्य, दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। जब हम कहते हैं कि फूल का धर्म है खिलना, तो हमारा मतलब उस फ़ंक्शन से है जो फूल की 'अपराजेय विवशता' है। यह एक फ़ंक्शनल सत्य—'तथ्य'—है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य का धर्म है सच बोलना, तो यह कोई 'अपराजेय विवशता' नहीं है। हम चाहें तो झूठ भी बोल सकते हैं, लेकिन हमें सत्य बोलना चाहिए। यह एक उद्देश्यगत या नैतिक सत्य—'सत्य'—है।

यहाँ से लेकर अखिल ब्रह्माण्ड के फैलने-सिकुड़ने तक तथ्यों की अनिवार्यता तो दिखती है, लेकिन उसकी रेखा 'सत्य' को कहीं छूती नहीं दिखती, सिवाय मनुष्य के। लेकिन मनुष्य को भी यदि हम केवल फ़ंक्शन की पुनरावृत्ति के ही रूप में देखते हैं—चाहे वह कितनी ही वेगवान और राशिभूत पुनरावृत्ति क्यों न हो—तो फिर वह 'वर्जित-स्पर्श' कैसे घटित होगा? यह रिक्तता कैसे भरेगी?

यह प्रश्न आज केवल हिन्दी लेखक के सम्मुख नहीं है, सारी मनुष्यता के सम्मुख है। इसकी चेतना तीखी है। इस तीखी चेतना के कारण एक विश्व-मानस का निर्माण सम्भव है। यही हिन्दी की 'नयी कविता' और दुनिया के अन्य देशों की सामयिक कविता में साम्य भी पैदा करती है। किन्तु उस 'वर्जित-स्पर्श' की झलक हिन्दी की कविता और अमेरिकन या योरपीय कविता में भिन्न है। आख़िरकार, कवि दार्शनिकों की तरह केवल "ऐब्स्ट्रैक्ट" उधेड़-बुन नहीं करता। वह अपने चारों ओर के यथार्थ के स्वाद की सूचना देता चलता है। यह आस्वादन उसका पहला काम है। विश्लेषण द्वारा हम उस

आस्वादन की प्रकृति को पहचानते हैं।

आकुलि-किलात अभी मरे नहीं हैं, वे भी केवल मनु की तरह मूर्च्छित हो गये थे। और आज भी मनु-श्रद्धा का पुत्र सारस्वत-प्रदेश में निहत्था, उन असुर-पुरोहितों से घिरा खड़ा है। वह उनसे क्या कहे? जिनके 'असुरत्व' को प्रलय-प्रवाह भी नहीं मिटा पाया, जिनका सामना श्रद्धा ने किया ही नहीं, उन्हें कैसे वह देवत्व से भर दे? अज्ञेय के शब्दों में "आज के जीवन के दबाव की अभिव्यंजना का मार्ग उसे नहीं सूझता।"

लेकिन तीसरे दशक के कवि इस समानांतर द्वयता को इस अकिंचन जागरूकता के साथ नहीं देखते। यदि समानांतर रेखाओं को हम अधमुँदी आँखों से—महादेवी के चित्रों के पात्रों की तरह—देखें तो वे मिलती हुई जान पड़ेंगी। आँखें अधमुँदी ही रहें, यही सबसे बड़ी मूल्यवत्ता है। इसी के लिए तीसरा दशक, 'खुमारी और जवानी' का सहारा लेता है और बहुत गम्भीर होकर अगम्भीरता को अपनाता है।

प्रचलित शब्दावली में वह शिशु-आस्था, कि अन्तः सत्य और बाह्य सत्य एक ही है, नष्ट हो गई। इन कवियों के सामने आधारभूत अनुभव यही है कि युग की करवट के साथ अन्तर में ध्वनित होते हुए सत्य और बाहर के 'यथार्थ-मूलक' सत्य में अन्तर दिखलाई पड़ता है। इसलिए जिस एकाग्रता को आरम्भिक छायावाद जन्म के साथ प्राप्त करता है, वह उत्तरकालीन कवियों के लिए सप्रयास साग्रह स्थापित करने की वस्तु है। छायावाद के लिए जो सहज ज्ञान है, तीसरे दशक के लिए वह निचुड़ी हुई चीज़ हो गई, जिसे 'आस्था' का नाम दिया गया। संक्षेप में, जहाँ बीसवीं सदी के दूसरे दशक के सामने सीधा रास्ता था, वहाँ तीसरे दशक के सम्मुख 'क्राइसिस' थी। इन कवियों के सामने दो ही रास्ते थे : या तो वे छायावाद के मूलभूत सूत्र पर ही प्रश्न-चिह्न लगाते; या वे उस क्राइसिस को ही मानने से इन्कार कर देते। उन्होंने दूसरा रास्ता चुनना स्वीकार किया। इससे उन्हें 'बौद्धिकता' और बोझिल भावनाओं से तो एक नाटकीय ढंग से मुक्ति मिल गई, किन्तु उन्हें अनुभूति की गम्भीरता को छोड़ना पड़ा। बच्चन की रूपकोक्तियाँ, दिनकर का रिटॉरिक, भगवतीचरण वर्मा की लापरवाह दीवानगी, नवीन का वलवला, अंचल का उबाल, नरेन्द्र शर्मा का नफ़ीस ऐश्वर्य—इन सब में गम्भीरता के अभाव की छाया है। कुल मिलाकर लगता है, जैसे अँग्रेज़ी कवि लार्ड बायरन के पचासों टुकड़े कर दिये गये हों और उनमें से कुछ-कुछ टुकड़े इन तमाम कवियों की 'जवानी' में अलग-अलग जज़्ब कर दिये गये हों।

यह कहना कठिन है कि यह 'बायरानिक' आवेश आज की 'नयी कविता' में बिल्कुल ख़त्म हो गया है। बायरानिज़्म की ख़ासी छवि धर्मवीर भारती जैसे कवि में आज भी दिखलाई पड़ती है—तीसरे दशक से कुछ अधिक केन्द्रित रूप में। सिर्फ़ बायरन का प्रभुत्व-सम्पन्न स्वर न पहले के कवियों में है, न भारती में। शायद उस सीमाहीन प्रभुता का अनुभव, जो अँग्रेज़ को नैपोलियन की हार के बाद हुआ था और जो उन्नीसवीं सदी के अन्त तक क़ायम रहा, आज किसी देश को होना असम्भव है—तीसरे दशक के ग़ुलाम हिन्दुस्तान और आज के फूँक-फूँककर क़दम रखने वाले हिन्दुस्तान की तो बात ही क्या। बर्नर्ड शा ने कहीं कहा है कि चतुर और कल्पना-बहुल उद्धत मानस के साथ मिलकर जब तेज़ आलोचनात्मक मेधा हलचल पैदा करने लगती है, जैसा पुराने इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक वैज्ञानिक विचारों से हुआ तो बायरानिज़्म नाम का नतीजा निकलता है। यह उद्धत मेधावी निपुणता 'मधुशाला' और 'चित्रलेखा' दोनों की ही जान है और दोनों की व्यापक लोकप्रियता का कारण है।

तात्त्विक विरोध और व्यावहारिक समझौते की इस मिली-जुली मनोभूमि से ही छायावाद का तीसरा दौर "यथार्थ" को देखता है। समझौता हर हालत में यथार्थ से समझौता है। आदर्श-आदर्श में समझौता नहीं होता। मनोभूमि के विश्लेषण की दृष्टि से हम यों कह सकते हैं कि मनुष्य में हम कुछ ऐसा आविष्कृत करते हैं जो नैतिक और कल्पनात्मक आँच में पूर्णतः पिघल जाने से इन्कार करता है। पिसे हुए शीशे की तरह हम उसे पानी में जितना ही चक्कर दें, वह घुल कर पानी नहीं बनता। जब तक उस जल में तेज़ भँवर है, तब तक पिसे हुए शीशे और पानी में अन्तर तो दिखता नहीं, इसलिए सिर खपाने से क्या लाभ ? और अगर शीशा रंगीन है तो पानी को कुछ चमका ही देगा। पानी थिर हो जाने पर क्या होगा, इसको कौन जानता है ? मस्ती, फक्कड़पन, वलवला, उबाल, लापरवाह दीवानगी, नफ़ीस ऐश्वर्य, शहादत—और इन सबके साथ ईमानदारी का खुलापन—यह सारी भावभूमि यथार्थ और आदर्श, लघु और महत् के उस रंगीन मिश्रण से उपजती है। ज़िन्दगी एक लाल महताबी के प्रकाश की तरह है जो एक अन्धकार से दूसरे अन्धकार तक जलती है, लेकिन जब तक जलती है, क्या ही प्रकाश देती है ! हिन्दी के तीसरे दशक की कुछ बहुत ही मधुर कविताएँ इसी भावभूमि से लिखी गई हैं।

इस दौर का यथार्थ कोड़े मारता हुआ आता है। लेकिन इस मार में चोट

नहीं है, एक तरह का नशीलापन है, कसैलापन है, मिर्च का मज़ा है। इसका स्वरूप ऐसा है कि आदर्शवादी प्रवाह में सहसा नारी अनावृत्त हो जाती है, पूजन-आराधन प्राप्त करता हुआ पाषाण अट्टहास कर उठता है, जलती चिता पर बैठ कर मुर्दा गाने लगता है, भरे बाज़ार में शैतानी के साथ भैंसा-गाड़ी चलने लगती है, नगर-वेश्या मुस्कराकर योगी के माथे पर भरी राजसभा में विजय-मुकुट पहना देती है, छत पर खड़ी भीगे बालों वाली लड़की कौओं को रोटी खिलाती है और कहती है 'सब तन खाइयो...।' संक्षेप में यह यथार्थ अपनी यथार्थता की घोषणा बहुत ज़ोर से, बहुत नाटकीय ढंग से करता है कि आप चौंक पड़ें, लेकिन कहीं भी दिमाग़ पर ज़ोर नहीं डालता। जैसे दीवाल के मोड़ से गुज़रते ही कोई बच्चा आपको चौंका दे, फिर हँसने लगे। इसीलिए लगता है कि बच्चन के साथ मधुशाला में चले जाइये, सिर-फुटौवल की नौबत नहीं आयेगी; दिनकर के साथ अंगारों पर टहलिये, पैर नहीं जलेंगे; साँप के फन पर खड़े होकर बाँसुरी बजाइये, प्राण जाने का भय नहीं है; चर्र-मर्र करती ही सही, भैंसा-गाड़ी चली ही जायगी, मुहल्ले के हाइजीन को ख़तरा नहीं है; और तो और जब अंचल जी ज़ोर से दहाड़ते हैं कि 'लूटूँ किसका यौवन', तो टोन में कुछ ऐसा है जो आश्वस्त करता है कि सचमुच कोई औरत सामने आ पड़े तो ये हज़रत हरगिज़ ऐसा नहीं करेंगे और न पुलिस-केस ही बनेगा; सिर्फ़ थरथराते गले से प्रणय-निवेदन की स्थिति उत्पन्न होगी। ईमानदार मस्ती में बड़ी ताक़त है; वह हँसते-हँसते आदमी को सूली पर चढ़ा देती है, यथार्थ तो छोटी-सी किरकिरी मात्र है। इस यथार्थ का साक्षात्कार वे ही कर सकते हैं जो करना और मर जाना जानते हैं—क्यों नहीं पूछते ?

> मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ में तुम देना फेंक
> मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

विचारों के क्षेत्र में छायावाद के पहले और दूसरे दशक का वैपरीत्य सरल चिन्तन और द्वन्द्वात्मक चिन्तन का है। लेकिन हिन्दुस्तान का मानस मूलतः इन दो विरोधी तत्त्वों को घुलाकर एक करने का स्वप्न देखता है। वस्तुतः हर देश अपने-अपने ढंग से इन तत्त्वों का सामंजस्य करता है। यह सामंजस्य उसे कभी गति देता है, कभी उसे जर्जर बनाता है। समस्या वही है—कैसे इस अद्वैत और द्वैत को मिलाकर विशिष्टाद्वैत को जन्म दिया जाय। अलग-अलग सन्दर्भों में हिन्दुस्तान में कई बार इस विशिष्टाद्वैत की आवृत्ति हुई है। आज भी हमारे सामने चिन्तन की उस अगली मंज़िल का रास्ता स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। कबीरदास और उनके साथियों की तरह आज भी नयी कविता अधिक से अधिक

उस 'अज्ञात-वय-कुलशील', 'नामहीन', 'अलख', 'संख्यातीत रूपों में याद' किये हुए सत्य तक ही पहुँचती है। लेकिन दूसरा मार्ग ही क्या है ? आदमी बराबर वज्रयानियों की तरह सिर्फ़ सत्य को 'कैसे' करके तो नहीं पूछता रह सकता, कभी न कभी तो वह पूछेगा ही—क्यों ?

युग बदलने के बाद यथार्थ का लगा हुआ कोड़ा, 'त्यागपत्र' की मृणाल की तरह नशा नहीं उत्पन्न करता, बल्कि 'शेखर' की शशि की तरह छोड़ जाता है एक अमिट छाप, एक अज्ञात दुर्भाग्य से भरा हुआ दर्द और एक कभी भी उत्तरित न होने वाला 'क्यों' ?

एक बहुत व्यापक विस्तार के साथ सरल और द्वन्द्वात्मक चिन्तन के आन्तरिक संघर्ष और ऊपरी समझौते का प्रयास तीसरे दशक में हुआ। वह केवल हिन्दी कविता ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र को प्रमथित करता हुआ दीखता है। उस व्यापकता को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि उसके बग़ैर हम हिन्दुस्तान के मानस को अच्छी तरह नहीं समझ पायेंगे जिसे अभिव्यक्ति देने की कोशिश हिन्दी कविता कर रही है।

राष्ट्रीय आन्दोलन और साहित्य की अनुभूति में पहले का सरल सामंजस्य सत्याग्रह-युग के दूसरे दौर में वक्र और परोक्ष हो जाता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि 'राष्ट्रीय' कविता एक विशेष आइडियोलॉजिकल आग्रह के साथ लिखी हुई कविता हो गई जिसका रूप माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी आदि में परिलक्षित होता है। जो पहले अन्तर्ध्वनित लय थी, अब वह विषयवस्तु होती जा रही है। लेकिन एक 'पैटर्न' के अर्थ में, परोक्षतः वह लय फिर भी ध्वनित हो रही है।

अन्तर्ध्वनित सत्य के सरल चिन्तन के प्रतीक-रूप में गाँधी जी का नेतृत्व वर्तमान था, लेकिन उसके अतिरिक्त द्वन्द्वात्मक चिन्तन पर आधारित जो 'वामपक्ष' विकसित हुआ, उसका गाँधीवाद या गांधी जी से क्या रिश्ता बना ? गाँधीवादी हिस्सा बड़ा है, लेकिन शिथिल और टटोल-टटोल कर चलता दिखता है। द्वन्द्वात्मक हिस्सा छोटा है, लेकिन बहुत तेज़-तर्रार और त्रिकाल को हस्तामलकवत् देखने की घोषणा करता है। इससे निकली हुई तमाम वैचारिक बनैती-पठैती के बावजूद भी (जिसकी भरमार उस युग में क्या साहित्य, क्या अख़बार, क्या राजनीति, सभी जगह है) विचारों से कोई गम्भीर लगाव उस युग को नहीं है। दोनों विरोधी—लगभग परस्पर विनाशकारी दृष्टियाँ हैं—इतना तो स्पष्ट है। जो चीज़ इतनी स्पष्ट नहीं है, वह यह कि दोनों के साथ चलने की अनिवार्यता उससे भी गहरी है। स्थिति असामंजस्य और सामंजस्य

दोनों की है। इससे जिस विशिष्ट चित्रफलक का निर्माण होता है, वही हिन्दुस्तान की आन्तरिक लय को व्यक्त करता है। जैसा आगे के इतिहास से ज्ञात हुआ, असमन्वयशीलों के समन्वय के इस विराट् देशव्यापी प्रयास ने बड़े-बड़े भँवर पैदा किये।

वह पैटर्न कुछ इस तरह का है : 'वाम-पक्ष' के चार रंग हैं जो एक सीमान्त से उठ कर रंग बदलती हुई रेखा की तरह गाँधीवाद में घुल जाते हैं। गाँधी जी की सापेक्षता में हम इन्हें यों रख सकते हैं : जवाहरलाल नेहरू, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, सुभाषचन्द्र बोस और कम्यूनिस्ट पार्टी। यह सूची सम्पूर्ण नहीं है, क्योंकि बीच-बीच में और भी समूह हैं जो द्वन्द्वात्मक चिन्तन के और बारीक तेवर अभिव्यक्त करते हैं। ये सभी दूसरे दशक के 'अन्तर्ध्वनित सत्य' पर आधारित मूल्यों और तज्जनित राजनीति से अलग-अलग अंशों में असन्तुष्ट हैं। साथ ही कांग्रेस से, जिसका नेतृत्व अभी भी अन्तर्ध्वनित सरल चिन्तन पर आधारित है, चिपके भी रहना चाहते हैं, यहाँ तक कि कम्यूनिस्ट पार्टी भी, जिसका एक हिस्सा कांग्रेस के बाहर है। आकर्षण-विकर्षण की यह प्रक्रिया तेज़ हलचल और बौद्धिक विवाद के बीच सम्पन्न होती है। इसी तरह छायावाद का समान स्वरों वाला आरंभिक आर्केस्ट्रा उत्तरकाल में परस्पर विरोधी और टकराते हुए स्वरों वाले सहगायन में बदल जाता है। यह भी द्रष्टव्य है कि ये सारे रंग स्थिर नहीं हैं, बल्कि तेज़ी से बदलते रहते हैं—उन पर गांधीवादी घटा, अंग्रेज़ सरकार और देश की संस्कृति का सम्मिलित दबाव बराबर पड़ रहा है।

हम इस पैटर्न को घटा में खिले हुए इन्द्रधनुष की तरह देखें या मन्दगति गज पर लगे हुए अंकुश की तरह या बुझती हुई राख में उपजती नयी चिनगारी की तरह। यह इस पर निर्भर करता है कि हम देश की इस द्विविध मनोभूमि का असली केन्द्र ऊपर वर्णित चारों रंगों में से किसको मानते हैं। यशपाल के अनुसार तो इस नयी चेतना का स्वरूप शव और शवपरीक्षक डाक्टर जैसा है—किन्तु हम इसमें सन्निहित ऊपर की टकराहट और आन्तरिक समझौते की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

इस 'वाम-पक्ष' में भी हम 'जवानी' की एक ख़ास हवा की शब्दावली देखते हैं; 'लीडर्स आफ़ दि यूथ' का वाक्य अक्सर सुन पड़ता है। सुभाष बोस 'नयी चेतना' की ओर से उल्का की तरह गांधी जी से टकराये। यह टक्कर एक तरफ़ तो सुभाष की 'फ़ॉर्मल' विजय, दूसरी तरफ़ गाँधी जी की वास्तविक विजय में परिलक्षित हुई। गाँधी जी को 'शिकस्त' देने में तो देश ने उनका

साथ दिया, लेकिन उनसे अलग एक नयी पार्टी बनाने में, एक नया नेतृत्व प्रदान करने में देश उनकी मदद नहीं करता दिखता। नयी चेतना पुराने मूल्यों से तेज़ी से टकराये, लेकिन उनको स्थानान्तरित न करे, तीसरे दशक के राष्ट्रीय नाटक की ये शर्तें हैं। यह प्रत्यक्ष संघर्ष और अप्रत्यक्ष समझौते की ऊपरी लहर हैं, जो नये युग के मध्य में घटित होती है। उसकी एक आन्तरिक धारा नेहरू-गाँधी के समन्वय में है जो ऊपर से बराबर एकसाथ चलती मालूम पड़ती है। लेकिन उसकी तह में तनाव है। हमने देखा कि १९३१ में जब गाँधी ने अंग्रेज़ से समझौता किया तो पंडित नेहरू ने एक गहरी रिक्तता महसूस की और खण्डित अनुभूति के साथ गाँधी जी के निर्णय को स्वीकार कर लिया। इस समन्वय का दूसरा अन्तिम छोर वह है जब जवाहरलाल ने १९४७ में अंग्रेज़ों से समझौता किया और गाँधी ने टूटकर उस समझौते के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। 'अपराजेय संकल्प' और 'अपराजेय विवशता' के पहले समझौते ने देश की चेतना को विभाजित कर दिया, दूसरे समझौते ने देश को ही विभाजित कर दिया। गाँधी-नेहरू और गाँधी-सुभाष के इस सम्बन्ध को हम ब्लॅडप्रेशर की ऊँची-नीची दो गतियों (systolic and diastolic) की तरह देख सकते हैं। दूसरे दो तत्त्व, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी भी लहर की इसी दुहरी गति में फँसे हुए हैं। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी विचारों में घोर मार्क्सवादी है और जितनी ही वह उग्र है, उतनी ही गाँधी जी के निकट खिंचती जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी बौद्धिकतः इस तमाम राष्ट्रीय आन्दोलन की निरर्थकता के विश्वास पर खड़ी होती है, लेकिन उसमें अर्थ देखने के लिए हर हद तक बाध्य है कि कांग्रेस में सोशलिस्ट पार्टी के छोटे दरवाज़े से घुसने का प्रयत्न करती है। आज़ादी के बाद हम देखते हैं कि गाँधी जी के जीवन तक कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी मार्क्सवादी रही और कांग्रेस में शामिल रही। फिर जैसे ही सोशलिस्टों ने कांग्रेस छोड़ा, वैसे ही उनका चिन्तन गाँधीवाद के निकटतर होता जाता है—द्वन्द्वात्मक चिन्तन का स्थान सरल चिन्तन लेता जाता है। उसी तरह कम्युनिस्ट पार्टी भी धीरे-धीरे आरम्भिक 'क्रान्ति' की उग्रता को भी छोड़ देती है और क्रान्ति के हिंसात्मक मार्ग को भी। उसकी कोशिश उदारवादी अर्थ में पूर्णतः डिमोक्रैटिक समझे जाने की है।

इसके अतिरिक्त तीसरे दशक में इस संघर्ष-समझौते की अन्य गतियाँ भी हैं। सरल चिन्तन की धारा, जिसका प्रतिनिधित्व गाँधी जी करते हैं, सिद्धान्त से पूर्णतः 'भारतीय संस्कृति' की हामी है, और 'पाश्चात्य संस्कृति और मूल्यों'

के नितान्त निषेध पर खड़ी होती है—लेकिन यह धारा उस दौर में आगे बढ़कर पाश्चात्य मूल्यों की प्रतिनिधि अंग्रेज़ सरकार से समझौता करती है और संघर्ष को स्थगित कर देती है। द्वन्द्वात्मक चिन्तन, जो अंग्रेज़ सरकार से सीधी टक्कर के लिए उतावला है, 'भारतीय संस्कृति' की पुरानी कल्पना का निषेध करता है और 'आधुनिकता' के नाम पर उसका 'पाश्चात्य मूल्यों' से आन्तरिक समन्वय है।

हम देखते हैं कि देश के मानस में कोई ऐसी लय है जो बारम्बार इन तत्त्वों को एक विशाल गति से आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रिया में झिझोड़ रही है और ये तत्त्व उसी के अनुरूप ढलते जा रहे हैं, बदले जा रहे हैं। अगर तीसरे दशक के लेखक इसको 'प्रलय-प्रवाह' की तरह देखते हैं—और तात्त्विक असमन्वयशीलों का समन्वय करने की कोशिश करते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

क्या इसकी उत्पत्ति अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से होती है ? क्या इसके पीछे वर्ग-संघर्ष है ? क्या हिन्दुस्तान कुल मिलाकर इस गति में सत्य का कोई नया प्रयोग कर रहा है ? क्या राजनैतिक स्थिति ही साहित्यिक चित्रपटल को जन्म देती है ? या कोई और गहरी वस्तु है जो एकसाथ ही साहित्यिक, वैचारिक, दार्शनिक और राजनैतिक स्तरों पर व्यक्त हो रही है ?

व्यापक दृष्टि से देखने पर हमें लगता है कि वह गहरी वस्तु भी वहीं है और उसके पीछे शायद हिन्दुस्तान की चार हज़ार वर्षों की पुरानी सभ्यता और संस्कृति है। ये गतियाँ, ये संघर्ष, ये द्वन्द्व अन्यत्र भी मिल जाते हैं, उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड के रोमांटिक और विक्टोरियन काल में। लेकिन जहाँ विक्टोरियन काल इस सीमित द्वन्द्व पर बनावट का आवरण चढ़ाता है, वहाँ हिन्दुस्तान की अनुभूति में, हिन्दी साहित्य में, एक निश्छलता है जो अन्यत्र नहीं मिलती। सबके बावजूद 'साधारण मानव' में एक खुलापन है।

किसी युग का विश्लेषण करना कितना कठिन काम है, विशेषतः तब, जब कि हम उसके अत्यन्त निकट हों। यह तो इसी से स्पष्ट है कि ऊपर की रेखाओं के सहारे हमने जो मानचित्र खड़ा किया, वह उस पूरी छवि का आभास बिल्कुल नहीं देता जिसके माध्यम से यथार्थ का वह विशेष स्पर्श अभिव्यक्त हुआ। हिन्दी आलोचक का काम इससे और भी कठिन हो जाता है कि हिन्दुस्तान के इतिहासकारों ने अपना दायित्व पूरा नहीं किया है। यूरोप के आलोचकों से ईर्ष्या होती है जिनके बगल में विचारों के, घटनाओं के, संस्कृति के, परम्पराओं के, संस्थाओं के, आर्थिक परिवर्तनों के इतिहासकार सहायक ग्रन्थ लिए बराबर

मौजूद रहते हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धान और सहयोगी प्रयास के मुक़ाबले में सिर्फ़ आलोचक की ख़ाली मेज़ और 'अन्तर्दृष्टि' कहाँ तक ले जायगी ?

सरल चिन्तन और द्वन्द्वात्मक चिन्तन या सरल अनुभूति और द्वन्द्वात्मक अनुभूति का यह समन्वय, इड़ा और मनु का "वर्जित स्पर्श", कहाँ तक प्राणद है और कहाँ वह जर्जर और शिथिल बनाता है, कहाँ तक आगे बढ़ाता है और क्यों फिर संकल्प को तोड़ देता है, इसकी व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। आज के युग में ही हम उस संकल्प-शैथिल्य और राष्ट्रीय भावना की जर्जरता के एक रूप को परिलक्षित देखते हैं—लेकिन आवश्यकता उस आन्तरिक गति को भी देखने की है जिसके लिए हमने पहले कहा था : हिन्दुस्तान का मानस अन्दर ही अन्दर आँवें की तरह पकता जाता है।

तीसरे दशक ने हमारी चेतना में क्या योगदान दिया ? किसी देश के सांस्कृतिक जागरण के—कम से कम हिन्दुस्तान के पिछले सौ वर्षों के—चार चरण दिखते हैं। पहले हम प्रकाश-प्रतीकों के प्रति सचेत होते हैं फिर उन आदर्शों और विचारों के प्रति जिनमें ये प्रतीक समाहित हो जाते हैं; फिर हम सभ्यता अथवा संस्कृति की उस आन्तरिक लय (rhythm) के प्रति जागरूक होते हैं। जो उन प्रतीकों और आदर्शों को पचा लेती है; फिर यह आन्तरिक लय अभिव्यक्ति माँगती है—एक नई सृजनशीलता के साथ, नये प्रतीकों का जन्म होता है। तीसरे दशक की कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यही है कि उसने यह देखा कि सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ सिर्फ़ प्रतीकों और आदर्शों के सहारे नहीं चलतीं। उनको चलाने वाली वस्तु उनसे भी गहरी है जो उनका भी निर्माण करती है—वह है हमारे देश की आन्तरिक लय। आज की नयी कविता की मनोभूमि उस लय को बारम्बार सृजनशील अर्थ देने की कोशिश करती है। इसी दृष्टि से इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कविता के रूप को बदलती चलती है। छायावादी कलाकृति मूलतः एक विस्फोट करता हुआ कला-रूप है—जैसे केन्द्रीय अर्थ फूटकर चारों ओर क्रमशः विलीन होता हुआ बिखर रहा हो। तीसरे दशक की कलाकृति उसे विस्फोट की तरह नहीं, बल्कि एक लहर की तरह निर्मित करती है—जिस प्रयास में महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते हैं। नयी कविता उस तरंग के रूप को एक 'स्ट्रक्चर' में बदल देती है, जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।

दूसरा बड़ा योगदान, जो तीसरे दशक का था, वह था रोमांटिक मनोभूमि को मूलतः उस गहरे भँवर से निकाल ले जाने का, जहाँ से योरपीय डिकेडेंस की धाराएँ शुरू होती हैं। यह सही है कि उन्होंने इसके साथ ही निपट गम्भीरता

को छोड़ दिया। लेकिन इसमें सब हानि ही नहीं हुई, कुछ लाभ भी था। 'आलकुआ के घड़ियालों' से उनकी भेंट नहीं हुई। अपने अन्तिम रूप में रोमांटिक मनोभूमि 'अपराध-भावना' में बदल जाती है। आज योरप का मानस मूलतः रोमांटिक कवियों द्वारा दी हुई 'अपराध-भावना' से ग्रस्त है। लेकिन हिन्दी के तीसरे दशक के कवियों ने उस 'अपराध-भावना' का जन्म ही नहीं होने दिया और नयी कविता के लिए 'त्रास' की जगह 'पावनता' की ही थाती समर्पित की। समाजशास्त्री योरपीय साहित्य की अपराध-भावना को योरपीय साम्राज्य-वाद द्वारा मानवता के प्रति किये हुए 'अपराध' की अनुभूति से उत्पन्न मान सकते हैं और हिन्दुस्तानी मानस में उसके अभाव को हिन्दुस्तान की साम्राज्य-हीन निरपराधता से जोड़ सकते हैं। लेकिन इससे हम सिर्फ़ इतना ही पुष्ट कर सकेंगे कि किसी भी देश का साहित्य अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चौहद्दी से निर्मित होता है। जो समूचे देश की सीमा और विस्तार है, वही हिन्दी साहित्य की भी सीमा और विस्तार है—इसका प्रमाण तो हम बारम्बार पाते हैं। आज की नयी कविता, योरप की आधुनिक मनोभूमि से इस तथ्य में बिल्कुल भिन्न है कि उसमें वह व्यापक 'अपराध-भावना' नहीं है। यहाँ प्रधान प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर यह बात कही जा रही है।

इसके पूर्व कि हम साधारण मानव से विदा लें, एक बार हम फिर उसकी ओर लौटकर देख लें—समुद्र के किनारे खड़ा हुआ, उमड़ती हुई कर्मठ भावनाओं से हिल्लोलित। उसने बहुत गीत गाये और बहुत-सी उमंगों का निर्माण किया: छायावाद के पहले दौर की जगह उसने एक नयी अनुभूति दी :

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहाँ नव युग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुनकर
भाग्य जगती का जगेगा,
शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में—
यदि न पाया लौट मुझको
लाभ जीवन का मिलेगा;
पर पहुँच ही यदि न पाया
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा?
कर सकूँगा विश्व में
फिर भी नये पथ का प्रदर्शन!

Mosr of us, I suppose, have lost the old pagan feeling and not gained the new insight. Not for us to "have sight of Proteus rising from Sea"; or "hear old Triton blow his wreathed horn." And very few of us are fortunate enough —

"To see a world in a Grain of Sand
And a Heaven in a Wild Flower.
Holy infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour."

Not for most of us, unhappily, to sense the mysterions life of Nature, to hear her whisper close to our ears, to thrill and quiver at her touch. Those days are gone. But though we may not see the sublime in Nature as we used to, we have sought to find in the glory and tragedy of humanity, in, its mighty dreams and inner tempests, its pangs and failures, its confiicts and misery, and, over all this, its faith in a great destiny and a realisation of those dreams. That has been some recompense for us for all the heart-breaks that such a search involves, and often we have been raised above the pettiness of life. The many have not undertaken this search, and having cut themselves adrift from the ancient ways, find no road to follow in the present. They neither dream nor do they act. They have no understanding of human convulsions like the great French Revolution or the Russian Revolution. The complex, swift, and cruel eruptions of human desires, long suppressed, frighten hem. For them the Bastille has not yet fallen."

Jahabarlal Nehru—Autobiograbhy.

बच्चन जी और पंडित नेहरू, दोनों ही उस ध्वस्त होते हुए बास्तील की थरथराहट को महसूस कर रहे हैं। दोनों ही ठीक हैं। सिर्फ़ एक जगह उनकी दृष्टि ग़लती करती है। दुनिया में कोई वस्तु किसी का मुआवज़ा नहीं होती। हर वस्तु अद्वितीय है, अखण्ड अपनापे से व्याप्त है।

× × ×

समुद्र में कूदे हुए उस मनुष्य की तसवीर हम फिर देखते हैं जब शम्भूनाथ सिंह उसको कातर और हमदर्द स्वरों में उत्साहित कर रहे हैं :

तुमने मान ली क्या हार ?
परिचित छोड़ सागर तीर
लहरों के हृदय को चीर
सुनकर एक मौन पुकार
लाँघें अगम सागर नीर,
तुमने छोड़ दी पतवार
पहुँचे जब प्रलय के द्वार;
पहुँचे जब प्रलय के द्वार
तुमने मान ली क्या हार ?

और उसकी अन्तिम छवि गिरिधर गोपाल यों देखते हैं :

मत आज बाँधो स्वर्ग के मीना बज़ारों का समाँ
अंगार के दरिया उगलते अजगरों का कारवाँ
मेरे लिए तो ज़िन्दगी वह भी नहीं, यह भी नहीं,
मुझसे बहा जाता नहीं, गतिहीन रक्त अथाह में !

× × ×

जिस तरह बाढ़ के बाद उतरती गंगा
तट पर तज जाती विकृत शव अधखाया
वैसे ही तट पर तज अश्वत्थामा को
इतिहासों ने ख़ुद नया मोड़ अपनाया—धर्मवीर भारती— अन्धायुग

अज्ञेय और उनके साथियों के सामने—जो तारसप्तक में संगृहीत हुए—समस्या यह थी कि तीसरे दशक के काव्य में जो अनिवार्य अगम्भीरता थी, उससे मनोभूमि को फिर किस प्रकार गम्भीरता की ओर वापस लाया जाये। इसका एक ही उपाय था–अन्तर्ध्वनित सत्य और बाह्य सत्य के जिस अन्तर को महसूस करते हुए भी तीसरा दशक झुठलाना चाहता था, उसे पूर्णतः स्वीकार कर लिया जाय। बेकन ने 'सत्य' सम्बन्धी अपने लेख का आरम्भ अगम्भीरता के रूपांकन से यों शुरू किया है, "What is Truth, asked the jesting Pilate, and did not wait for an answer." तीसरा दशक सत्य क्या है, यह तो पूछता है, परन्तु उत्तर की प्रतीक्षा नहीं करता : 'तारसप्तक' के कवि सत्य क्या है, पूछते हैं और अत्यन्त आतुरता से प्रतीक्षा करते हैं। उत्तर की यह आतुर प्रतीक्षा ही उन्हें मंज़िल पर पहुँचे हुए राही नहीं, 'राहों का अन्वेषी' बनाती है। संक्षेप में यह कि उन्होंने क्राइसिस का सामना किया। इसका मतलब था— छायावाद के मूलभूत फ़ार्मूले पर प्रश्न-चिह्न लगाना। इसी दृष्टि से हम अज्ञेय में अभिव्यक्त हिन्दी काव्य की मनोभूमि देखेंगे—जिससे 'लघु-

मानव' का ढाँचा निर्मित होता है। क्योंकि यहाँ लघुता न तो विसर्जित होती है, न आवेग द्वारा संगृहीत होती है—बल्कि महत् उसे एक आन्तरिक आलोक द्वारा विद्ध करता है, उसकी सीमारेखाएँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं। लघु और महत् का सम्मिलन प्रतीकात्मक स्तर पर होता है। शाब्दिक रूप में हम महत् की तीन अवस्थाएँ मान लें—छायावाद में उसका रूप लघु की महानता का है, तीसरे दशक में लघु की महिमा का है और उसके बाद की कविता में लघु के 'महत्त्व' का है। यों महत्त्व की जगह पर प्रायः 'सार्थकता' शब्द का उपयोग होता है।

यहाँ भी हमें गहरे कहीं धीरे-धीरे पकता हुआ मानस दिखता है और ऊपर से तात्त्विक विपर्यय। इस दृष्टि से नयी कविता निश्चय ही उसी परम्परा से उद्भूत होती है जिसने तीसरे दशक तक की कविता का निर्माण किया। वस्तुतः नयी कविता के अलग-अलग कवि एक तरफ़ छायावाद के दार्शनिक पथ से आये, दूसरी ओर बच्चन आदि के भावनात्मक मार्ग से। इसीलिए वे सब एक-जैसे नहीं हैं। किन्तु अन्तः सत्य और बाह्य सत्य अलग-अलग हैं, इस विडम्बना की खुली स्वीकृति ही उन सबका आरम्भ-स्थल है। और यह भी कि सिर्फ़ दार्शनिक समस्या नहीं है, मूलतः अनुभूति की समस्या है। अज्ञेय ने इसको सूत्रबद्ध किया और पुरानी परम्परा से जोड़ा।

अज्ञेय का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने 'समरसता का दर्शन' के बजाय 'निर्वैयक्तिक अनुभूति' का प्रश्न पूछकर एक बार फिर दर्शन को अनुभूति में घुला देने की राह निकाली, विवेक और हृदय, संकल्प और विवशता को एक नये 'योग' से बाँधा। इसीलिए, अज्ञेय हिन्दी काव्य की धारा को मोड़ते हुए-से प्रतीत होते हैं। केवल पारिभाषिक सूत्र में कहना चाहें तो इस नयी परिभाषा को यों रख सकते हैं : "जो मैं हूँ, वह मैं नहीं हूँ, किन्तु जो मैं हूँ, वही मैं हो जाऊँ।" यूरोप के अस्तित्ववादियों से या इलियट से या व्यक्तित्ववादियों से इस परिभाषा का दार्शनिक साम्य दिख सकता है और इसीलिए कभी-कभी यूरोप के इन चिन्तकों या कृतिकारों का उल्लेख भी आता रहता है, किन्तु दिखलाया जा सकता है कि जब कि आज की यूरोपीय चेतना इस कल्पना तक 'त्रास' के माध्यम से पहुँचती है, हिन्दुस्तान (कम से कम हिन्दी की नयी कविता) की चेतना मूलतः गहरे दबी हुई प्रभासिक्त 'पावनता' के माध्यम से। यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। दो ऐतिहासिक परिस्थितियों, दो संस्कृतियों का अन्तर है। वस्तुतः आज विश्व-मानस के सामने गहरा प्रश्न यही है कि कैसे त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में बदल दिया

जाय। शायद अभी इसमें बहुत समय लगेगा। लेकिन हम तो भविष्य को, अपनी हज़ारों वर्षों की संस्कृति और ऐतिहासिक अनुभव से विवश होकर घोर अन्धकार के क्षणों में भी कालिदास की ही आँखों से देखने को बाध्य हैं जहाँ वे 'रघुवंश' को गहरे पराभव की सीमा तक ले जाकर अपने महाकाव्य का अन्त करते हैं जिसमें कोई आशा नहीं हैं, किन्तु त्रास भी नहीं है। सिर्फ़ है एक तटस्थ, निर्विकार और पावन सम्भावना—जहाँ गरम-गरम आँसुओं से अभितप्त गर्भ शीतल हो जाता है और सावन में बोये हुए मुट्ठी भर बीज को छिपाए हुए पृथ्वी की तरह रानी पुत्रोत्पत्ति की बाट देखती है।

मनुष्य की सम्भावनाएँ असीम हैं; किन्तु सार्त्र के अर्थ में या कालिदास के अर्थ में? आज का हिन्दुस्तान कालिदास का हिन्दुस्तान नहीं है। किन्तु हमारे भीतर ज़िन्दगी की जो 'कालिदासीय लय' है, उसे छोड़कर हम कहाँ जायेंगे? हमारे चाहने पर भी वह हमसे छूटेगी कैसे?

दर्शन और अनुभूति को घुलाने के लिए अज्ञेय वहीं से आरम्भ करते हैं जहाँ प्रसाद ने छोड़ा था। प्रसाद और अज्ञेय की समानता सहसा अचरज में डालती है। वही शालीनता, वही शब्दों की चौकसी, वही आभिजात्य और और वही कुछ खुला हुआ और कुछ डूबा हुआ व्यक्तित्व। बेशक दोनों के बीच दो युगों का अन्तर है, लेकिन दो ही युगों का अन्तर है। प्रेमचन्द ने एक बार प्रसाद से अपनी जीवनी के बारे में कुछ लिखने को कहा था। जवाब में प्रसाद जी ने एक कविता भेज दी। अज्ञेय भी शेखर की भूमिका में उन तमाम जीवन-सम्बन्धी घटनाओं को बताना व्यर्थ समझते हैं जिनसे साहित्यिक कृति का "विज़न" उद्भूत होता है।

लगता है, वे सारे प्रश्न, वे सारे अभिप्राय, वे सारे प्रतीक, जो कामायनी में निहित हैं, अज्ञेय के कृतिकार मानस में मँडराते रहते हैं—यद्यपि उनके अर्थ भिन्न हो जाते हैं। शायद ये प्रतीक या अभिप्राय तीसरे दशक की मनोभूमि में ही निहित हैं और प्रसाद, बच्चन और अज्ञेय को अलग-अलग ढग से प्रमथित करते हैं।

अज्ञेय की काव्य-कृति "चिन्ता" का नामकरण १६४१ में हुआ, यद्यपि उसकी कविताएँ १६३२-३६ में लिखी गईं जब वे जेल में थे। इस सन्दर्भ में 'कामायनी' के प्रथम सर्ग "चिन्ता" की याद आना स्वाभाविक है। दोनों ने एक मन:स्थिति का विश्लेषण दो छोरों से किया। दोनों ने ही आदिम प्रेमी और आदिम प्रिया का माध्यम चुना और दो विभिन्न परिणामों पर पहुँचे—क्योंकि उनका आरम्भ दो छोरों से होता है। 'शेखर' की जो प्रति मेरे पास है, उसके

कवर पर पहाड़ की चोटी पर बैठे हुए, ठुड्डी पर हाथ रखे, दृढ़ मांसपेशियों वाले एक चिन्ताग्रस्त पुरुष की तसवीर है। उसके चारों ओर गहरा नीला रात के अन्तिम पहर का-सा आकाश है जिसमें सितारे तो नहीं, लेकिन चारों ओर चिनगारियों के बबूके टिमटिमा रहे हैं। और चित्र से लगता है कि यह व्यक्ति बैठा हुआ अपने हृदय में उमड़ते हुए एक अथाह प्रलय-प्रवाह को देख रहा है। और उसके सामने है एक विराट् स्तब्धता। इसी मनुष्य के निर्माण का विज़न अज्ञेय ने उस रात्रि में देखा था जो उनकी भूमिका के अनुसार फाँसी और गुमनाम शहादत की सम्भावना लेकर उनके सामने उपस्थित हुई थी जब वे वायसराय की गाड़ी उड़ाने के अभियोग में गिरफ़्तार हुए थे।

आपको लगेगा कि यह प्रसाद के मनु और बच्चन के लहर-विमोहित मनुष्य का मिला-जुला रूप है : जैसे बच्चन के मनुष्य को लाकर सहसा मनु के उत्तुंग शिखर पर बैठा दिया गया हो। जो स्तब्धता मनु के हृदय के भीतर है, वह बाहर व्याप्त हो गई है और जो प्रलय-प्रवाह बाहर था, वह हृदय में समा गया है। सिर के ऊपर से शिला की शीतल छाँह अन्तरिक्ष में विलीन हो गयी।

अज्ञेय की समानता दुनिया भर के तमाम कवियों से खोजने की कोशिश की गयी है और अक्सर उन्हें हिन्दी के लिए 'बाहरी' आदमी समझा गया है। हिन्दी साहित्य का स्रोत जो लोग हिन्दुस्तान के बाहर, ख़ास तौर से अंग्रेज़ी में खोजने की कोशिश करते हैं, वे यदि छोटे मुँह बड़ी बात न लगे तो कहना चाहूँगा, इसी कारण करते हैं कि उनका ज्ञान अंग्रेज़ी साहित्य के बारे में बहुत थोड़ा है। दुनिया के किसी कवि से यदि अज्ञेय की निकटता दिखती है तो वह जयशंकर प्रसाद से। वे दोनों एक ही सिमिट्री की दो विपरीत दिशाएँ हैं जिसके 'बेस' में तीसरे दशक की खण्डित चेतना वाली मनोभूमि है।

'नदी के द्वीप' उपन्यास में अज्ञेय एक सुनियोजित ढाँचे में फिर अपनी आरम्भिक चिन्ता का समाधान खोजते हैं। प्रयोग का माध्यम फिर स्त्री-पुरुष हैं और एक गहरे स्तर पर कामायनी का ही रेखाचित्र उपन्यास में व्याप्त हो जाता है। श्रद्धा जैसी गौरा, इड़ा जैसी रेखा और दोनों के बीच परिक्रमा करता हुआ मनु की तरह भुवन। गौरा से आरम्भ करके रेखा को स्पर्श करता हुआ भुवन फिर गौरा तक लौट आता है। दूसरी समानताओं के विस्तार में न जाकर हम केवल उस "वर्जित स्पर्श" की समस्या की ओर देखें, जो न सिर्फ़ 'कामायनी' और 'नदी के द्वीप' के मूल में हैं, बल्कि एक तरह से तीसरे दशक की जड़-चेतन, जीव-ईश्वर, भौतिकवाद-अध्यात्म, मार्क्सवाद-गांधीवाद, भारतीय

संस्कृति-पाश्चात्य संस्कृति, हिंसा-अहिंसा, प्रेम-क्रान्ति, हृदय-बुद्धि, प्रेयसि-प्रिय, अनवरतगति-गन्तव्य, अन्तःसत्य-बाह्य सत्य, विज्ञान-नैतिकता, मांसलवासना-प्लैटोनिज़्म, यथार्थ-आदर्श, लघु-महत् आदि नाना प्रकार की द्वन्द्वात्मक शब्दावली या विचारावली के केन्द्र में है। एक रहस्यमय ढंग से "देवताओं" ने मनु-इड़ा के स्पर्श को "वर्जित" कर रखा है। जब कोई गम्भीर उद्वेलन किसी देश के पूरे मानस को प्रमथित करता है तो उसकी अभिव्यक्ति देश के छोटे से छोटे और विराट् से विराट् स्तर पर होती है। देवताओं द्वारा यह "वर्जित स्पर्श" तीसरे दशक को अनिवार्य दिखता है; कम से कम उन्माद की दशा में वह उस "वर्जित स्पर्श" की ओर खिंचा जा रहा है। उसकी घनघोर वर्जना उनके कानों को प्रताड़ित कर रही है और वह केवल आशा यही कर सकता है कि जो होगा, ठीक होगा, रुकने की शक्ति उसके पास नहीं है। आध्यात्मिक प्रतीकों में महादेवी वर्मा का काव्य उस रहस्यमय "वर्जित स्पर्श" की अत्यन्त आर्द्र और मधुर वेदना से अनुप्राणित है। छायावादियों समेत तीसरे दशक के सभी कवि उस "वर्जित स्पर्श" की वर्जना को स्वीकार करते हैं। प्रसाद के विपरीत, अज्ञेय के "वर्जित स्पर्श" में दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि मनु-इड़ा के वर्जित स्पर्श के साक्षी हैं, असुर-पुरोहित आकुलि-किलात जो जड़ता से आरोपित चेतनता के प्रतीक हैं और भुवन-रेखा के साक्षी है 'अन्तरिक्ष के देवतागण और अकिंचन वनस्पतियाँ', जो चेतना से आरोपित जड़-प्रकृति के प्रतीक हैं। अज्ञेय उस "वर्जित स्पर्श" को दो हिस्सों में बाँट देते हैं—उसकी आधी अनुभूति फ़ुलफ़िलमेंट, अखण्ड पूर्णता की है और दूसरी आधी में नवीन सृष्टि के उपजने की असमर्थता है। द्वन्द्वों का स्पर्श किस सीमा तक अभिप्राय, अर्थ अथवा देवताओं के आशीर्वाद से अभिसिंचित होता है और कहाँ से और क्यों फिर वह अभिशप्त और असमर्थ हो जाता है? संकल्प और विवशता सचेत उद्देश्य और प्राकृतिक गति, भौतिकता और अध्यात्म, जड़ और चेतन, कहाँ मिलकर अर्थ दे पाते हैं? कौन उन्हें अर्थ देता है? कैसे? देवताओं का क्यों ऐसा अभिशाप है कि मनु और इड़ा की अपनी सन्तान नहीं होगी? क्या इड़ा के लिए केवल दत्तक पुत्र ही लिखा है? मनु का उत्तराधिकारी कौन और क्यों कर होगा?

उत्तराधिकार के प्रश्न पर हिन्दुस्तान का मानस 'महाभारत' और 'रामायण' काल से लेकर आज तक प्रमथित होता आया है। साहित्य में इसके बहुत उदाहरण हैं। 'धर्म' और 'स्वभाव' के बीच का यह द्वन्द्व भारतीय मानस के किन गहरे अभिप्रायों और संघर्षों की सूचना देता है, शायद इसका अनुसन्धान

संस्कृति-पाश्चात्य संस्कृति, हिंसा-अहिंसा, प्रेम-क्रान्ति, हृदय-बुद्धि, प्रेयसि-प्रिय, अनवरतगति-गन्तव्य, अन्तःसत्य-बाह्य सत्य, विज्ञान-नैतिकता, मांसलवासना-प्लैटोनिज़्म, यथार्थ-आदर्श, लघु-महत् आदि नाना प्रकार की द्वन्द्वात्मक शब्दावली या विचारावली के केन्द्र में है। एक रहस्यमय ढंग से "देवताओं" ने मनु-इड़ा के स्पर्श को "वर्जित" कर रखा है। जब कोई गम्भीर उद्वेलन किसी देश के पूरे मानस को प्रमथित करता है तो उसकी अभिव्यक्ति देश के छोटे से छोटे और विराट् से विराट् स्तर पर होती है। देवताओं द्वारा यह "वर्जित स्पर्श" तीसरे दशक को अनिवार्य दिखता है; कम से कम उन्माद की दशा में वह उस "वर्जित स्पर्श" की ओर खिंचा जा रहा है। उसकी घनघोर वर्जना उनके कानों को प्रताड़ित कर रही है और वह केवल आशा यही कर सकता है कि जो होगा, ठीक होगा, रुकने की शक्ति उसके पास नहीं है। आध्यात्मिक प्रतीकों में महादेवी वर्मा का काव्य उस रहस्यमय "वर्जित स्पर्श" की अत्यन्त आर्द्र और मधुर वेदना से अनुप्राणित है। छायावादियों समेत तीसरे दशक के सभी कवि उस "वर्जित स्पर्श" की वर्जना को स्वीकार करते हैं। प्रसाद के विपरीत, अज्ञेय के "वर्जित स्पर्श" में दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि मनु-इड़ा के वर्जित स्पर्श के साक्षी हैं, असुर-पुरोहित आकुलि-किलात जो जड़ता से आरोपित चेतनता के प्रतीक हैं और भुवन-रेखा के साक्षी है 'अन्तरिक्ष के देवतागण और अकिंचन वनस्पतियाँ', जो चेतना से आरोपित जड़-प्रकृति के प्रतीक हैं। अज्ञेय उस "वर्जित स्पर्श" को दो हिस्सों में बाँट देते हैं—उसकी आधी अनुभूति फ़ुलफ़िलमेंट, अखण्ड पूर्णता की है और दूसरी आधी में नवीन सृष्टि के उपजने की असमर्थता है। द्वन्द्वों का स्पर्श किस सीमा तक अभिप्राय, अर्थ अथवा देवताओं के आशीर्वाद से अभिसिंचित होता है और कहाँ से और क्यों फिर वह अभिशप्त और असमर्थ हो जाता है? संकल्प और विवशता सचेत उद्देश्य और प्राकृतिक गति, भौतिकता और अध्यात्म, जड़ और चेतन, कहाँ मिलकर अर्थ दे पाते हैं? कौन उन्हें अर्थ देता है? कैसे? देवताओं का क्यों ऐसा अभिशाप है कि मनु और इड़ा की अपनी सन्तान नहीं होगी? क्या इड़ा के लिए केवल दत्तक पुत्र ही लिखा है? मनु का उत्तराधिकारी कौन और क्यों कर होगा?

उत्तराधिकार के प्रश्न पर हिन्दुस्तान का मानस 'महाभारत' और 'रामायण' काल से लेकर आज तक प्रमथित होता आया है। साहित्य में इसके बहुत उदाहरण हैं। 'धर्म' और 'स्वभाव' के बीच का यह द्वन्द्व भारतीय मानस के किन गहरे अभिप्रायों और संघर्षों की सूचना देता है, शायद इसका अनुसन्धान

हमें अपने को समझने में मदद करे। प्रश्न की यह दिशा सम्प्रति हमारे वश के बाहर है।

हम देखते हैं, प्राकृतिक गति, मानवीय संकल्प, वर्जित स्पर्श और अनुभूति की अर्थवत्ता आदि के सन्दर्भ में अज्ञेय मनुष्य की एक ऐसी तसवीर प्रस्तुत करते हैं जो प्रसाद के पैटर्न के निकट होती हुई भी बहुत भिन्न है। अनुभूति और दर्शन के सम्बन्ध का अनुसन्धान अज्ञेय का भी उद्देश्य है, लेकिन इसके लिए वे प्रसाद के रास्ते को बिल्कुल उलट देते हैं और एक नयी राह निकालते हैं। यह उलटना बच्चन से भिन्न ढंग का है। यदि हम हीगेलवादी शब्दावली का उपयोग करें तो यों कह सकते हैं कि छायावाद और बच्चन आदि के मानवीय रूपों की थीसिस, ऐन्टीथिसिस की सिन्थिसिस अज्ञेय की चेतना में प्रकट हो रही है। यों वैपरीत्य भी एक प्रकार का साधर्म्य है, श्रेष्ठ कल्पना हिन्दुस्तान में भी मिल जायगी।

प्रसाद और अज्ञेय का लगभग पूर्ण वैपरीत्य-साधर्म्य एक उद्धरण से और स्पष्ट हो जायगा। 'कामायनी' की भूमिका में प्रसाद जी लिखते हैं :

"आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथिक्रम-मात्र से सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति! हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं, किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।"

अज्ञेय भी सत्य और तथ्य के बीच जो अन्तर है, उसी से आरम्भ करते हैं, यद्यपि दूसरे छोर से : 'आज हम घटना (तथ्य) का अर्थ सत्य कर लेते हैं।' दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है अनुभूति। लेकिन यह 'भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा' नहीं है—रूप के भाव-ग्रहण की चेष्टा है; दूसरे शब्दों में 'तथ्य' का सहसा अर्थ से 'आलोकित' हो जाना है। जाने हुए का 'पहचाना' हुआ तो जाना है। यह आलोकित सत्य 'नदी के द्वीप' की तरह चमक कर विलीन हो जाता है। चिरन्तन प्रतिष्ठित तो तथ्य ही रहता है, सत्य नहीं। प्रसाद जी की दृष्टि में तथ्य एक विलीन होता हुआ 'नदी का द्वीप' है, चिरन्त प्रवाह तो सत्य का ही है। इसीलिए प्रसाद जी कामायनी में भावों को रूप देकर एलेगरी की सृष्टि करते हैं और अज्ञेय अपने काव्य में रूपों को—अथवा तथ्यों को—प्रथम

मानकर केवल उन्हें उन क्षणों में ग्रहण करने की कोशिश करते हैं जब वे अपने आन्तरिक तनाव के कारण आलोकित हो जाते हैं।

वस्तुतः सत्य, जिसे हम 'अनुभूत सत्य' कहकर अर्थ देते हैं, किसी चिरन्तन प्रवाह-कोष से 'अवतार' लेता है, या चिरन्तन जड़ प्रकृति से ही ऊपर की ओर फूटता है, इस दार्शनिक बहस में पड़े बग़ैर हम इतना ध्यान में रख लें कि 'अनुभूति' शब्द समान होने पर भी उसका अर्थ भिन्न हो गया और उसी के साथ कविता का मूल धर्म क्या है, इसकी परिभाषा भी। दोनों के अन्तर को इलियट की उक्ति values as held और values as felt के अन्तर से स्पष्ट कर सकते हैं। प्रसाद जी का सत्य एक दार्शनिक सत्य है जो 'मान्य' अथवा 'आस्था-सम्मत' मूल्यों की तरह हमारे मानस में सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहता है। अज्ञेय का सत्य 'साक्षात्कार' का एक क्षण है, एक द्वीप है जिसे हम अपने भीतर के जड़ और चेतन के संकल्पित संयोग से अनुभूत करते हैं। इस प्रकार 'कामायनी' में जो अनुभूति दर्शन में परिवर्तित हो जाती है, उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति में परिवर्तित करते हैं। कविता-सम्बन्धी हमारी धारणाओं में इससे गहन परिवर्तन हो जाता है, विशेषतः अनुभूति की सार्वजनीनता को लेकर। यह सार्वजनीनता अपनी 'अनुभूति' के प्रति कृतिकार की तटस्थता अथवा 'निर्वैयक्तिकता' से उत्पन्न होती है—इसलिए नहीं कि हमारे बीच के 'मान्य सत्य' या 'आस्थाएँ' चिरन्तन एवं समान हैं, बल्कि इसलिए कि जिस चिरन्तन 'तथ्य' के दबाव में हम रह रहे हैं, वह तथ्य समान है। कवि और पाठक के बीच की जोड़ने वाली कड़ी 'आस्था' नहीं, 'यथार्थ' है।

अज्ञेय प्रसाद को कवि नहीं मानते, या केवल विश्वविद्यालयों का कवि मानते हैं। मुझे इस पर सदा आश्चर्य हुआ है, यद्यपि इसका कारण मैं समझ सकता हूँ। शायद उनकी निगाह वैपरीत्य पर अधिक पड़ती है, साधर्म्य पर कम। उससे अधिक आश्चर्य प्रसाद के कुछ कठिन प्रशंसकों पर हुआ है जो प्रसाद की परम्परा की अभिलाषा तो रखते हैं, लेकिन उस परम्परा को तीसरे दशक की मनोभूमि में फलित होता हुआ देखते हैं। बेशक परम्परा का अर्थ हम केवल पुनरावृत्ति लें, तो बात दूसरी है। लेकिन यदि परम्परा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है, तो अज्ञेय, आगे के इतिहासकार को, प्रसाद की 'परम्परा' में ही दिखलाई पड़ेंगे। केवल पुनरावृत्ति पर आधारित 'कृष्ण-काव्य की परम्परा', 'रहस्यवाद की परम्परा', 'रीति-काव्य की परम्परा' आदि संकुचित और भ्रामक प्रयोगों से 'परम्परा' का कुछ ऐसा रूढ़िगत अर्थ हमारे मन में बैठ गया है कि विकासमान या द्वन्द्वात्मक अर्थ में हम परम्परा की कल्पना ही नहीं कर पाते।